PAGES MISSING WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186269

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81/G89H Accession No. H 315

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below

हिन्दी काव्य में शृङ्गार-परम्परा
और
महाकवि बिहारी

भूमिका-लेखक

डा० इन्द्रनाथ मदान एम० ए०, पी० एच० डी

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी

लेखक

डा० गणपतिचन्द्र गुप्त एम० ए०, पी० एच० डी०, साहित्य रत्न

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

दयानन्द (पोस्ट ग्रेजुएट) कालेज, हिसार

विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल रोड, आगरा।

प्रकाशक
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा ।

प्रथम संस्करण
अक्टूबर १९५९
मूल्य १०)

Checked 1963

मुद्रक
गुलाबसिंह यादव
आगरा फाइन आर्ट प्रेस,
अहीर पाड़ा, आगरा ।

"अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्, मूकास्वादनवत्"

—महर्षि नारद

"The history of love, if it were ever written (and doubtless some learned German has written it in several volumes), would be like the current histories of art—'a record of succeeding styles' and 'schools' of influences 'revolutions' technical discoveries.

—Aldous Huxley

गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजारु।
बहै सदा पसु नरनु कौं, प्रेम-पयोधि पगारु॥

—बिहारी

समर्पित

उन समस्त विद्वानों को जो पौर्वात्य और पाश्चात्य
काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-दर्शन एवं मनोविज्ञान के
सुदृढ़ सिद्धान्तों के उचित समन्वय
द्वारा हिन्दी में एक प्रौढ़
समीक्षा-पद्धति के निर्माण
व विकास में
संलग्न
हैं।

प्रमाण-पत्र

(प्रस्तुत प्रबन्ध के परीक्षकों—डा० धीरेन्द्र वर्मा एवं डा० नगेन्द्र के मन्तव्यों के आधार पर पंजाब-विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त विशेष प्रमाण-पत्र का हिन्दी रूपान्तर)

"डॉ० गणपत लाल[1] गुप्त एम० ए० पी० एच० डी० को "हिन्दी काव्य में शृङ्गार-परम्परा और महाकवि बिहारी" विषयक शोध-प्रबन्ध के आधार पर पंजाब-विश्वविद्यालय के द्वारा पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। उनका शोध-प्रबन्ध चार खण्डों में विभक्त है। लेखक ने प्रथम-खंड में शृङ्गार-रस का सैद्धान्तिक विवेचन, द्वितीय खंड में भारतीय शृङ्गार-परम्परा के विकास की व्याख्या, तृतीय खण्ड में हिन्दी काव्य में शृङ्गार वर्णन और चतुर्थ खण्ड में बिहारी के शृङ्गार-निरूपण का विश्लेषण किया है। संस्कृत व हिन्दी काव्य में निरूपित शृङ्गार-रस के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्वरूप की विवेचना अत्यन्त विस्तार पूर्वक की गई है। तथा बिहारी-काव्य की समीक्षा प्रबन्ध के एक भाग में ही की गई है यद्यपि प्रस्तुत विषय पर पर्याप्त सामग्री पहले से ही विद्यमान है किन्तु लेखक ने सारी सामग्री की विवेचना अत्यन्त स्पष्टता पूर्वक करने में सफलता प्राप्त की है। उसने अनेक स्थानों पर प्रचलित सिद्धान्तों और मान्यताओं का खण्डन निर्भीकतापूर्वक करते हुए अपने मत की स्थापना पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ निजी तर्कों के आधार पर की है। अपने विषय के सम्बन्ध में लेखक का ज्ञान प्रौढ़ है तथा उसके विषय-प्रतिपादन से साहित्य सम्बन्धी उदात्त समस्याओं में लेखक की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। शोध-प्रबन्ध उत्कृष्ट साहित्यिक शैली में लिखित है तथा इसका प्रस्तुतीकरण भाषा और विचार दोनों की दृष्टि से वैभवपूर्ण है।"

१—लेखक का मूल नाम 'गणपत लाल' है जबकि वे साहित्यिक रचनाओं में 'गणपतिचन्द्र गुप्त' नाम का प्रयोग करते हैं।

आमुख

डॉ० गणपति चन्द्र को प्रस्तुत प्रबन्ध पर पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है। इसका मूल उद्देश्य शृङ्गार परम्परा के सन्दर्भ में बिहारी के काव्य का मूल्यांकन करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रबन्ध को चार भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में रस-सिद्धान्त और शृङ्गार-रस का विश्लेषण किया गया है। समीक्षा के क्षेत्र में रस-सिद्धान्त को मानदण्ड के रूप में स्वीकार करना कहाँ तक मान्य है—इस प्रश्न पर लेखक ने विभिन्न दृष्टियों से विचार कर अपने मत को प्रकट किया है। डॉ० राकेश गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध 'रस-सिद्धान्त का मनोविज्ञान के आधार पर अध्ययन" में रस-सिद्धान्त को मनोविज्ञान के प्रतिकूल सिद्ध करते हुए जिन युक्तियों का आश्रय लिया था उनका निराकरण डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने किया है। डॉ० राकेश गुप्त जहाँ 'इमोशन' और 'सेन्टीमेन्ट' को एक मानते हैं वहाँ डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त 'इमोशन' को संचारीभाव के रूप में और 'सेन्टीमेन्ट' को स्थाई भाव के रूप में दो विभिन्न तत्त्व स्वीकार करते हैं। इनकी धारणा है कि संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए जिन तथ्यों की ओर निर्देश किया है उन्हें आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डित भी स्वीकार करते हैं। प्रबन्ध-लेखक ने रसानुभूति और पाश्चात्य कलावाद के गहरे अन्तर पर भी प्रकाश डाला है और रस सिद्धान्त की न्यूनताओं का उल्लेख भी स्पष्ट रूप में किया है। उनका मत है कि इन न्यूनताओं के निराकरण से रस सिद्धान्त एक व्यापक मानदण्ड बनने की क्षमता रखता है।

शृङ्गार रस की सम्पन्न परम्परा का सम्यक् विश्लेषण करते हुए लेखक ने शृङ्गार को तीन तत्त्वों से सम्मिश्रित माना है—(१) काम, (२) सौन्दर्य और (३) प्रेम। इनके आधार पर शृङ्गार की तीन कोटियाँ—कामुकता, रसिकता और प्रणय निश्चित की गई हैं। काम, सौन्दर्य और प्रेम का विस्तृत प्रतिपादन करते हुए भारतीय कामशास्त्र, पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र और मनोविज्ञान को आधार बनाया गया है। उनका खण्डन एवं मण्डन लेखक ने अपनी धारणाओं के आधार पर किया है जिन से सहमत होना आवश्यक

नहीं जान पड़ता। इसका यह अर्थ नहीं है कि लेखक के निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उनका महत्त्व शृङ्गार-रस के विवेचन में नवीन विचारों की उद्भावना में सन्निहित है।

प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में वैदिक युग से लेकर बारहवीं शती तक के भारतीय समाज और साहित्य की विभिन्न शृङ्गार सम्बन्धी प्रवृत्तियों के विकास एवं स्वरूप की व्याख्या की गई है। इस प्रकार इस खण्ड में भारतीय दाम्पत्य जीवन का एक क्रमबद्ध एवं संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश की प्रमुख शृङ्गारी रचनाओं का उल्लेख करते हुए लेखक ने अपने मन्तव्यों को प्रकट किया है। मुझे इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई है कि शोधकर्ता ने अपने उत्तरदायित्व को परम्परागत मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह लगा कर निभाया है।

तृतीय खण्ड में अठारहवीं शती तक की प्रमुख काव्य-धाराओं में व्यंजित शृंगार रस का मूल्यांकन करते हुए प्रचलित धारणाओं पर अपने मतों को साहस एवं संयम के साथ विद्वानों के सम्मुख रखा है। इसका परिचय नवीन काल-विभाजन, मैथिली गीत-परम्परा तथा राजस्थानी काव्य-परम्परा में उपलब्ध होता है। जहाँ तक 'बिहारी सतसई' का सम्बन्ध है, उसके सौन्दर्य एवं प्रेम परक अंग-प्रत्यंग का विश्लेषण लेखक को अभीष्ट है। बिहारी के मूल्यांकन में अतिवादों से बचकर उनके महत्व को निर्धारित किया गया है। इसी कारण विरह-वर्णन में बिहारी को देव घनानन्द आदि से हीन समझा गया है। उन तत्त्वों की भी समीक्षा की गई है जो बिहारी-काव्य की रसानुभूति में बाधक सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार प्रबन्ध के चौथे एवं अन्तिम खण्ड में बिहारी-काव्य का मूल्यांकन विस्तृत एवं मौलिक रूप में हुआ है। बिहारी-काव्य का शृङ्गार काव्य के रूप में विश्लेषण लेखक की मौलिकता का परिचायक है। प्रबन्ध की लेखन-शैली नये विचारों को प्रोत्साहन देने वाली है। मैं सदैव अपने छात्रों को इस बात के लिए तैयार करता रहता हूँ कि वे किसी मत अथवा विचार को अपनी कसौटी पर बिना परखे स्वीकार न करें, चाहे वे थोड़े समय के लिये पथभ्रष्ट ही क्यों न हो जाएँ। अनुसन्धान का यही अथ एवं इति है। इसका सफल परिणाम प्रस्तुत प्रबन्ध में लक्षित हो जाता है।

अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय

इन्द्रनाथ मदान
१ सितम्बर, १९५९

प्राक्कथन

लगभग आठ वर्ष पूर्व "साहित्यरत्न" के विद्यार्थी के रूप में बिहारी के सम्बन्ध में विभिन्न विरोधी मतों को प्रतिपादित करने वाली पुस्तकों को पढ़ कर मेरे हृदय में बिहारी का एक निष्पक्ष अध्ययन प्रस्तुत करने की आकांक्षा प्रस्फुटित हुई थी। एम० ए० करने के अनन्तर इसी आकांक्षा-पूर्ति के प्रश्न को लेकर श्रद्धेय गुरुवर डा० इन्द्रनाथ मदान के श्री चरणों में उपस्थित हुआ। डा० मदान कवियों के व्यक्तिगत अध्ययन की अपेक्षा परम्पराओं और समस्याओं के अध्ययन को अधिक महत्व देते हैं, अतः उनके परामर्श से मैं "हिन्दी काव्य में शृङ्गार परम्परा और महाकवि बिहारी" के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ तथा लगभग चार वर्ष के परिश्रम से इसे अन्तिम रूप देने में सफल हो सका। इसी वर्ष यह पंजाब यूनिवर्सिटी द्वार पी० एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है।

प्रस्तुत अध्ययन को मुख्यतः चार खण्डों में विभाजित किया गया है :-

(१) रस-सिद्धान्त और शृङ्गार-रस का सैद्धान्तिक अध्ययन।

(२) भारतीय शृङ्गार परम्परा की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास का अध्ययन।

(३) हिन्दी साहित्य में चित्रित शृङ्गार रस का अध्ययन।

(४) बिहारी के शृङ्गारी रूप का अध्ययन।

इन खण्डों में से अन्तिम दो का तो विषय से सीधा सम्बन्ध है ही, शेष दो भी मूल विषय की सैद्धान्तिक और आधार भूमि का निर्माण करते हैं, अतः ये भी मूल विषय से असम्बन्धित नहीं कहे जा सकते।

यद्यपि प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक मनोविज्ञान जैसे किसी स्वतन्त्र विषय का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु यह एक तथ्य है कि रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने भावों के स्वरूप, अंगों, व भेदों का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण किया है, वह आधुनिक मनोविज्ञान के भाव सम्बन्धी विवेचन से बहुत अधिक प्रौढ़ है। भारतीय आचार्यों ने संचारीभाव और स्थाई भाव के जो लक्षण बताये हैं, वे ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक क्रमशः इमोशन (Emotions) और सेंटीमेंट (Sentiment) के बताते हैं। इमोशन और

सेंटीमेन्ट का अन्तर स्पष्ट करने का श्रेय बीसवीं शताब्दी के मनोवैज्ञानिक श्री शैण्ड (Shand) महोदय को दिया जाता है जब कि यही कार्य रस-सिद्धान्त के आचार्य आज से शताब्दियों पूर्व कर चुके थे। प्रत्येक भावना (Sentiment) के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्री आर० एस० वुडवर्थ ने चार तत्त्व—(१) भाव (२) भाव को प्रेरित करने वाला व्यक्ति या पदार्थ (३) शारीरिक अंग-प्रत्यंगों की अवस्था और (४) बाह्य परिस्थितियाँ जो भाव का उद्दीपन करती हैं—निर्धारित किये हैं जो क्रमशः संचारी भाव, विभाव, अनुभाव और उद्दीपन से अभिन्न हैं। अनुभाव भाव की प्रतिक्रिया है या अनुभाव की, इस समस्या को भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक गहरे वाद-विवाद एवं ऊहापोह के अनन्तर सुलझा पाये हैं। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के जेम्स और लैंग जैसे विद्वानों की विचित्र धारणा थी कि अनुभाव भाव की नहीं अपितु भाव अनुभाव की प्रतिक्रिया है। आधुनिक मनोविश्लेषण के क्षेत्र में फ्रायड की जिस विचार धारा की बहुत अधिक चर्चा की जाती है वह भी भोजराज के शृङ्गार सम्बन्धी विचारों का नया संस्करण मात्र प्रतीत होती है। भोज और फ्राइड दोनों ही हमारी सब भावनाओं का मूल काम-प्रवृत्ति में मानते हुए मनुष्य के अहं को मानव चेतना में सर्वोपरि स्थान देते हैं किन्तु यह एक खेद का विषय है कि डा० राकेश गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध—"मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस-सिद्धान्त का अध्ययन" में रस-सिद्धान्त को मनोविज्ञान के सर्वथा प्रतिकूल एवं उसे दोष-पूर्ण सिद्ध करते हुए उस पर अनेक आक्षेप प्रस्तुतत किए हैं। हम अपने अनुसंधान से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये आक्षेप अनेक भ्रान्तियों पर आधारित हैं। जैसे कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक इमोशन और सेंटीमेन्ट में बहुत बड़ा अन्तर मानते हैं किन्तु उक्त विद्वान् ने दोनों को एक ही समझ लिया है। अनुभाव भाव-जनित शारीरिक चेष्टाओं को कहते हैं किन्तु उन्होंने उसे दूसरे अर्थ में ग्रहण किया है। अस्तु, प्रस्तुत प्रबन्ध में उनकी इस प्रकार की भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए उनके आक्षेपों की आधारहीनता पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है। दार्शनिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से भी रस-सिद्धान्त के गुण-दोषों की परीक्षा की गई है।

शृङ्गार-रस के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अनेक अस्पष्ट धारणाएँ मिलती हैं। कुछ विद्वान् उसे कोरी काम-वासना का पर्याय मानते हैं तो कुछ उसे इतना व्यापक रूप प्रदान करते हैं, जिससे उसके क्षेत्र में स्नेह, वात्सल्य और भक्तिभाव का भी प्रवेश हो जाता है। अतः हमने आदि आचार्य भरतमुनि

से लेकर १६ वीं शताब्दी के पण्डितराज जगन्नाथ तक के आचार्यों के विवेचन के आधार पर शृङ्गार रस के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसके तीन तत्त्व निर्धारित किये हैं :—(१) काम (२) सौन्दर्य और (३) प्रेम। स्नेह वात्सल्य और भक्ति के लिए प्रथम दो तत्त्व अपेक्षित नहीं हैं, अतः ये शृङ्गार के अन्तर्गत नहीं लिये जा सकते। इन तीनों तत्त्वों का भी तीन अलग अध्यायों में क्रमशः प्राचीन काम-शास्त्र, पाश्चात्य एवं पूर्वी सौन्दर्य शास्त्र एवं आधुनिक मनोविज्ञान का आधार ग्रहण करते हुए मौलिक दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है। सौन्दर्य तत्व की विवेचना में सुकरात और प्लेटो से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के पाश्चात्य विद्वानों की अनेक भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए अनेक मौलिक तथ्यों का उद्घाटन किया गया है। अधिकांश पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्री स्थूल सौन्दर्य और काव्यगत सौन्दर्य का अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाये। इसी से उनके निष्कर्ष ऊहात्मक एवं अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं। प्रेम तत्व की विवेचना करते समय भी विभिन्न कवियों, दार्शनिकों, मनोविज्ञान विशारदों एवं समाज-शास्त्रीय विचारकों की मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए कुछ मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये गए हैं। रुचि-भेद के कारण विभिन्न कवियों के शृङ्गार-निरूपण में इनमें से किसी एक तत्त्व को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है। जिसके आधार पर हमने शृङ्गार रस की तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं—(क) कामुकता (ख) रसिकता और (ग) प्रणय। इन तीनों से सम्बन्धित नायक को क्रमशः कामुक, रसिक और प्रेमी कह सकते हैं। इन तीनों में सूक्ष्म अन्तर है कामुक के लिए आलम्बन का युवा होना मात्र पर्याप्त है वहाँ रसिक उसका सुन्दर होना भी आवश्यक समझता है। रसिक और प्रेमी में यह है अन्तर है कि जहाँ रसिक अनेक सुन्दरियों की ओर आकर्षित हो सकता है वहाँ प्रेमी किसी एक की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर आलम्बन-क्षेत्र की संकीर्णता के अनुसार शृङ्गार के स्वरूप में उत्कृष्टता, स्वच्छता एवं गम्भीरता आती जाती है। शृङ्गार के क्षेत्र में रस-दशा का विकास प्रणय-कोटि के चित्रण से ही हो सकता है, कामुकता और रसिकता से नहीं। इसी प्रकार का वर्गीकरण भरतमुनि ने भी 'नाट्य-शास्त्र' के बीसवें अध्याय में किया था, जिसे यहाँ संशोधित रूप में प्रस्तुत किया गया है। अनेक विद्वान् शृङ्गार रस के दो भेद—संयोग और वियोग करते हैं, वस्तुतः ये उसके दो भेद न होकर उसकी दो अवस्थाएँ हैं।

देश और काल की सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार शृङ्गार रस की प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन और विकास होता रहता है। आदि युग में जब

कि विवाह प्रथा का प्रचलन नहीं हुआ था, तो स्त्री और पुरुष अपनी प्राकृतिक वासनाओं से प्रेरित होकर या किसी अस्थायी समझौते के आधार पर शारीरिक सम्बन्ध में प्रवृत्त होते थे, जिसका प्रमाण ऋग्वेद के यम-यमी संवाद एवं पुरुरवा उर्वशी सम्वाद में मिलता है। इसे हमने 'स्वतन्त्र शृङ्गार' कहा है। आगे चलकर रामायण, महाभारत, परवर्ती संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के साहित्य में शृङ्गार की विभिन्न प्रवृत्तियों का क्रमिक विकास मिलता है। हमने इन प्रवृत्तियों के विकास के कारणों एवं उनके साहित्यिक महत्व को स्पष्ट करते हुए शृङ्गार-रस की आठ प्रवृत्तियाँ या उसके आठ स्वरूप निश्चित् किये है, जो आगे चलकर हिन्दी काव्य में भी उपलब्ध होते हैं। हिन्दी काव्य में विकसित अनेक प्रवृत्तियों का पूर्ववर्ती शृङ्गारी साहित्य से सीधा सम्बन्ध है अतः पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन किये बिना इन्हें समझना कठिन है। इसीलिये इस प्रबन्ध में वैदिक, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की प्रमुख शृङ्गारी रचनाओं की विवेचना विस्तार से की गई है।

हिन्दी के आदि काल से लेकर रीतिकाल तक के काव्य को मुख्यतः इन काव्य-परम्पराओं में वर्गीकृत किया गया है :—

(१) मैथिली गीति परम्परा,
(२) रासो काव्य-परम्परा,
(३) प्रेमाख्यान काव्य परम्परा,
(४) सन्त-काव्य-परम्परा,
(५) कृष्ण-भक्ति-काव्य परम्परा,
(६) राम-काव्य-परम्परा,
(७) रीतिवद्ध काव्य-परम्परा,
(८) रीतियुक्त काव्य-परम्परा,

इन्हें भी दो वर्गों में विभाजित कर लिया गया है :—(१) शृङ्गार-प्रधान। (२) जिनमें शृङ्गार को गौण स्थान प्राप्त है। इनमें से दूसरी, चौथी और छठी को छोड़कर शेष को प्रथम वर्ग में स्थान मिला है। शृङ्गार-प्रधान काव्य-परम्पराओं को प्राथमिकता देते हुए उनका विवेचन अधिक विस्तार से किया गया है। इन काव्य-परम्पराओं में चित्रित शृङ्गार के मूल प्रेरक तत्वों, उसे प्रभावित करने वाली परिस्थितियों, उससे सम्बन्धित भावनाओं एवं उनके स्वरूप का विश्लेषण करने पर अनेक मौलिक निष्कर्ष उपलब्ध हुए हैं जिनसे विभिन्न प्रचलित धारणाओं एवं मान्यताओं का खंडन होता है, जैसे प्रेमाख्यान रचयिता कवियों को सूफीमत से सम्बन्धित किया

जाता है, उनके काव्य-रूपकों को अलौकिक प्रेम का व्यंजक बनाया जाता है तथा उनकी प्रेम-पद्धति को अभारतीय कहा जाता है। वस्तुतः ये तीनों ही मत नितान्त भ्रामक हैं जिनके विरोध में अनेक ठोस प्रमाण हमें उपलब्ध हुए हैं। इसी प्रकार कबीर के प्रेमतत्त्व का भी सूफीमत से सम्बन्ध बताया जाता है, जो उचित नहीं। सूफी परमात्मा को प्रेयसी मानते हैं जब कि कबीर उसे अपना पति मानते हैं, सूफी आत्मा और परमात्मा की समानता स्वीकार करते हैं जब कि कबीर 'घण मैली पीव उजला' की बात कहते हैं। वस्तुतः उनका प्रेम तत्व वैष्णव भक्ति-भावना से पोषित है, जिसके अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये गए हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य परम्परा पर विचार करते हुए अनेक मौलिक समस्याओं का समाधान किया गया है जैसे भक्ति में शृङ्गार का प्रवेश किस प्रकार हुआ ? भक्ति और शृङ्गार का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सम्बन्ध ? कृष्ण-भक्ति में अश्लील शृङ्गारिकता के उन्मेष के कारण ? आदि आदि। रीति-काव्य-परम्परा के अन्तर्गत 'रीति' शब्द की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि रीति से तात्पर्य केवल 'काव्य-रीति' से ही नहीं 'रस-रीति' "—रसिकता से भी है। अतः रीति-काव्यों का उद्देश्य काव्य-विवेचन ही नहीं काव्य-कला, कोक-रीति एवं प्रेम मार्ग की शिक्षा देना भी था। नायिका-भेद के मूल उद्गमस्रोत के सम्बन्ध में डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी की मान्यता का खण्डन करते हुए सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका विश्लेषण किया गया है।

महाकवि बिहारी पर यद्यपि अनेक समीक्षाएँ प्रकाशित हुई हैं किन्तु निष्पक्ष दृष्टि से उनका अध्ययन तथा वैज्ञानिक दृष्टि से उनकी शृङ्गार-भावना का विश्लेषण बहुत कम हुआ है। शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य कई प्रवृत्तियाँ भी उनमें मिलती हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध का क्षेत्र केवल शृङ्गार-रस तक ही सीमित होने के कारण अन्य प्रवृत्तियों का अध्ययन परिशिष्ट रूप में किया गया है उनके जीवन चरित्र के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण खोज यह की गई है कि वे प्रसिद्ध कवि केशवदास के सुपुत्र थे। इस सम्बन्ध में अनेक ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

शृङ्गारी कवि के रूप में बिहारी की सफलता कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित है, सौन्दर्य-लालसा, सौन्दर्य के प्रभाव, प्रारम्भिक प्रेमानुभूतियों एवं नायिका की चेष्टाओं के चित्रण में ही वे कुछ सरसता ला सके हैं शेष क्षेत्रों—विशेषतः नख-शिख चित्रण, नायिका-भेद निरूपण एवं विरह वर्णन में वे बुरी तरह असफल हुए हैं। वस्तुतः उनकी शृङ्गार-भावना का विकास रसिकता

की कोटि तक ही होता है। उनकी असफलता के सात मुख्य कारणों का भी विवेचन करते हुए संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश एवं हिन्दी के प्रमुख शृङ्गार कवियों से उनकी तुलना की गई है और अन्त में उनका महत्व निर्धारित किया गया है। अस्तु, प्रस्तुत प्रबन्ध में न केवल अध्ययन परम्परा को आगे बढ़ाया गया है अपितु रस-सिद्धान्त, शृङ्गार-रस, शृङ्गार-परम्परा एवं महाकवि बिहारी के सम्बन्ध में अनेक मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये गए हैं जिनकी सूची यहाँ उपस्थित करना सम्भव नहीं। हो सकता है विद्वान् गण लेखक के सभी निष्कर्षों से सहमत न हों किन्तु वे इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि प्रस्तुत प्रबन्ध के रचियता ने वैदिक युग से लेकर रीतिकाल तक के वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी के शृङ्गारी साहित्य, प्राचीन काव्य-शास्त्र, पाश्चात्य मनोविज्ञान, सौन्दर्य शास्त्र, समाज विज्ञान, इतिहास एवं कामशास्त्र के ज्ञान के आधार पर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का निर्माण किया है तथा विरोधी एवं अविरोधी मतों का प्रतिपादन करते समय किसी प्रकार के संकोच, भय या पक्षपात से बचता रहा है। यही कारण है कि उसे अनेक महाकवियों, श्रद्धेय विद्वानों, आलोचकों एवं गुरुजनों की कटु आलोचना में भी प्रवृत्त होना पड़ा। और तो और स्वयं कविवर बिहारी की भी जिन्हें विषय का चुनाव करते समय 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित किया गया था, प्रबन्ध के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते मध्यम कोटि का कवि घोषित करना पड़ा। फिर भी मैं अपनी त्रुटियों एवं न्यूनताओं के लिए सहृदय पाठकों व विद्वानों का क्षमाप्रार्थी हूँ। प्रबन्ध का लेखन डा० इन्द्रनाथ मदान, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग पंजाब यूनिवर्सिटी की प्रेरणा तथा प्रो० गौरीशंकर जी एम० ए०, बी-लिट् (आक्सफार्ड), अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी के सुयोग्य निर्देशन में किया गया था। यद्यपि प्रो० गौरीशंकर जी इन दिनों विश्व-विद्यालय के कार्य में अत्यधिक व्यस्त थे, फिर भी उन्होंने मेरे लिए किसी प्रकार समय निकालने की अनुकम्पा की। प्रो० टेकचन्द्र जी शर्मा मित्रवर श्री हेमराज 'निर्मम', श्री प्रेम भटनागर, श्री रविप्रकाश मंगला, श्री कृष्णदेव झारी एवं श्री जयभगवान गोयल से भी समय-समय पर अमूल्य सुझाव प्राप्त हुए हैं। इन सब का मैं आभारी हूँ। अभिन्न हृदय मित्रवर तुलाराम शर्मा के लिए तो क्या कहूँ—वे तो मेरे लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक हैं। और उसे भी मैं कैसे भुला सकता हूँ जिसने शृङ्गार-रस के अध्ययन के आरम्भिक दिनों में सौन्दर्य की अपूर्व सुधा, प्रणय का पवित्र

एवं निर्मल स्रोत तथा स्वप्नों का एक नवीन संसार देकर छीन लिया—जिसकी दी हुई प्रेम और विरह की अनुभूतियों के बल पर मैं शृङ्गारी कवियों की आत्मा के साथ तादात्म्य करने में किंचित् सफल हो सका।

अन्त में मैं एक विशेष निवेदन प्रबन्ध के मुद्रण के सम्बन्ध में भी कर देना चाहता हूँ। यद्यपि मैंने प्रकाशक महोदय से इसका अन्तिम प्रूफ मुझे दिखाने का अनुरोध किया था, तथा प्रारम्भ में वे ऐसा करते भी रहे, किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उन्हें एक ऐसे 'प्रूफ-रीडर' महोदय की सेवायें उपलब्ध होगईं जो कि "थीसिसों का ही प्रूफ देखा करते हैं।" जब पूरा प्रबन्ध मुद्रित होगया तो पता चला कि अनेक शब्दों का अंग-भंग हो गया है, अनेक अपना स्थान छोड़कर भाग गये हैं और अनेक के स्थान पर उनके मित्र या शत्रु विराजमान होगये हैं। यद्यपि अन्त में 'शुद्धि-पत्र' देदिया गया है किन्तु इसका पूरा प्रायश्चित तो अगले जन्म—नये संस्करण—में ही संभव है। तब तक इसके लिये मैं पाठकों से क्षमायाचना ही नहीं—सहानुभूति की भी आशा करता हूँ क्योंकि उनसे भी अधिक दुःख संभवतः मुझे हो रहा है।

अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
दयानन्द (पोस्ट ग्रेजुएट) कॉलेज,
हिसार
भारतेन्दु-जयन्ती, १९५९ ई०

निवेदक—
गणपति चन्द्र गुप्त

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—सैद्धान्तिक विवेचन

१—रस सिद्धान्त : आधुनिक दृष्टिकोण से परीक्षा १—१६

परीक्षा की आवश्यकता क्यों ? डा० नगेन्द्र, डा० राजेश्वर प्रसाद एवं डा० राकेश के निष्कर्ष, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परीक्षा, डा० राकेश के आक्षेप और उन पर विचार, अन्य दृष्टिकोणों से विवेचना—दार्शनिक दृष्टिकोण, सामाजिक दृष्टिकोण, साहित्यिक दृष्टिकोण, राजनीतिक दृष्टिकोण, रस-सिद्धान्त की न्यूनताएँ।

२—शृङ्गार रस का शास्त्रीय विकास १७—२५

शृङ्गार रस की परिभाषा और उसका स्वरूप, शृङ्गार के भेद, शृङ्गार रस के विभिन्न अवयव, नायिका-भेद, नायिका के अलङ्कार, उद्दीपन, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायी भाव, निष्कर्ष।

३—शृङ्गार रस—एक विश्लेषण २६—२८

शृङ्गार के तत्व, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, सौन्दर्य का शृङ्गार से सम्बन्ध, प्रेम का स्पष्टीकरण, शृङ्गार की तीन कोटियाँ।

४—शृङ्गारिक तत्वों का विशेष अध्ययन २९—५८

(१) **काम-तत्त्व**; व्यापक अर्थ, संकुचित अर्थ। (२) **सौन्दर्य-तत्त्व**; सौन्दर्य की परिभाषा, अध्यात्मवादी, भौतिकवादी, भारतीय दृष्टिकोण, कला और सौन्दर्य, साहित्य और सौन्दर्य, शृङ्गार और सौंदर्य, मानवीय सौन्दर्य, नारी सौन्दर्य का विश्लेषण; (३)

प्रेम-तत्व; प्रेम क्या है ? प्रेम और मनोविज्ञान, प्रेमाकर्षण के भेद, प्रेम का स्वरूप, विभिन्न दृष्टिकोण, प्रेम की उत्पत्ति, विकास, स्थिरता, प्रेम और समाज, प्रेम और साहित्य, प्रेम और अनुसंधान ।

द्वितीय खण्ड—ऐतिहासिक अनुशीलन

१—भारतीय साहित्य में शृङ्गार के विभिन्न रूप ६१—६४

२—भारतीय शृङ्गार के विभिन्न स्वरूपों का विकास ६५—१४०

(१) **स्वतन्त्र शृङ्गार—(वैदिक-युगीन)**— ६५–७६

बाह्य परिस्थितियाँ, वैदिक साहित्य में शृङ्गार निरूपण, काम सौन्दर्य, प्रेमाख्यान, प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ, स्वतन्त्र रूप का ह्रास और उसके कारण ।

(२) **मर्यादा प्रधान शृङ्गार—(रामायण कालीन)**— ७६–८४

बाह्य परिस्थितियाँ, (ख) बाल्मीकीय रामायण में शृङ्गार चित्रण, परवर्ती काव्य ।

(३) **शौर्य्य प्रधान शृङ्गार—(महाभारत कालीन)**— ८४–९०

बाह्य परिस्थितियाँ, महाभारत में शृङ्गार निरूपण ।

(४) **रसिकता प्रधान शृङ्गार—(कालीदास युगीन)** ९०–१०४

कालिदास का आविर्भाव-काल, बाह्य परिस्थितियाँ, कालिदास के साहित्य में शृङ्गार चित्रण । असफलता के कारण ।

(५) **परकीयोन्मुख शृङ्गार—(प्राकृत मुक्त-काव्य में उपलब्ध** १०४–११०

बाह्य परिस्थितियाँ, प्राकृत का मुक्तक काव्य, गाथा सप्तशती आदि ।

(६) **संघर्षपूर्ण शृङ्गार—(संस्कृत नाटकों का व गद्य काव्य में उपलब्ध)**— ११०–११८

बाह्य परिस्थितियाँ, तीन भेद—(क) प्रतिद्वन्द्वात्मक—मृच्छ कटिक, मालती-माधव , (ख) लौकिक संघर्षपूर्ण—दशकुमार चरित, (ग) दैवी संघर्षपूर्ण—कादम्बरी ।

(७) धार्मिकता समन्वित शृङ्गार—(सिद्ध, जैन, वैष्णव साहित्य में उपलब्ध)— ११८–१३६

(क) भारतीय धर्म साधना में शृङ्गारिकता के प्रवेश के कारण।

(ख) सिद्ध-साहित्य में शृङ्गार-चित्रण, जैन साहित्य, श्रीमद् भागवत में शृङ्गार-चित्रण।

(८) रूढ़िबद्ध मिश्रित शृङ्गार—(जय देव के 'गीत गोविन्द' में उपलब्ध) १३६–१४०।

बाह्य परिस्थितियाँ, रूढ़ि बद्धता, शृङ्गार निरूपण।

तृतीय खण्ड—हिन्दी काव्य में शृङ्गार परम्परा

१—सामान्य-परिचय १४३—१४६

हिन्दी भाषा और साहित्य का आविर्भाव, काल-विभाजन में संशोधन।

२—प्रारम्भिक युग (१३०० वि०—१६५० वि०) १४७—१५०

बाह्य परिस्थियाँ, प्रमुख काव्य परम्पराएँ—

(१) मैथिली गीति-परम्परा (विद्यापति व अन्य कवि) १५१–१७०

विशेष परिस्थितियाँ परम्परा विकास, प्रभाव, विद्यापति का शृङ्गार चित्रण, स्थायीभाव का उत्कर्ष, विद्यापति और कालिदास, शूद्रक, भवभूति, बाण, अमरुक, जयदेव, उपसंहार।

(२) प्रेमाख्यान-परम्परा—(जायसी व अन्य कवि) १७१–१९३

हिन्दी प्रेमाख्यानों का मूल स्रोत, अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यानों से तुलना, फारसी मसनवियों से भेद, परम्परा का आरम्भ और विकास, ह्रास के कारण, क्या प्रेमाख्यानक कवियों का प्रेम अलौकिक है? पद्मावत के रूपक की मौलिक व्याख्या और कामायनी के रूपक से तुलना, अन्य युक्तियों का खण्डन जायसी का शृङ्गार-चित्रण, स्थायी भाव का उत्कर्ष।

(३) कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा (सूरदास व अन्य कवि) १९४–२२१

गीति परम्परा का विकास और ह्रास, भक्ति और शृङ्गार का सम्बन्ध, भक्ति के भेदोपभेदों की यथार्थता, भक्ति रस या शृङ्गार रस ? कृष्ण-भक्ति काव्य और आध्यात्मिकता, रीतितत्व, अश्लीलता और उसके प्रेरक तत्त्व, सूरदास का शृंगार चित्रण, सूर-काव्य में रस-निष्पत्ति, सूर के शृंगार-वर्णन और भागवत के शृङ्गार, में अन्तर, सूरदास और विद्यापति ।

(४) शृङ्गारेत्तर काव्य परम्पराएँ (संत काव्य, राम काव्य आदि) २२२–२४१

(क) संत-काव्य-परम्परा, उद्गम-स्रोत, संत-काव्य पर सूफीमत के प्रभाव का निषेध, कबीर का शृङ्गार-निरूपण । (ख) राजस्थानी काव्य-परम्परा, ढोला-मारूरादूहा, वीसलदेव रास आदि । (ग) राम-भक्ति काव्य—तुलसीदास का शृङ्गार-निरूपण निष्कर्ष ।

३—मध्य युग (१६५० वि० से १९०० वि० तक) २४२—२७५

(क) आरम्भ १६५० से क्यों ?, 'रीति' की व्याख्या, रीति कवियों का उद्देश्य, रीतिबद्ध शृङ्गार काव्य का स्वरूप, नायिका-भेद, का वर्गीकरण, नायिका-भेद का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन, नायिका-भेद और शृङ्गार-रस, नायिका-भेद का मूल उद्गम-स्रोत व मूल-आधार, 'रीति-बद्ध कवियों का शृङ्गार चित्रण ।

(ख) रीति-मुक्त शृङ्गार-काव्य परम्परा—परिस्थितियाँ, शृङ्गार-वर्णन आदि ।

४—हिन्दी शृङ्गार-परम्पराओं का विश्लेषण २७६—२८५

पूर्ववर्ती स्वरूपों से तुलना, सामाजिक दृष्टिकोण से विश्लेषण ।

चतुर्थ खण्ड—महाकवि बिहारी और शृङ्गार रस

१—बिहारी का युग, परिस्थितियाँ और व्यक्तित्व २८९—२९५

(क) राजनीतिक परिस्थितियाँ, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, और वैयक्तिक परिस्थितियाँ।

(ख) व्यक्तित्व।

२—सतसई-रचना—प्रेरणा-स्रोत, उद्देश्य और प्रवृत्तियाँ २९६—३००

प्रेरणा स्रोत, रचना का लक्ष्य और उसकी प्रवृत्तियाँ, सतसई का स्थूल विश्लेषण, गौण प्रवृत्तियाँ।

३—बिहारी का प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण ३०१—३०३

४—बिहारी का शृङ्गार-निरूपण ३०४—३६३

(१) **आलम्बन (नारी) का सौन्दर्य**—नख-शिख वर्णन, नख-शिख वर्णन सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ, चेष्टाओं (हाव) का चित्रण, मुद्रा-विधान, सौन्दर्य के समन्वित प्रभाव का वर्णन; निष्कर्ष।

(२) **नायिक-भेद निरूपण।**

(३) **उद्दीपन (प्रकृति) वर्णन।**

(४) **प्रेमानुभूतियाँ (अनुभाव और संचारी) की व्यंजना**—प्रेमोत्पत्ति, प्रेम का विकास, प्रणय-वेदना, संयोगानुभूतियाँ, विरह-वेदना का चमत्कारपूर्ण वर्णन, विरह सम्बन्धी भाव-दशाओं का मार्मिक निरूपण।

(५) **स्थायी भाव (रति) का उत्कर्ष**

५—बिहारी के शृङ्गार-वर्णन को दूषित करने वाली प्रवृत्तियाँ ३३७—३४३

६—पूर्ववर्ती भारतीय काव्य का प्रभाव ३४४—३५१

७—बिहारी पर फारसी का प्रभाव ३५२—३५५

८—भारतीय शृङ्गार-परम्परा और बिहारी ३५६—३६०

शृङ्गार के विभिन्न स्वरूप, क्या बिहारी रीति-बद्ध थे ?, रसिकता प्रधान शृङ्गार, स्वच्छन्द शृङ्गार।

९—प्रमुख शृङ्गारी कवि और बिहारी ३६१—३९०

(१) कालिदास और बिहारी
(२) अमरुक और बिहारी
(३) गाथा सप्तशतीकार और बिहारी
(४) बब्बर और बिहारी
(५) विद्यापति और बिहारी
(६) सूरदास और बिहारी
(७) बिहारी और देव
(८) बिहारी और विक्रयसाहि

१०—बिहारी का महत्व ३९१—३९७

विभिन्न आलोचकों के मत, उनकी समीक्षा, टीकाओं की रचना, लोक-प्रियता का रहस्य ।

परिशिष्ट—

(क) बिहारी और प्रसिद्ध कवि केशव का पुत्र-पिता सम्बन्ध ३९८–४१०
(ख) सतसई-परम्परा और बिहारी सतसई ४११–४१४
(ग) बिहारी की भक्ति-भावना ४१५–४१८
(घ) मुक्तक काव्य की दृष्टि से बिहारी सतसई ४१९–४२२
(ङ) कवीन्द्र केशवदास जी का वंश-वृक्ष ४२३
(च) केशव व बिहारी के वंशजों से पत्र-व्यवहार ३२४
(छ) सहायक पुस्तक-सूची ४२५–४३२
(ज) शुद्धि-पत्र ४३३–४३८

प्रथम खण्ड

सैद्धान्तिक विवेचन

रस-सिद्धान्तः आधुनिक दृष्टिकोण से परीक्षा

काव्य-वस्तु को वीर, शृंगार, करुण आदि भावनाओं के आधार पर वर्गीकृत करते हुए आलोचना करने की पद्धति रस सिद्धान्त की देन है। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध का शीर्षक—"हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा"—ही इस बात का द्योतक है कि इसमें समीक्षा के मान-दण्ड के रूप में रस-सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। आज के विकसित युग में जब कि समीक्षा के लिए अनेक नये-नये मानदण्ड प्रचलित हैं, हमने लगभग दो सहस्राब्दी प्राचीन इस सिद्धान्त को क्यों अपनाया, यह विचारणीय है। इतना ही नहीं—हमारे एक विद्वान[1] ने गहरी अनुसंधान के अनन्तर यह भी प्रतिपादित किया है कि रस सिद्धान्त मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त दोषपूर्ण है तथा इसमें अनेक असंगतियाँ विद्यमान हैं। हिन्दी के कुछ अन्य शोध-कर्ताओं ने भी इस विषय पर अनुसंधान किया है जिनमें डा० नगेन्द्र[2] और डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी[3] का नाम उल्लेखनीय है। डा० नगेन्द्र ने तो इस सम्बन्ध में अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है—"आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी यह विवेचन अमनोवैज्ञानिक और अनर्गल नहीं है"[4] जबकि डा० चतुर्वेदी ने इसे सर्वथा मनोविज्ञान के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि डा० चतुर्वेदी ने अपने प्रबन्ध में डा० राकेश का बार-बार उल्लेख किया है किन्तु फिर भी उनके द्वारा आरोपित आक्षेपों के सम्बन्ध में वे मौन हैं, इस से रस सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिकता ज्यों की त्यों संदिग्ध बनी रहती

---

१. डा० राकेश गुप्ता—"Psychological Studies in Ras."

२. नगेन्द्र : रीति काव्य की भूमिका

३. डा० राजेश्वर प्रसाद—"रीतिकालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन।"

४. रीति-काव्य की भूमिका।

है। ऐसी स्थिति में रस-सिद्धान्त को काव्य-समीक्षा का आधार बनाने से पूर्व भली प्रकार परख लेना उचित होगा।

(क) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परीक्षा

रस-सिद्धान्त काव्य का मूल लक्ष्य रस-निष्पत्ति (अर्थात् पाठक के हृदय को रस अथवा आनन्द से आप्लावित कर देना) को स्वीकार करता है जो भावनाओं के उद्वेलन द्वारा सम्पन्न होती है। भावनाओं का स्पष्टीकरण करते हुए भरतमुनि ने उसके तीन अंग स्वीकार किये हैं—विभाव, अनुभाव और संचारीभाव।[१] विभाव के भी दो भेद हैं, आलम्बन और उद्दीपन। मानव हृदय में भावनाओं का प्रस्फुटन किसी बाह्य वस्तु या उससे सम्बन्धित विचार द्वारा ही होता है, यथा—सिंह को देखकर भय का उत्पन्न होना। यहाँ सिंह को आलम्बन विभाव कहेंगे। परन्तु कई बार देखा जाता है कि केवल आलम्बन की उपस्थिति ही भाव उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती, उसकी बाह्य-परिस्थिति व वातावरण का भी अनुकूल होना आवश्यक है। सिंह को हम चिड़िया-घर या सरकस के खेल में भी देखते है किन्तु फिर भी हम वहाँ डरते नहीं जिसे परिस्थिति का ही प्रभाव कहना चाहिए। अस्तु, बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव की इस विशेषता को ही—रस सिद्धान्त के आचार्यों ने उद्दीपन की संज्ञा देते हुए उसे भावोत्पत्ति का एक आवश्यक अंग बताया है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा उचित है। भावोत्पत्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप आश्रय (जिस के हृदय में भाव उत्पन्न होता है) की मानसिक, एवं शारीरिक अवस्था में परिवर्तन आ जाता है जिसे अनुभाव कहा गया है। किसी भी व्यक्ति के हृदयस्थ गूढ़ भावों का परिचय इन अनुभावों द्वारा सुगमतापूर्वक मिल जाता है, अतः काव्यगत पात्रों की भावनाओं की व्यंजना के लिए इनका चित्रण अपेक्षित होता है। कवि स्वयं भी पात्रों की मानसिक अवस्था पर प्रकाश डाल सकता है, जैसे—रावण को क्रोध आ गया—दुष्यन्त का शकुन्तला से प्रेम हो गया—किन्तु इससे पाठक को क्रोध प्रेम आदि का केवल ज्ञान होगा—अनुभूति नहीं। अस्तु, भाव के उपर्युक्त तीनों अंग—आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव काव्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी भाव का विश्लेषण करते हुए इन्हीं तीन अंगों की स्थापना की है। प्रसिद्ध विद्वान् आर० एस० वुडवर्थ का कथन है—"व्यक्ति की उत्तेजनापूर्ण अवस्था ही भाव

---

१. विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पतिः —नाट्यशास्त्र।

है। प्रत्येक भाव का विवेचन इन पारिभाषिक शब्दों (अथवा अंगों) के अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) भाव (२) भाव को प्रेरित करने वाले व्यक्तियों या पदार्थों का समूह, (३) शारीरिक अंग-प्रत्यंगों की अवस्था (४) वह बाह्य परिस्थिति जो भाव का उद्दीपन करती है।"[१] कहना न होगा कि वुडवर्थ के उपर्युक्त चारों अवयव क्रमशः 'हमारे आचार्यों द्वारा निरूपित-भाव, आलम्बन, अनुभाव और उद्दीपन से पूरा साम्य रखते हैं। यही नहीं आगे चलकर इन अवयवों का स्पष्टीकरण करते हुए इनके जो उदाहरण दिए गये हैं वे भी रस-सिद्धान्त के विवेचन से गहरा साम्य रखते हैं।[२]

भावों की स्थिरता, विशदता एवं गम्भीरता की दृष्टि से भरतमुनि ने उनको दो वर्गों में विभाजित किया है—(१) संचारीभाव और (२) स्थायी भाव। परवर्ती आचार्यों ने इनका अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि सचारी भाव क्षणिक होते हैं जबकि स्थायीभाव स्थिर मनोदशा के रूप में विकसित होने की क्षमता रखते हैं। अन्य भावों की उत्पत्ति से संचारी भाव विलीन हो जाता है किन्तु स्थायी भाव सदा अविच्छिन्न रहता है।[३] प्रेमिका के हृदय में प्रिय की उदासीनता के प्रति रोष, उसे समीप पाकर हर्ष, उस से वियुक्त होने पर शोक की उत्पत्ति हो सकती है। यहाँ रोष, हर्ष और शोक संचारी भाव हैं जो दूसरे भावों की उत्पत्ति पर लुप्त हो जाते हैं जब कि उपर्युक्त सभी परिस्थितियों में सभी संचारियों के साथ-साथ—प्रेम स्थायीभाव अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में बीसवी शताब्दी के आरम्भ तक भावों का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण नहीं हुआ था, प्रायः सभी भावों को एक ही कोटि में रखा जाता था। आगे चलकर श्री शैण्ड[४] ने सबसे पहले भावों को

1. Emotions are stirred up states of the individual. Each emotion can be described in terms of (1) the feeling (2) the motor set for response, (3) the organic state and (4) the kind of external situation arousing the emotion."

—Psychology; (Edition 1952) Page 366. by R. S. Woodworth.

२. **देखिये—वही पृष्ठ ३३४–३६७।**

३. **रस गंगाधर—प्रथम आननम, पृष्ठ १२७।**

4. Sentiments never having been clearly distinguished from the Emotions until Mr. Shand performed this great service to psychology.

Introduction to Social Psychology by Macdougal, page 106.

दो वर्गों में—'इमोशन' और 'सेन्टीमेंट' में विभाजित किया। यह वर्गीकरण हमारे आचार्यों द्वारा किए गये वर्गीकरण से कितना गहरा साम्य रखता है इस का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

डा० राकेश के आक्षेप—रस सिद्धान्त के उपर्युक्त विवेचन, विश्लेषण एवं वर्गीकरण का आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करते हुए डा० राकेश ने अनेक आक्षेप प्रस्तुत किये हैं[1] जिन में प्रमुख ये हैं—(१) स्थायी-भाव और संचारी भाव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ही श्रेणी के हैं, अतः इन में अन्तर मानना अनुचित है। (२) आचार्यों द्वारा परिगणित संचारियों में से दस (स्मृति आदि) भाव कोटि में नहीं आते। (३) विभावों से भावों की उत्पत्ति मानना अनुचित है। (४) अनुभावों की सूची दोष-पूर्ण और अपूर्ण है। (५) रस-दोषों में से नामोल्लेख आदि को दोष मानना उचित नहीं। (६) रस और सामान्य भावावेग में विशेष अन्तर नहीं है। (७) शोकपूर्ण काव्यों से आनन्द की अनुभूति नहीं होती। (८) काव्यास्वादन का मूल कारण रस-प्रक्रिया नहीं, काव्य-रुचि है। संभवतः इन्ही आक्षेपों से प्रेरित होकर कुछ दिनों पूर्व एक विद्वान ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी—"भरत के रस-सिद्धान्त का आधारभूत जो मानसिक विश्लेषण था, जिसके अनुसार विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि का निरूपण हुआ था, वह विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान के विकास से बहुत पुराना, अधूरा और अवैज्ञानिक प्रतीत होता है।"[२] अस्तु उपर्युक्त आक्षेप विचारणीय हैं।

स्थायीभाव और संचारीभाव का अन्तर—आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भाव के मुख्यतः दो भेद माने हैं। (१) (Emotion) इमोशन अर्थात् भावावेग और (२) (Sentiment) सेन्टीमेन्ट अर्थात् भावना। रस-सिद्धान्त के संचारी भाव भावावेग (Emotion) की श्रेणी में आते हैं जबकि स्थायीभाव के लक्षण सेन्टीमेन्ट या भावना के समकक्ष हैं। इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इमोशन भावानुभव की प्रवृत्ति मात्र या यों कहिए कि भाव की उत्तेजित अवस्था[3] मात्र है, जब कि सेन्टीमेन्ट वह

1. Psychological Studies in Ras.
(By Rakesh Gupta)

२—"**सौन्दर्य-तत्व और आलोचना के मान दण्ड**" शीर्षक लेख (**आलोचना अंक ६ पृष्ठ २३**) **लेखक—डा० हरद्वारीलाल शर्मा।**

3. Emotion is a moved or stirred up state of feeling.
(Psychology by Woodworth—Page 338)

भावात्मक प्रवृत्ति है जो किसी आलम्बन विशेष से सम्बद्ध होकर व्यवस्थित ढंग से विकसित होती है।[1] सेंटीमेंट पर और अधिक प्रकाश डालते हुए श्री मैक्डूगल महोदय ने कहा है : "प्रत्येक सेंटीमेंट अपने उद्भव का पूरा इतिहास रखता है।···यह धीरे-धीरे विकसित होता हुआ अधिक गम्भीर और शक्तिशाली होता जाता है। जब कोई इमोशन विशेष, बार-बार आलम्बन विशेष के कारण उद्दीप्त होता रहता है तो वह दृढ़ और जटिल होता जाता है और उसकी मूल अवस्था निर्मित हो जाती है।···सेंटीमेंट के उदाहरण प्रेम और घृणा हैं।"[2] सटीमेंट का एक लक्षण विद्वानों ने यह भी माना है कि वह कई विरोधी इमोशन्स का भी समाहार कर लेता है।

श्री शैण्ड (Shand) के शब्दों में प्रेम और घृणा दो विरोधी सेंटीमेंट हैं, फिर भी परिस्थितियों की भिन्नता से वे सारे एमोशन जो प्रेम में उत्पन्न होते है, घृणा में भी उत्पन्न हो सकते हैं।[3] इस प्रकार सेंटीमेंटों की ये विशेषताएँ सिद्ध होती हैं। (१) वह भावावेग मात्र नहीं है, वह आलम्बन विशेष से सम्बन्धित, व्यवस्थित ढंग से विकसित स्थायी भावात्मक प्रवृत्ति है। (२) सेंटीमेंट के अन्तर्गत विरोधी और अविरोधी सभी प्रकार के इमोशन्स का समाहार हो जाता है। (३) सेंटीमेंट के उदाहरण प्रेम, घृणा आदि है। संस्कृत के आचार्यों ने भी स्थायी भावों में संचारीभावों की अपेक्षा यही विशेषताएँ बताई हैं। रसगंगाधरकार ने लिखा है कि 'स्थायीभाव चित्त में चिरकाल तक वासना रूप से स्थित रहता हुआ आलम्बन से सम्बद्ध रहता है।

---

1. A Sentiment is an organised system of emotional dispositions centred about the idea of some object."

   A. I. Soc. Page—137.

2. Each sentiment has a life history. It is gradually built up, increasing in complexity and strength. When any one. of the emotions is strongly or repeatedly excited by a particular object, there is formed the rudiment of a sentiment. The typical sentiments are love and hate.

   (A. I. Sog. 140)

3. "With inversion of the circumstances of the object all the emotions called forth by the loved object are repeated in relation to the hated object" (Shand, same page 141)

वह विरोधी संचारी भावों से भी विच्छिन्न नहीं होता तथा आश्रय के हृदय में जीवन के दीर्घभाग तक स्थित रहता है, जैसे प्रेम नामक चित्तवृत्ति ।[1]

डा० राकेश का इसके विरोध में तर्क है—"सेंटीमेंट एक मानसिक प्रवृत्ति मात्र है, भाव जागृति की दशा नहीं । अतः जब भी सेंटीमेंट विकसित होकर भाव-जागृति की दशा में परिणत होता है तो वह 'सेंटीमेंट न रहकर इमोशन बन जाता है ।"[2] यह कथन भ्रान्ति-मूलक है । एक प्रेमी का हृदय प्रेमिका के भावी अनिष्ट की आशंका से चिन्ता-विभोर, उसके तिरस्कार पर क्रोध से अभिभूत और उसके दूर चले जाने पर शोक-विह्वल हो जाता है तो क्या इन परिस्थितियों में जबकि उसके हृदय में विभिन्न इमोशन (संचारी भाव) उद्दीप्त हो जाते है, उस का प्रेम स्थायीभाव नष्ट माना जायगा ? वस्तुतः संचारी भावों एवं स्थायी भाव के सम्बन्ध की सूक्ष्मता को हृदयंगम न कर सकने के कारण ही ऐसी बात कही गई है ।

डा० नगेन्द्र ने भी मनोविज्ञान के सेंटीमेंट से रस-सिद्धान्त के स्थायी-भाव की तुलना करते हुए[3] इन दोनों में कुछ मौलिक भेद बताये हैं—(१) मनोवृत्ति (सेंटीमेंट) एक व्याप्त मनःस्थिति मात्र है जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नही हो सकता । मनोवृत्ति (सेंटीमेंट) के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है स्वयं मनोवृत्ति का नहीं । परन्तु स्थायी के विषय में यह बात नहीं है उसके संचारी ही नही वह स्वयं भी समग्रतः आस्वाद्य है । (२) मनोवृत्ति सदैव ही मनोविकार की आवृत्ति से बन जाती है परन्तु स्थायीभाव के विषय में यह सत्य नहीं है, हर्ष की आवृत्ति करते रहिये पर वह रति नही बन पायगा । (३) मनोवृत्ति सदैव विचारमूलक है परन्तु स्थायीभाव (शम को छोड़कर) विचारमूलक नहीं—प्रवृत्तिमूलक ही है ।[4]

उपर्युक्त निष्कर्षों के सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि (१) हमें यह न भूल जाना चाहिए कि रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों ने स्थायीभाव का प्रतिपादन

---

१. रसगंगाधर, प्रथम आननम् स्थायीभाव प्रकरण पृष्ठ १२७ ।

2. "And also sentiment is only a mental disposition and not an actual state of conciousness; for whenever it develops into an actual state of consciousness it ceases to be sentiment and becomes emotion".

Psy. Studies in Ras, Page 126.

३. रीति-काव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र ।

४. वही, पृष्ठ ६७, ६८ (द्वितीय संस्करण)

काव्य की दृष्टि से किया था। काव्य के क्षेत्र में आकर सभी मनोवृत्तियाँ आस्वाद्य बन जाती हैं—अतः सेंटीमेंट और स्थायीभाव का यह अन्तर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कोई असंगति उत्पन्न नहीं करता। (२) यह कहना ठीक है कि स्थायीभाव किसी एक ही संचारीभाव की आवृति से ही विकसित नहीं होता—वह अनेक संचारीभावों की आवृत्ति से विकसित होता है। यह बात सेंटीमेंट पर भी लागू होती है। क्या 'हर्ष' की आवृत्ति करते रहने से प्रेम सेंटीमेंट का विकास हो सकता है? यदि नहीं तो फिर स्थायी भाव और सेंटीमेंट का अन्तर बताना अनुचित है। (३) डा० नगेन्द्र के इस कथन से कि मनोवृत्ति (सेंटीमेंट) सदैव विचार मूलक हैं जबकि स्थायी भाव नहीं होता, हम सहमत नहीं हो सकते। वैसे तो सभी भावों के मूल में कोई न कोई विचार अवश्य होता है, जैसे घृणा के मूल में आलम्बन के अवगुणों का विचार, भय के मूल में प्राण-हानि का विचार आदि—फिर भी सेंटीमेट के स्वरूप में भावना की ही प्रधानता होती है। कोरे शुष्क विचार पर आधारित भाव सेंटीमेंट का रूप ग्रहण नहीं कर सकता इसका समर्थन करते हुए श्री रैक्स महोदय ने लिखा है—"सेंटीमेंट किसी आलम्बन की ओर उन्मुख तथा विकसित भावात्मक प्रवृत्ति या प्रवृत्तियों का संगठन है। यहाँ हमें 'विकसित' 'भावात्मक' और 'उन्मुख' पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कई ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो भावात्मक न होकर विचारात्मक होती है, किन्तु हम इनको सेंटीमेंट नही कह सकते।"[1] इसके अतिरिक्त अनेक मनोवैज्ञानिकों ने सेंटीमेंट की परिभाषा करते हुए भावात्मकता को इस की प्रमुख विशेषता के रूप में स्वीकार किया है। डा० मैकडूगल ने सेंटीमेंट के उदाहरण-स्वरूप प्रेम, जुगुप्सा, वात्सल्य आदि का ही विवेचन किया है जो कि रस-सिद्धान्त के स्थायीभाव है।[2] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि विचारमूलक मिश्रित भावों

1. "A sentiment is an acquired emotive disposition or organised set of such dispositions directed towards an object. The terms (1) acquired (2) emotive and (3) directed must all be emphasised, not all dispositions, are emotive. There are also cognitive dispositions but these are not classed as sentiments."

   (A Modern Instroduction to Psychlogy by Rex and Margaret Knight; Page 182, 183)

2. An Introduction to Social psychology–Macduogal, Page 105.

को जैसे श्रद्धा, ईर्ष्या, पश्चाताप को मनोवैज्ञानिकों ने "कम्पलैक्स इमोशन्स" की संज्ञा देते हुए इन्हें सेंटीमेंट के विकास के अनुपयुक्त बताया है।[1]

अस्तु स्थायीभाव और सेंटीमेंट मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ही कोटि के सिद्ध होते हैं।

संचारियों की भाव-शून्यता—संचारियों में स्मृति, मरण, मद, सुप्ता निद्रा, विबोध, अपस्मार, मोह, चपलता और जड़ता—इन दस को भावशून्य सिद्ध किया गया है। इनमें से हम पहले स्मृति पर विचार करते हैं। प्रेमी-प्रेमिकाओं के मुँह से प्रायः यह सुना जाता है—"हाय! तुम्हारी याद सताती है!" अनेक कवियों ने इस भाव-दशा का निरूपण मार्मिक ढंग से किया है। घनानन्द के शब्दों मे :—

(१) वहै चतुराई सों चिताई, चाहिबे की छबि,
वहै छैलताई न छिनक विसरति है।
आनन्द निधान प्रान—प्रीतम सुजान जू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुध करति है॥

(२) "सो सुधि मो हिय में घनानन्द सालति क्यों हूँ न कढ़ै न कढ़ाई।"

स्मृति के सम्बन्ध में कामायनीकार का अनुभव है :—

"विरल डालियों के निकुंज सब ले दुःख के निश्वास रहे।
उस स्मृति का समीर चलता है, मिलन कथा फिर कौन कहे॥
+ + +
विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिन में कुछ सार नहीं।
वह जलती छाती न रही, अब वैसा शीतल प्यार नहीं॥"

(कामायनी—स्वप्न सर्ग)

आचार्य शुक्ल का कथन है—"स्मृतियाँ हमें केवल सुख-पूर्ण दिनों की झाँकियाँ ही नहीं समझ पड़ती। वे हमें लीन करती है, हमारा मर्म-स्पर्श करती है, बस इतना ही हम कह सकते हैं।"

(चिन्तामणि, प्रथम भाग पृ० २६०)

अतः भले ही खोया हुआ चाबियों का गुच्छा याद आ जाना भावमग्न करने की क्षमता न रखता हो किन्तु कुछ विशेष स्मृतियाँ अन्य भावों के समकक्ष ही संवेदना-पूर्ण होती हैं। उपर्युक्त अन्य संचारियों के भी भावना से

1. Same page 110.

असम्बद्ध स्वरूप पर ही विचार किया गया है, जो अनुचित है।[1] इस प्रकार

१—काव्य के क्षेत्र में मरण, मद, जड़ता, चपलता, विबोध, निद्रा, अपस्मार, मोह आदि अन्य संचारीभाव भी स्मृति की ही तरह विशेष परिस्थितियों में भावों के समकक्ष संवेदनशील हो जाते हैं, यहाँ कुछ संचारियों के साहित्यिक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

मरण—धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू। कहु सुमंत्र कहँ राम कृपालू।
कहां लखनु कहाँ रामु सनेही। कहं प्रिय पुत्र बधू बैदेही॥
बिलपत राउ बिकल बहु भांती। भइ जुग सरिस सिराती न राती।
तापस अँध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई।
भयऊ बिकल बरनत इतिहासा। राम रहित धिग जीवन आसा।
सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा।
हा! रघुनन्दन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते।
हा! जानकी लखन हा! रघुवर। हा! पितु हित चित चातक जलधर।
राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहं, राउ गयउ सुरधाम॥१५५॥
(रामचरितमानस : अयोध्या काण्ड)

मद— तजी संक सकुचति न चित बोलति बाकु कुबाकु।
दिन छिनदा छाकी रहति, छुटतु न छिन छबि छाकु॥
(बिहारी : रत्नाकर २१८)

जड़ता— चकी जकी सी ह्वै रही, बूझैं बोलति नीठि।
कहूँ डीठी लागी, लगी कै काहू की डीठि। (वही, ६३६)

चपलता—चितवति चकित चहुँदिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मन चीता।

विबोध—वे और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर, इनका क्या विश्वास करूँ।
प्रतिहिंसा, प्रतिशोध दबाकर मन ही मन चुपचाप मरूँ।
श्रद्धा के रहते यह सम्भव नहीं कि कुछ कर पाऊँगा।
तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको, जहाँ खोजता जाऊँगा।"
(कामायनी-निर्वेद)

यहाँ पर ध्यान रहे कि आचार्यों ने मरण, मद आदि संचारियों में उनके स्थूल रूप को—जोकि बाह्य घटनाओं पर आधारित होता है—न लेकर उन के सूक्ष्म संवेदनापूर्ण रूप को लिया है। शारीरिक व्याधियों से सम्बन्धित मरण, जड़ता और अपस्मार को तथा सुरापान जन्य मद को हमारे

तो हम हास्य, करुण आदि स्थायी भावों को भी भावनाशून्य घोषित कर सकते हैं क्योंकि गुदगुदी करने से हास्य और पेट में दर्द आने से शोक का उत्पन्न होना एक साधारण बात है।

विभावों की प्रभावशून्यता—यद्यपि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों तक ने भाव का विकास विभाव-पक्ष के सम्बन्ध से माना है पर उक्त विद्वान ने इसके विरोध में तर्क देते हुए कहा है कि हमारे भावों के प्रेरक हमारे अपने विचार ही हैं, क्योंकि हम सिंह से नहीं डरते, अपितु मृत्यु के विचार से डरते हैं और एक ही विचार दो व्यक्तियों पर एक सा प्रभाव नहीं डालता—सांप को देख कर एक डर कर भागता है, दूसरा मारने को दौड़ता है, अतः विभाव भाव का प्रेरक नहीं माना जा सकता। पर हमें यहाँ यह न भूल जाना चाहिए कि मृत्यु का विचार भी अन्ततः विभाव के प्रभाव से उत्पन्न होता है तथा भाव विचारों से सर्वथा असंपृक्त नही होते। विभावों की अनुभूति आश्रय की विभिन्न इन्द्रियों एवं मानसिक सरणियों के माध्यम से होती है, पर इससे विभाव का महत्त्व गौण नहीं हो सकता। दूसरे, सभी परिस्थितियों में भावोद्दीपन विचारों के माध्यम की अपेक्षा नहीं रखता, एक शोक-संतप्त वियोगिनी अपने प्राणेश को देखकर एकाएक हर्ष का अनुभव करने लगेगी, किसी विद्रूप चेहरे को देख कर हम तुरन्त ही हँसी के फव्वारे छोड़ने लगेंगे—हमें क्या लाभ या हानि हुई यह सोचने-विचारने का तो यहाँ अवकाश ही नहीं मिलता।

एक ही आलम्बन विभाव से दो व्यक्तियों पर विरोधी प्रभाव का कारण भी दोनों की विकसित चित्तवृत्तियाँ—स्थायी भाव या सेंटीमेंट है। एक सुन्दरी को देखकर जहाँ निर्वेद से अभिभूत सन्यासी घृणा प्रकट करेगा वहाँ रसिक प्रसन्नता का अनुभव करेगा—यह तथ्य रस-सिद्धान्त के ही अनुकूल पड़ता है। यह ध्यान देने की बात है कि रस-सिद्धान्त भावों को वासना-रूप में स्थित मानता है और विभावों को उनका पोषक या उत्तेजक मात्र ही मानता है, पर डा० राकेश ने 'पोषक' के स्थान पर 'जनक' समझ कर ही यह आक्षेप प्रस्तुत किया है।

अनुभावों की अपूर्णता—अगला आक्षेप 'प्रलय' को अनुभाव मानने एवं चेहरे की लालिमा आदि को अनुभाव रूप में स्मरण न किये जाने के सम्बन्ध

संचारीभावों से उसी प्रकार पृथक समझना चाहिए जिस प्रकार पेट में दर्द आने से होने वाली पीड़ा को हम शोक-भाव से भिन्न समझते हैं।

में है जो बहुत ही उपेक्षणीय है। प्रलय से तात्पर्य भावावेग जनित मूर्च्छा से है, क्लोरोफार्म सूँघा कर लाई हुई मूर्च्छा से नहीं, अतः इसे अनुभाव मानना उचित ही है तथा शारीरिक अनुभावों की कोई संख्या निर्धारित नहीं की गई है अतः चेहरे की लालिमा को भूल जाना रस-सिद्धान्त की न्यूनता सिद्ध नहीं करता।

रस-दोष—काव्य में भावनाओं के नामोल्लेख से ही पाठक को उनकी अनुभूति नहीं हो जाती, अतः उनका चित्रण अपेक्षित होता है। इसी दृष्टिकोण से भारतीय आचार्यों ने भावों के नामोल्लेख को दोष माना है। एक ही आश्रय में भिन्न-भिन्न स्थायी भावों का चित्रण भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असंगत है। एक ही आश्रय के हृदय में एक ही पात्र के प्रति प्रेम और घृणा का चित्रण भले ही कोई लेखक एक साथ दिखा कर रस-वैचित्र्य का चमत्कार दिखा दे पर इससे उसकी रचना की रसात्मकता को ठेस ही पहुँचेगी। आश्चर्य है कि इन दोषों को दोष बताने का भी विद्वान आलोचक ने घोर विरोध किया है।[1]

रस निष्पत्ति सम्बन्धी आक्षेप—काव्य में रसास्वादन का कारण पाठक की रुचि को बताते हुए रुचि और रसानुभूति को पर्यायवाची तक घोषित करना[2] उनकी विचित्र सूझ का ही परिणाम है अन्यथा रुचि काव्य के पढ़ने के पूर्व की अवस्था है जबकि आस्वादन उसके बाद की। यदि पाठक का रुचि ही से काम चल जाता तो लोग सत्कवियों की उत्कृष्ट रचनाओं की खोज में नहीं भटकते। हाँ, ताश, शतरंज, जूआ आदि खेल जिनमें पाठक की बुद्धि रमती है अवश्य ही रुचि पर निर्भर करते हैं।

शोकपूर्ण काव्य से आनन्द-उपलब्धि के विरोध में भी यह कथन कि "भूल से हम ऐसा मान बैठे हैं, ऐसे काव्यों से दुःखानुभूति होते हुए भी हम दो कारणों से प्रवृत्त होते हैं, पहला यह है कि मनुष्य की दुःख में प्रवृत्त होने की

1. As a matter of fact the mention by name of the Bhavas or the Ras should not at all be considered to be fault"
(P. S. R. Page 172)

2. "It (Secret of relish of Poetry) consists in our interest to perceive it. The terms 'Interest and Relish' are almost synonymous with each other with reference to poetry.
(P. S. R. Page 77)

आदत है और दूसरे कथा-औत्सुक्य के कारण।"[1] युक्ति संगत नहीं है। यह तो एक सर्व विदित तथ्य है कि मनुष्य दुःख से दूर भागता है उसमें प्रवृत्त नहीं होता। भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' या तुलसी के 'दशरथ-मरण' अथवा 'लक्ष्मण-शक्ति' की कहानी को जानते हुए भी हम उन्हें बार बार पढ़ते हैं, अतः कथा-औत्सुक्य को भी कारण मानना उचित नहीं। इसके अतिरिक्त डा० राकेश ने शोक की प्रत्यक्ष अनुभूति एवं काव्य जनित अनुभूति में कोई अन्तर नहीं माना है, यह तथ्य भी इस आक्षेप का मिथ्याधार बना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रस-सिद्धान्त पर आरोपित उपर्युक्त सभी आक्षेप मुख्यतः इन तथ्यों पर आधारित हैं—(१) रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत भावों का विवेचन काव्य की दृष्टि से किया गया है। हमारे अनेक शुष्क विचार तथा संवेदनाशून्य मनोविकार काव्य के क्षेत्र में जाकर सरस भाव का रूप धारण कर लेते है, अनेक सामान्य अनुभूतियों के स्वाद में भी परिवर्तन आ जाता है (जैसे–शोक, क्रोध, भय आदि कटु भावों का भी माधुर्यपूर्ण बन जाना) किन्तु उक्त विद्वान् ने रस-सिद्धान्त का परीक्षण करते समय इन तथ्यों को ध्यान में नहीं रक्खा। यही नही वे काव्यगत भावनाओं एवं सामान्य भावों में भी कोई अन्तर नहीं मानते।[2] (२) मनोविज्ञान के कुछ पारिभाषिक शब्दों को तथा उनके पारस्परिक अन्तर को भी भली प्रकार नहीं समझा गया, जैसे कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक इमोशन और सेंटीमेंट में भारी अन्तर मानते हैं किन्तु डा० राकेश ने दोनों को एक ही बताया है। (३) रस-सिद्धान्त के कई अंगों को धैर्यपूर्वक समझने का प्रयास नहीं किया गया। जैसा कि डा० राकेश ने स्वयं अपने प्रबन्ध की भूमिका में उल्लेख किया है संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण उन्होंने अँग्रेजी में अनुवादित ग्रंथों के आधार पर ही रस-सिद्धान्त को समझने का प्रयास किया है।[3] अस्तु, ऐसी स्थिति में भ्रान्ति की बहुत सभावना थी। सम्भवतः यही कारण है कि उन्होंने अनुभावों को तथा

---

1. Psychological Studies in Ras. (Page 76-77).
2. These feelings are not very much different from our those sympathetic feelings which we experience in the world of reality. (Page 83).
3. "On account of my limited knowledge of the language, a detailed use has been possible only of those that were available in translation". (Preface, Page 6)

कुछ संचारियों को ठीक उसी अर्थ में ग्रहण नहीं किया जिसमें आचार्यों ने किया है।[1]

वस्तुतः रस सिद्धान्त के आचार्यों के द्वारा किया गया भावों का वर्गीकरण, विश्लेषण एवं प्रतिपादन आधुनिक मनोविज्ञान से गहरा साम्य रखता है। आधुनिक मनोविज्ञान शास्त्री जिन निष्कर्षों पर गहरे वाद-विवाद एवं भारी ऊहापोह के अनन्तर ही पहुँच पाये है, उन्ही का ऐसा असदिग्ध, विवाद-शून्य एवं स्पष्ट विवेचन दो सहस्राब्दी पूर्व कर देना भारतीय आचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि, गम्भीर चिन्तना एवं प्रौढ़ मनोवैज्ञानिकता का परिचायक है। कम से कम काव्यगत भावों के विवेचन के क्षेत्र में तो ऐसा लगता है कि रस-सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान को अब भी बहुत कुछ सिखाने की क्षमता रखता है। जैसा कि रैक्स महोदय ने लिखा है—"आधुनिक मनोविज्ञान विज्ञान की अन्य सभी शाखाओं से सर्वाधिक पिछड़ा हुआ है। अतः यह दावा करना व्यर्थ है कि इसकी प्रयोग पद्धति विज्ञान की अन्य शाखाओं—रसायन-शास्त्र, भौतिक विज्ञान की भाँति पूर्णतः विकसित है तथा कोई भी मनो-वैज्ञानिक, सिद्धान्त के नाम पर कोरी कल्पना करने की अथवा अनुसंधान के स्थान पर कोरे अनुमान को आकर्षक शब्दों में प्रस्तुत करने की भूल नही करता।"[2] ऐसी स्थिति में यदि रस सिद्धान्त की कोई बात आधुनिक मनो-विज्ञान से मेल नहीं खाती है तो यह न समझना चाहिए कि दोष रस-सिद्धांत में ही है। हाँ, यदि रचनात्मक दृष्टिकोण से थोड़ा परिश्रम किया जाय तो

---

१. डा० राकेश ने अनुभावों को इस प्रकार ग्रहण किया है—"The term **'अनुभाव'** should be analysed not to mean what occurs after a **'भाव'** but to mean what suggests or indicates **'भाव'** Anubhav's are unique including in their conception even the words that are uttered by the person under an emotional influence (same, Page, 151-152)

2. "Psychology is the youngest of the sciences, and it would be idle to claim that its experimental technique is as highly developed as that of chemistry or physics or that no psychologist ever mistakes a hypothesis for a principle, or a brilliant guess for a discovery."

—A modern Introduction to Psychology by Rex and Margaret Knight, Edition 1952, Page 9.

रस-सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट, उन्नत एवं विकसित किया जा सकता है और उस स्थिति में वह आधुनिक मनोविज्ञान की प्रगति की राह में एक विशाल प्रकाश-स्तंभ सिद्ध हो सकता है।

(ख) अन्य दृष्टिकोणों से रस सिद्धान्त की विवेचना

दार्शनिक दृष्टिकोण—सूक्ष्म सत्ता (जिसे परमात्मा कहा गया है) के मुख्यतः तीन लक्षण स्वीकार किये गये हैं, सत् चित्, और आनन्द। मानव का सूक्ष्म स्वरूप भी परमात्मा के अनुरूप—ही उपर्युक्त तत्त्वों पर आधारित है, इसी लिये धर्म-ग्रन्थों में मनुष्य को परमात्मा का प्रतिरूप घोषित किया गया है। मानव-जीवन में सत्, चित् और आनन्द के विकास के क्रमशः तीन साधन हैं—ज्ञान, कर्म और सौन्दर्य। हमारे मानसिक जीवन की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ—जिज्ञासा, इच्छा और भावना क्रमशः ज्ञान, कर्म और सौन्दर्य से सम्बन्ध रखती है और इन तीनों वृत्तियों पर ही हमारा समस्त मानसिक जीवन आधारित है। मनुष्य की ज्ञान-पिपासा ने दर्शन और विज्ञान को, कर्म की आवश्यकता ने धर्म और व्यवसाय को तथा सौन्दर्य-प्राप्ति की आकांक्षा ने साहित्य एवं कलाओं को जन्म दिया। इस प्रकार साहित्य एवं कलाओं का मूल उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि द्वारा मानव-जीवन में आनन्द का विकास करना ही है। रस-सिद्धान्त भी कलाओं का उद्देश्य आनन्दानुभूति ही घोषित करता है जो कि उपर्युक्त दृष्टि से प्रशंसनीय है। यही नहीं, रस-सिद्धान्तवादी काव्यानन्द को अलौकिक आनन्द का नाम देकर यह भी स्पष्ट करता है कि ऐसा आनन्द अन्य लौकिक साधनों से प्राप्त नहीं हो सकता, अतः साहित्य-जन्य आनन्द सर्वोत्कृष्ट श्रेणी का है।

सामाजिक दृष्टिकोण से—कलाओं का लक्ष्य केवल सौन्दर्य-सृष्टि या आनन्द मात्र है, इस प्रकार की घोषणायें विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा भी हुई हैं, जिनके फलस्वरूप साहित्य में ऐसी वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ पनपने लगी जो समाज विरोधी सिद्ध होती हैं। ऐसी स्थिति में हम समाज-हितैषिता की दृष्टि से रस-सिद्धान्त के आनन्दवाद का कहाँ तक स्वागत कर सकते हैं? यहाँ हमें इस तथ्य पर ध्यान देना होगा कि पाश्चात्य कला वादियों का आनन्द कवि का आनन्द है जबकि रस-सिद्धान्तवादियों का आनन्द सामाजिक या पाठक से सम्बन्ध रखता है। जहाँ कला का लक्ष्य केवल स्रष्टा के अपने आनन्द तक ही सीमित होगा वहाँ समाज-विरोधी वैयक्तिक प्रवृत्तियो के प्रादुर्भाव एवं विकास की पूरी संभावना रहेगी, जबकि रस-सिद्धान्तानुसार कलाकार

सामाजिकों के दृष्टिकोण, आदर्श एवं हितों की उपेक्षा नहीं कर सकता। रसाभास जैसे विशेषण कवियों की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के नियन्त्रण के लिये प्रयुक्त होते हैं। अस्तु, रस सिद्धान्त पाश्चात्य साहित्यकारों के दो बड़े विवादों का--कला कला के लिये है या मानव जीवन के लिये—का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करता है।

साहित्यिक दृष्टिकोण—कवि कर्म की तीन अवस्थायें होती हैं। (१) कवि द्वारा विषय की अनुभूति, (२) कवि द्वारा अभिव्यक्ति, और (३) पाठक के द्वारा रसास्वादन। प्रत्येक व्यक्ति मे सुख दुःख आदि भावनाओं की अनुभूति की क्षमता अवश्य होती है, उसे वह स्पष्ट या अस्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करने का भी प्रयत्न करता है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की अभिव्यक्ति काव्य का रूप ग्रहण नहीं कर सकती। दो अशिक्षित व्यक्तियों की अश्लील गालियों में भी उनकी क्रोधानुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है फिर भी उन्हें काव्य में स्थान नही दिया जा सकता। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों में से कुछ ने तो कवि की अनुभूति को ही और कुछ ने अभिव्यक्ति को ही काव्य-रचना का सारा महत्त्व प्रदान कर दिया, जबकि रस-सिद्धान्तवादी प्रेषणीयता—पाठक के रसास्वादन को काव्य की सबसे बड़ी कसौटी मानता हुआ कवि-कर्म को उसके चरम-लक्ष्य तक पहुँचाता है।

रस-सिद्धान्त की एक और विशेषता यह है कि वह काव्य के क्षेत्र में बाह्य-सौन्दर्य—अक्षर-विन्यास, शब्द-क्रीड़ा और उक्ति-वैचित्र्य के स्थान पर भाव-सौन्दर्य को प्रतिष्ठित करता है। वह भोक्ता के मस्तिष्क को गूढ़ चमत्कारपूर्ण पहेलियों में उलझाने की अपेक्षा उसके हृदय को भावावेष्टित करने को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। यदि, चित्र, नृत्य' संगीत आदि कलाओं के क्षेत्र में भी रस-सिद्धान्त को स्थापित किया जाय तो वहाँ भी इससे बाह्य रंग की चटक-मटक, जटिल चेष्टाओं, बाह्याडम्बरों एवं कृत्रिम प्रदर्शनों के स्थान पर भावोत्पादक सरल एवं स्वाभाविक पद्धतियों का विकास होगा।

राजनीतिक दृष्टिकोण से—आधुनिक युग में राजनीतिक मत-मतान्तरों के कारण भी साहित्य के क्षेत्र में अनेक वाद-बिवाद उठ खड़े हुए है किन्तु रस सिद्धान्त किसी भी वाद या मत से विशेष मैत्री या द्वेष न रखता हुआ भी सभी वादों को साहित्य की गोद में आश्रय देने को प्रस्तुत है। हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त लेकर आनेवाले गांधीवादी कलाकार से कहेगा–"आओ, तुम अधिकारी और अधिकृत के पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध का चित्रण कर सकते हो, यदि वह शुष्क उपदेश न बन जाय।" दूसरी ओर मार्क्सवादी से भी

वह कहेगा—"शोषित वर्ग की दरिद्रता का ऐसा वर्णन करो कि उससे करुण-रस की सृष्टि हो जाय, शोषक वर्ग के घृणित अत्याचारों का भी चित्रण कर सकते हो यदि वह वीभत्स रस की सृष्टि में समर्थ हो और यदि तुम में वीर एवं रौद्र की सफल अभिव्यक्ति की क्षमता है तो सशस्त्र क्रान्ति का भी आह्वान कर सकते हो।"

रस-सिद्धान्त इतनी उदारता बरतता हुआ भी साहित्य को कोरी राजनीति बनने से बचाता है। दार्शनिकों और धर्माचार्यों को भी वह अपने क्षेत्र में आने की अनुमति देता है यदि वे साहित्यिकता की परिधि में ही अपने क्रिया-कलापों को सीमित रक्खें।

न्यूनताएँ—रस-सिद्धान्त में कुछ न्यूनताएँ भी है। रस-सिद्धान्त के व्याख्याताओं ने जितना स्पष्टीकरण काव्य के भोग-पक्ष का किया है, उतना उसके सर्जन पक्ष का नहीं किया, उसके स्रष्टा का दृष्टिकोण सर्वथा उपेक्षित रह जाता है। दूसरे, रस-सिद्धान्त केवल सैद्धान्तिक या शास्त्रीय आलोचना के रूप में ही उपस्थित है, उसे व्यावहारिक आलोचना के रूप में विकसित करने की आवश्यकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस क्षेत्र में जो कार्य किया है उसे और आगे बढ़ाया जा सकता है। तीसरे, रस-सिद्धान्त मूलतः नाटक के दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया था, साहित्य की अन्य विद्याओं तथा अन्य कलाओं की दृष्टि से भी उसका परिवर्द्धन करना उपयोगी सिद्ध होगा। चौथे, रस सिद्धान्त के साथ कुछ प्राचीन परम्पराएँ एवं रूढ़ियाँ—यथा नायिका-भेद आदि सम्बद्ध हो गई हैं, उन्हें नये युग के अनुरूप परिवर्तित करना होगा। इसके अतिरिक्त कलापक्ष की दृष्टि से भी उसमें शैली सम्बन्धी कुछ तत्त्वों के समन्वय की गहरी आवश्यकता है।

रस-सिद्धान्त की ये न्यूनताएँ ऐसी नहीं हैं जो पूरी न की जा सकें। थोड़े से संशोधन एव परिवर्द्धन से इस सिद्धान्त को विश्व के एक प्रौढ़तम कला-सिद्धान्त के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। युग और देश के अनुसार समीक्षा के मान-दण्ड बदलते रहते हैं, किन्तु रस-सिद्धान्त एक ऐसा मानदण्ड है जो सभी युगों, और सभी देशो की काव्य-रचनाओं की समीक्षा का आधार सफलता पूर्वक बन सकता है। जब तक साहित्य का सम्बन्ध मानवीय-भावनाओं से रहेगा तब तक रस-सिद्धान्त का महत्त्व अक्षुण्ण है।

शृङ्गार रस का शास्त्रीय विकास

'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक संस्कृत के विभिन्न आचार्यों ने शृङ्गार-रस के विभिन्न अंगों का विकास किया है। इस विकसित स्वरूप की प्रमुख विशेषताओं को समझने के लिये हम अपने अध्ययन को इन उपशीर्षकों में बाँट सकते हैं—(१) शृङ्गार रस की परिभाषा और उसका स्वरूप, (२) शृङ्गार रस के भेद, (३) शृङ्गार रस के विभिन्न अवयव (क) विभाव (ख) अनुभाव (ग) संचारीभाव (घ) स्थायीभाव।

शृङ्गार रस की परिभाषा और उसका स्वरूप—विभिन्न आचार्यों ने शृङ्गाररस की परिभाषा इस प्रकार की है :—

(क) भरत मुनि—(नाट्य-शास्त्र)—"प्रायः सुख-प्रदान करने वाले इष्ट पदार्थों से युक्त ऋतु-मालादि से सेवित स्त्री और पुरुष से युक्त 'शृङ्गार' कहा जाता है[1]।

(ख) धनंजय (दशरूपक)—परस्पर अनुरक्त युवा नायक-नायिका के हृदय में, रम्यदेश, काल, कला, वेश, भोग आदि के सेवन के द्वारा आत्मा का प्रसन्न होना रति स्थायी भाव है। यही रति स्थायी भाव नायक या नायिका के अंगों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट होकर 'शृङ्गार रस' कहलाता है[2]।

(ग) भोज (शृङ्गार प्रकाश)—विशिष्ट इच्छाओं और चेष्टाओं को व्यक्त करने वाले आत्म-गुणों के उत्कर्ष का मूल, बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष,

---

१. **सुख प्रायेष्ट सम्पन्न ऋतु माल्यादि सेवकः**
पुरुषः प्रमदायुक्त शृंगार इति संज्ञितः। (नाट्य-शास्त्र ६।४६)

२. **रम्य देश कला काल वेष भोगादि सेवनैः**
प्रमोदात्मा रतिः सेव यूनोरन्योन्यरक्तयोः
प्रहृष्यमाणा शृंगारो मधुरांग विचेष्टितैः। (दशरूपक ४।४८। पृ० २५३)

प्रयत्न संस्कारों को सबसे बड़ा कारण, आत्मा का अहंकार विशेष और सहृदयों द्वारा आस्वादित होने वाला रस शृङ्गार कहलाता है[1]।

(घ) विश्वनाथ (साहित्य-दर्पण)—कामदेव के अंकुरित होने को शृङ्गार कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण उत्तम प्रकृति का रस शृङ्गार कहलाता है[2]।

(ङ) जगन्नाथ (रसगंगाधर)—"शृङ्गार रस का स्थायीभाव रति है। स्त्री-पुरुष की एक दूसरे के विषय में प्रेम नामक जो चित्तवृति होती है, उसको रति संज्ञक स्थायीभाव कहते हैं। वही प्रेम, यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो, तब व्यभिचारी भाव कहलाता है[3]।

उपर्युक्त परिभाषाओं में से भोज की परिभाषा को छोड़ कर शेष में पर्याप्त समानता है। इन सभी में नायक और नायिका का उल्लेख किया गया है जिसका तात्पर्य है, सम-लैंगिक व्यक्तियों की मैत्री भावना या प्रीति शृङ्गार के क्षेत्र में नही आती। दो भिन्न लैंगिक व्यक्तियों का प्रेम भी वासना-रहित हो सकता है--यथा भाई और बहिन का--किन्तु काम, संभोग, शारीरिक चेष्टाओ आदि का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि शृङ्गार के अन्तर्गत काम समन्वित प्रेम (Sexual Love) का ही समावेश है। रसगंगाधरकार द्वारा गुरु, देवता, पुत्र विषयक रति को व्यभिचार बताना भी इसी तथ्य का समर्थन करता है। इसके अतिरिक्त इन विद्वानों ने शृङ्गार के भेदों के निरूपण में आलिंगन, चुम्बन आदि काम-क्रियाओं का वर्णन किया है। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि शृङ्गार रस में विशुद्ध प्रीति, स्नेह, वात्सल्य, मैत्रीभावना के लिये कोई स्थान नहीं है।

भोजराज ने शृङ्गार के दो अर्थ किये हैं—(१) व्यापक अर्थ में अभिमान शृङ्गार और (२) साधारण अर्थ में स्त्री-पुरुष का प्रेम। उन्होंने

१. **शृंगारो हि नाम विशिष्टेष्ट चेष्टाभिव्यंजकानामात्मगुण संपदामुत्कर्ष बीजं बुद्धि सुख दुःखेछाद्वेष प्रयत्न संस्कारातिशय हेतुः आत्मानोऽहंकार विशेषः सचेतसा रस्यमानः रस इत्युच्यते।**

—शृं० प्र० २ (पृ० ३५३—४६४)

२. **शृङ्ग हि मन्मथोभदेवस्तदागमन हेतुकः। उत्तम प्रकृति प्रायो रसः शृंगार इष्यते।** (साहित्य-दर्पण ३।१८८)

३. **स्त्री पुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चितवृति विशेषोरति स्थायिभावः गुरु देवता पुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी।** पृ० १२९

अहंकार को समस्त रसों की उत्पत्ति का मूल कारण बताते हुए प्रेम की उत्पत्ति भी इसी से सिद्ध की है, तथा इस व्यापक रूप को 'अभिमान-शृङ्गार' की संज्ञा दी है। पर उन्होंने "शृङ्गार प्रकाश" के तेरहवें अध्याय में शृङ्गार के भेदोपभेदों का विवेचन करते समय नायक-नायिका के पारस्परिक सम्बन्ध का जैसा विवेचन किया है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि रस के आठ भेदों के अन्तर्गत आने वाले शृङ्गार को वे भी काम-समन्वित प्रेम से ही सम्बन्धित मानते हैं।

शृङ्गार के भेद—प्रारम्भ में आचार्यों ने शृङ्गार का वर्गीकरण दो प्रकार से किया—(१) नायक के दृष्टिकोण के आधार पर और (२) प्रेम की स्थूल अवस्थाओं—संयोग और वियोग के अनुसार। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र मे दोनों प्रकार के वर्गीकरण मिलते हैं। नायक के दृष्टिकोण के आधार पर उन्होंने शृङ्गार रस के तीन भेद किये।[1] 'धर्म-शृङ्गार'—जहाँ नायक गृहस्थ-धर्म के अनुसार अपनी पत्नी से सम्बन्ध स्थापित करता है।[2] (२) जहाँ धन के द्वारा नायक परकीया या सामान्या से सम्बन्ध स्थापित करता है।[3] इसे 'अर्थ शृङ्गार' कहा गया है और (३) जहाँ विशुद्ध काम की प्रेरणा से नायक-नायिका मिलते हैं, उसे 'काम शृङ्गार' कहा गया है।[4]

आगे चलकर भोजराज ने 'मोक्ष-शृङ्गार' नाम से एक भेद और बढ़ा दिया[5], पर उनका यह मोक्ष-शृङ्गार, भरत मुनि के 'धर्म-शृङ्गार' में ही समन्वित हो जाता है, अतः यह अनावश्यक था। भोज के परवर्ती विद्वानों ने इस वर्गीकरण को त्याग दिया। किन्तु नायिका के तीन भेदों—स्वकीया, परकीया और सामान्या के अन्तर्गत यही वर्गीकरण अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान है।

शृङ्गार के अवस्थानुसार भरतमुनि ने दो ही भेद किये—संभोग और विप्रलम्भ। आगे चलकर धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में एक तीसरा भेद

१. **त्रिविधाकृति शृंगारो ज्ञेयो धर्मार्थ काम कृतः।**
—ना० शा०, अध्याय २०।७६, पृ० २३२।

२. **नाट्य-शास्त्र—भरतमुनि—सम्पादक बटुक नाथ (१६२६);**
अ० २०।७७।

३ **वही** अ० २०।७८।

४. **वही** अ० २०।७६।

५. **शृङ्गार-प्रकाश;** अध्याय २१।

अयोग (पूर्वानुराग) और बढ़ाया। प्रारम्भिक मिलनाकांक्षा और संयोग के अनन्तर होने वाली विरह वेदना के अन्तर को ध्यान में रखते हुए, यह तीसरा भेद आवश्यक था। धनंजय ने अयोग शृङ्गार की १० अवस्थाओं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता और मरण[१]—का निरूपण किया। 'काम-सूत्र' और 'नाट्य-शास्त्र' में ये दशाये 'काम-दशा' शीर्षक के अन्तर्गत दी हुई हैं, अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि धनंजय ने भी इन्हें इन ग्रन्थों से ही ग्रहण किया होगा। विप्रलम्भ के भी दो भेद—मान और प्रवास 'दशरूपक' में मिलते हैं। 'शृङ्गार-प्रकाशकार ने इस वर्गीकरण में परिवर्तन करते हुए विप्रलम्भ के चार भेद किये—प्रथमानुराग, मान, प्रवास और करुण। इस प्रकार अयोग शृङ्गार का समन्वय प्रथमानुराग विप्रलम्भ में हो गया, जिसके फलस्वरूप अयोग शृङ्गार की १० कामदशायें भी विप्रलम्भ से सम्बन्धित हो गईं।

मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने भी शृङ्गार के उपर्युक्त दो भेदों को ही स्वीकार किया। काव्य-प्रकाशकार में संयोग के भी अनेक भेद—दर्शन, आलिगन, चुम्बन, जलक्रीड़ा, आदि किये जो महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। रसगंगाधर-कार ने संयोग और विप्रलम्भ के सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण यह किया कि यदि नायक-नायिका के एक स्थान पर रहते हुए भी यदि किसी कारण से दोनों में मन-मुटाव है तो वह वियोग ही कहलावेगा[२]। इस प्रकार उन्होंने इस वर्गीकरण का आधार स्थूल-सामीप्य के स्थान पर सूक्ष्म मानसिक चित्तवृत्ति को दे दिया।

इस प्रकार शृङ्गार का संयोग, वियोग सम्बन्धी वर्गीकरण ही सर्व-प्रचलित रहा, किन्तु प्रेम की प्रकृति और उसके स्वरूप-भेद की दृष्टि से यह विश्लेषण अपर्याप्त है। चाहे एकनिष्ठ नायक का भावना प्रधान प्रेम हो, या परकीया के साथ उच्छृङ्खल सम्बन्ध हो अथवा किसी कामातुर नायक का क्षणिक शारीरिक मिलन हो—सभी प्रकार के शृंगार को इस वर्गीकरण के अनुसार एक ही कोटि में रखना पड़ता है। वस्तुतः संयोग और वियोग तो एक ही प्रेमी-युगल के जीवन की दो अवस्थाएँ हैं, अतः उन्हें शृङ्गार के भेद न कह कर दो अवस्थाएँ बताना अधिक उचित होगा।

१. दशरूपक—धनंजय, चतुर्थ प्रकाश।
२. रस-गंगाधर—पंडित राज जगन्नाथ, पृष्ठ–१३८।

शृङ्गार रस के विभिन्न अवयव—(क) विभाव पक्ष : शृङ्गार रस के विभाव पक्ष के अवान्तर भेद इस प्रकार किये गए है—(१) आलम्बन और (२) उद्दीपन। आलम्बन के दो भेद—नायक और नायिका किए गए हैं।

भरतमुनि ने नायक के ८ गुणों—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गांभीर्य, ललित, औदार्य, और तेज का वर्णन किया है।[1] प्रकृति की दृष्टि से भी नायक के ५ भेद—चतुर, ज्येष्ठ, मध्यम, अधम, संप्रवृद्ध किये गये है।[2] परवर्ती आचार्यों में भोज ने नायक के भेदों का सबसे अधिक विस्तृत एवं समुचित विवेचन किया है। उन्होंने नायक के भेद गुण, प्रकृति और परिग्रह के आधार पर इस प्रकार किये है[3]—

(१) गुणानुसार तीन भेद —उत्तम, मध्यम और अधम।

(२) प्रकृति के अनुसार तीन भेद —सात्विक, राजस और तामस।

(३) प्रवृत्ति के अनुसार चार भेद —अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट।

(४) परिग्रह (प्रेयसियों की संख्या) के अनुसार—(१) असाधारण एक पत्नी व्रतधारी (२) साधारण, एक से अधिक से प्रेम करने वाला।

भोज के परवर्ती आचार्यों ने प्रवृत्ति सम्बन्धी भेद को ही प्रचलित रक्खा, शेष को उन्होंने त्याग दिया। अपने अति रसिक दृष्टिकोण के कारण इन्होने अपनी सारी शक्ति नायिका-भेद में ही लगा दी, अस्तु, नायक के भेद उपेक्षित रह गये।

नायिका-भेद—'नाट्य-शास्त्र' में नायिका के भेद निम्नलिखित दृष्टि-कोणों से किए गए हैं।[4] (१) प्रकृति के अनुसार तीन भेद—उत्तम, मध्यम, अधम। (२) यौवनानुसार—प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ। (३) सामाजिक दृष्टि से तीन भेद—वेश्या, कुलजा और प्रेष्या। (४) शील की दृष्टि से २१ भेद। (५) अवस्थानुसार ८ भेद।

परवर्ती आचार्यों ने इन में से चतुर्थ वर्गीकरण को त्याग दिया। पर उन्होंने शेष वर्गों को नया रूप देकर उनके अवान्तर भेदों की संख्या सहस्रो तक पहुँचा दी। भोज ने अपने 'शृङ्गार-प्रकाश' में विधवा को भी 'पुनर्भूः' भेद के अन्तर्गत स्थान दिया है, किन्तु परवर्ती आचार्यो को यह स्वीकार नही

---

१. नाट्य-शास्त्र—भरत मुनि—अ०, २०।३१–३९।

२. वही; २५।५४–६३।

३. शृङ्गार-प्रकाश—भोजराज, अध्याय १४।

४. नाट्य-शास्त्र —अध्याय २४।

हुआ। 'नायिका-भेद' के क्षेत्र में विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' और भानुदत्त की 'रस-मंजरी' ने सबसे अधिक विस्तार वृद्धि की।

नायिका के अलंकार—भरतमुनि ने नायिका की स्वाभाविक विशेषताओं और चेष्टाओं को दो वर्गों में रक्खा[1]—(१) स्वाभाविक अलंकार और (२) अयत्नज अलंकार। पहले वर्ग में ये दस चेष्टायें गिनाई गई हैं—१—लीला, २—विलास, ३—विच्छित्ति, ४—विभ्रम, ५—किलकिंचित, ६—मोट्टायित, ७—कुट्टमित, ८—विव्वोक, ९—ललित, १०—विहृत। इन्हें हाव या हेला भी कहा गया है। दूसरे वर्ग में ६ अयत्नज अलंकार रखे गये हैं। शोभा, कान्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता, उदारता। आगे चलकर साहित्य-दर्पणकार ने इन अलंकारों की संख्या २८ तक पहुँचा दी।

उद्दीपन—शृङ्गार-रस के उद्दीपन रूप में भरतमुनि ने ऋतु-माल्यादि का उल्लेख किया है, किन्तु इसका सांगोपांग विस्तार करने का श्रेय 'शृङ्गार-प्रकाश' के रचयिता को है। भोजराज ने उद्दीपन सामग्री को मुख्यतः ५ वर्गों में विभाजित किया है।[2] (१) ऋतु, (२) बाह्य-प्रसाधन जैसे मलय, अंगरागादि, (३) प्राकृतिक दृश्य—उपवन, सरिता, पर्वतादि (४) काल-रात्रि, मध्यान्हादि और (५) ६४ कलाएँ।

अनुभाव—भोजराज के अतिरिक्त प्रायः सभी आचार्यों ने अनुभावों का वर्गीकरण चार प्रकार से किया है: (१) सात्विक अनुभाव (२) शारीरिक अनुभाव (३) मानसिक अनुभाव और (४) आहार्य (वेश-भूषा सम्बन्धी)। सात्विक अनुभावों के भी आठ भेद माने गए है—(१) स्तम्भ (२) प्रलय (३) रोमाच (४) स्वेद (५) वैवर्ण्य (६) कन्ध (७) अश्रु (८) वैस्वर्य।

भोजराज का वर्गीकरण इस प्रकार है।[3] (१) मन से आरम्भ होने वाले अनुभाव: भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, उद्दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य, औदार्य, स्थैर्य और गाम्भीर्य (२) वागारम्भ अनुभाव–अलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सदेश, अतिदेश, निर्देश, अपदेश, और व्यपदेश। (३) बुद्धयारम्भ और (४) शरीरारम्भ—लीला, विलास,

---

१. नाट्य-शास्त्र—अ० २४।
२. शृङ्गार-प्रकाश—अ० १६।
३. वही अ० १७।

विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, विहृत, कृदित और केलि।

भोजराज के वर्गीकरण की मुख्य विशेषतायें ये हैं—(१) अन्य आचार्यों ने सभी रसों के सामान्य अनुभावों का वर्णन किया है जबकि भोजराज ने केवल शृङ्गार-रस से सम्बन्धित अनुभावों का ही विवेचन किया है। (२) नायिका के अलङ्कारों को भी अनुभावों में सम्मिलित कर लिया गया है। नायिका की शारीरिक चेष्टाओं में तो भाव की प्रेरणा स्वीकार की जा सकती है। किन्तु भावना से असम्बद्ध सामान्य अलङ्कारों को भी अनुभावों में स्थान देना उचित नहीं कहा जा सकता। (३) नायक-नायिका की उक्तियाँ भी भावदशा के विकास का परिचय देती हैं अतः इन्हें 'वागारम्भ अनुभावों' में स्थान दे कर भोजराज ने स्तुत्य प्रयत्न किया था, फिर भी उनके अवान्तर भेदों का संख्या-विस्तार अनावश्यक था। भोजराज का वर्गीकरण मौलिक होते हुए भी अस्पष्ट है, सम्भवतः इसी से परवर्ती आचार्यों ने इसे ग्रहण नहीं किया।

संचारी भाव—संचारीभावों की संख्या ३३ मानी गई है जिसके सम्बन्ध में प्रायः सभी विद्वान् एक मत है। संचारी भाव ये हैं--(१) निर्वेद (२) ग्लानि (३) शंका (४) असूया (५) मद (६) श्रम (७) आलस्य (८) दैन्य (९) चिन्ता (१०) मोह (११) स्मृति (१२) धृति (१३) क्रीड़ा (१४) चपलता (१५) हर्ष (१६) आवेग (१७) जड़ता (१८) विषाद (१९) गर्व (२०) औत्सुक्य (२१) निद्रा (२२) अपस्मार (२३) स्वप्न (२४) अमर्ष (२५) विबोध (२६) अवहित्था (२७) उग्रता (२८) मति (२९) व्याधि (३०) उन्माद (३१) त्रास (३२) वितर्क (३३) मरण।

भोजराज ने संचारीभावों को भी स्थायीभावों के समकक्ष स्थान देते हुए प्रतिपादित किया कि संचारी भावों में भी रस-निष्पति की क्षमता है।

स्थायी भाव—शृङ्गार रस के स्थायी भाव के रूप में रति का उल्लेख करते हुए विभिन्न आचार्यों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

१—भरतमुनि : "तत्र रतिर्नाम आमोदात्मको भावः" ना० शा० ७।८

२—दशरूपककार : "प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्य रक्तयोः" ४।४८

३—पं० राज जगन्नाथ : स्त्रीपुसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्ति विशेषो रतिः स्थायीभाव (रसगंगाधरः पृ० १३०)

४—विश्वनाथ : रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्

—साहित्य-दर्पण ३।१८५

प्रायः सभी आचार्यों ने रति के मुख्यतः दो लक्षण स्वीकार किये हैं—(१) स्त्री-पुरुष की पारस्परिक अनुरक्ति और (२) प्रसन्नता प्रदान करने वाला भाव। कुछ आधुनिक विद्वान रति को एक ऐसा व्यापक स्वरूप देना चाहते हैं जिसमें दो समवयस्क मित्रों के प्रेम, भाई-बहिन के स्नेह, पिता-पुत्र के वात्सल्य-भाव का समावेश हो सके। किन्तु जैसा कि पीछे दी हुई शृङ्गार रस की परिभाषाओं से स्पष्ट है, शृङ्गार रस से सम्बन्धित रति में भिन्न लैंगिक व्यक्तियों के काम समन्वित प्रेम (Sexual Love) के लिये ही स्थान है : अन्यथा वात्सल्य जैसे रस की अलग स्थापना की आवश्यकता नहीं पड़ती।

रति के भेदोपभेद करने का श्रेय संस्कृत आचार्यों में एक मात्र भोजराज को है। उन्होंने शृङ्गार प्रकाश में रति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण करते हुए उसके कुल १२२८८ भेदोपभेद किए हैं।[1] इनमें महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण यह है[2]—(१) नित्यानुराग (२) नैमेत्तिकानुराग (३) सामान्यानुराग (४) विशेषानुराग (५) प्रकाशानुराग (६) प्रच्छन्नानुराग (७) अकृत्रिमानुराग और (८) कृत्रिमानुराग। इन भेदोपभेदों में प्रेम के सभी स्वरूपों और उसकी परिस्थितियों, अवस्थाओं आदि का समावेश हो जाता है।

निष्कर्ष—अस्तु, शृङ्गार रस के शास्त्रीय रूप के विकास के सम्बन्ध में हम निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

(१) शृङ्गार-रस का स्थायी भाव दो भिन्न लैंगिक व्यक्तियों का काम समन्वित प्रेम है।

(२) शृङ्गार-रस के स्वरूप की दृष्टि से भरत मुनि ने तीन भेद किये थे—काम-शृङ्गार, अर्थ-शृङ्गार, और धर्म-शृङ्गार। भोजराज के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने इस वर्गीकरण पर ध्यान नहीं दिया।

(३) भरत मुनि द्वारा शृङ्गार के अवस्थानुसार किये गये वर्गीकरण का परवर्ती आचार्यों द्वारा पर्याप्त विकास हुआ। आगे चलकर कुल भेद चार हो गये—अयोग, संयोग, मान और प्रवास। अयोग और विप्रलम्भ के भी १० उपभेद किये गये।

(४) शृङ्गार-रस के नायक का सर्वोत्कृष्ट विवेचन भोजराज ने किया। उन्होंने चार दृष्टिकोणों से—गुणानुसार, प्रकृति के अनुसार, प्रवृत्ति के अनुसार

---

१. शृङ्गार-प्रकाश; अ० १३।

२. वही; अध्याय २२।

और परिग्रह के अनुसार--नायक के भेदोपभेद किये किन्तु परवर्ती आचार्यों ने केवल प्रवृत्ति सम्बन्धी विश्लेषण को ही ग्रहण किया।

(५) नायिका के भेदोपभेदों की संख्या में भरत मुनि के अनन्तर पर्याप्त वृद्धि हुई। भोजराज ने विधवा को भी नायिका-भेद में स्थान दिया था, किन्तु इसे परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया।

(६) शृङ्गार रस की उद्दीपन सामग्री का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए भोजराज ने इसके पाँच अंगों का--(१) ऋतु, (२) बाह्य प्रसाधन (३) प्राकृतिक दृश्य (४) काल (५) ६४ कलाएँ--विवेचन किया, जबकि परवर्ती आचार्यों ने केवल ऋतु एवं प्राकृतिक दृश्यों पर ही विचार किया है।

(७) अनुभावों और संचारी भावों के क्षेत्र में भोजराज को छोड़कर शेष आचार्य प्रायः एक मत हैं।

वस्तुतः भोजराज को छोड़कर प्रायः शेष सभी विद्वानों ने भरतमुनि के ही विवेचन को मूलाधार बनाया है। भोजराज अपने मौलिक दृष्टिकोण एवं सूक्ष्म विवेचन के लिये शृङ्गार-रस के आचार्यों में सर्वोच्च स्थान के अधिकारी हैं किन्तु वे हर बात को अत्युक्ति की सीमा तक पहुँचा देते हैं तथा उन्होंने कुछ ऐसी विरोधी बातें कही हैं—जैसे रस एक ही है, संचारी और स्थायी भावों में कोई अन्तर नहीं, भावों से रस की नहीं अपितु रस से भावों की उत्पत्ति होती है—जिससे परवर्ती आचार्यों की श्रद्धा प्राप्त करने में वे असमर्थ रहे। इसके अतिरिक्त भेदों की संख्या-विस्तार के प्रति भी उनका इतना अधिक आग्रह रहा कि जिसके फलस्वरूप उनका विवेचन जटिल और दुरूह बन गया। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैसा सूक्ष्म विश्लेषण अब तक शृङ्गार-रस के विभिन्न अंगों का हुआ है, वैसा किसी अन्य रस का नहीं हुआ।

शृङ्गार रस : एक विश्लेषण

शृङ्गार के तत्त्व—पिछले अध्याय में शृङ्गार-रस के स्वरूप पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया गया था कि शृंगार की परिधि में केवल दाम्पत्य-प्रेम का ही समावेश हो सकता है, विशुद्ध प्रेम, स्नेह, वात्सल्यादि का नहीं। शृङ्गार-भावना का विश्लेषण करने पर हम उसमें मुख्यतः तीन तत्त्व मिश्रित पाते हैं—(१) काम, (२) सौन्दर्य और (३) प्रेम। शृङ्गार की परिभाषा करते समय प्रायः सभी आचार्यों ने दो भिन्न लैंगिक व्यक्तियों (नायक-नायिका) की स्थिति स्वीकार की है जो काम-तत्त्व से सम्बन्ध रखती है। उपवन, ऋतु, माला आदि उपकरणों का वर्णन तथा पारस्परिक अनुरक्ति का उल्लेख शृङ्गार में क्रमशः सौन्दर्य और प्रेम के समन्वय का परिचायक है। रस-दशा की परिणति में आश्रय की हृदय-स्थित वासना आलम्बन की विशेषताओं से उद्दीप्त होकर भावना रूप में परिणत हो जाती है—इसी का साहित्य के माध्यम से आस्वादन रस कहलाता है। शृंगार-रस के क्षेत्र में उपर्युक्त वासना को 'काम' की, आलम्बन की विशेषताओं को 'सौन्दर्य' की, एवं विकसित भावना को 'प्रेम' की संज्ञा दे सकते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण—मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक भावना किसी न किसी मूल-प्रवृत्ति से सम्बन्धित होती है। काम को मूल प्रवृत्तियों में से एक माना गया है तथा इसका प्रेम-भावना से गहरा सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। अस्तु, शृंगार में काम-वासना की स्थिति अनिवार्यतः रहती है।

सौन्दर्य का शृंगार से सम्बन्ध—प्रत्येक स्थायी भाव के आलम्बन में एक प्रमुख विशेषता अपेक्षित होती है। जिस प्रकार हास्य के आलम्बन में विद्रूपता, भयानक में विकटता, करुणा में दीनता या दुर्बलता, वीर में पुष्टता, और वीभत्स में कुरूपता का सन्निवेश रहता है, उसी प्रकार शृंगार-रस के आलम्बन में सुन्दरता की स्थापना अनिवार्य होती है। संसार के समस्त शृङ्गारी साहित्य में नर-नारियों के बीच आकर्षण उत्पन्न करने वाला जादू सौन्दर्य ही है। वैदिक युग के पुरुरवा और उर्वशी, महाभारत के उषा और

अनिरुद्ध, कालिदास के दुष्यन्त-शकुन्तला, और भवभूति के मालती-माधव से लेकर हिन्दी कवियों के राधा-कृष्ण एवं रत्नसेन-पद्मावती तक का प्रणय सम्बन्ध सौन्दर्य की प्रेरणा से ही स्थापित होता है, और तो और मर्यादाशील तुलसी के दृढ़ चरित्र राम के हृदय मे भी अनुराग का अंकुर सौन्दर्य के प्रभाव से ही प्रस्फुटित हुआ था :—

"देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा।"

(जनक वाटिका प्रसंग)

पाश्चात्य कवियों का प्रथम दृष्टि से ही उत्पन्न होने वाला प्रेम (Love at first sight) भी सौन्दर्य की करामात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अस्तु, इसके सम्बन्ध में अधिक विवेचना की आवश्यकता नहीं, साहित्यिक एवं व्यावहारिक जगत् में सौन्दर्य और प्रेम के घनिष्ठ सम्बन्ध के पर्याप्त प्रमाण देखे जा सकते हैं।

प्रेम का स्पष्टीकरण—शृङ्गार से सम्बन्धित प्रेम, काम-समन्वित प्रेम है, किन्तु फिर भी उसे कोरी कामुकता से भिन्न समझना चाहिए। कामुकता या काम-वासना का सम्बन्ध केवल शारीरिक मिलन तक ही सीमित है : उसके लिए आलम्बन की सुन्दरता भी अपेक्षित नहीं होती। काम वासना में जहाँ चंचलता, अस्थिरता, दुर्बलता, स्वार्थमयता एवं अनेकोन्मुखता रहती है वहाँ प्रेम में गंभीरता, दृढ़ता, शक्तिमता, निस्वार्थता एवं एकोन्मुखता होती है। अस्तु, वासना खान से निकली हुई अशुद्ध धातु की भाँति शरीर की एक प्राकृतिक वृत्ति मात्र है, जबकि धातुओं के संशोधन, परिष्कार एवं बहुमूल्य द्रव्यों के योग से निर्मित रसायन की भाँति प्रेम में प्रकृति एवं गुणों की दृष्टि से वासना से गहरा भेद रहता है।

शृङ्गार की तीन कोटियाँ—उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि शृङ्गार मे काम, सौन्दर्य एवं प्रेम तीनों तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर फिर भी किसी रचना में तीनों तत्त्वों का उचित समन्वय होना कठिन है। कवियों की रुचि एवं अनुभूति के भेद से उनकी रचना में कोई एक तत्त्व प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। अतः इस आधार पर हम शृङ्गार रस की रचनाओं को तीन कोटियों में विभाजित कर सकते है—(१) काम-वासना-प्रधान (२) सौन्दर्य-प्रधान (३) प्रेम-प्रधान। इनमें चित्रित शृङ्गार को क्रमशः कामुकता, रसिकता एवं प्रणय तथा उनके नायक को क्रमशः कामुक, रसिक एवं प्रेमी कहा जा सकता है। कामुक के लिए यह आवश्यक नहीं कि

नायिका सुन्दर भी हो, उसका युवती होना पर्याप्त है, जबकि एक रसिक, नायिका के सौन्दर्य की अपेक्षा रखता है। रसिक और प्रेमी में यह अन्तर है कि जहाँ रसिक अनेक सुन्दरियों के प्रति आकृष्ट हो सकता है वहाँ प्रेमी की अनुरक्ति एक विशिष्ट सुन्दरी में ही होगी। इस प्रकार कामुक, रसिक एवं प्रेमी का आलम्बन-क्षेत्र उत्तरोत्तर संकुचित होता जाता है, साथ ही उसी परिमाण में उनके भाव-क्षेत्र में विशदता एवं गंभीरता आ जाती है, अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि रस-दशा का पूर्ण विकास प्रणय-प्रधान शृंगार के चित्रण से ही संभव है। कोरी कामुकता या रसिकता के चित्रण से स्थायी-भाव अपने उत्कर्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। अस्तु, शृंगार के क्षेत्र से स्थूल, नग्न एवं अश्लील दृश्यों के अतिचित्रण का बहिष्कार हम नैतिक दृष्टि से ही नहीं, भावना के विकास की दृष्टि से भी कर सकते हैं।

शृङ्गारिक तत्त्वों का विशेष अध्ययन

पिछले अध्याय में शृङ्गार-रस के तीन प्रमुख तत्त्वों का उल्लेख किया जा चुका है। शृङ्गार-रस की सूक्ष्मताओं को समझने में इन तत्त्वों का विशेष अध्ययन बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। इनमें से प्रत्येक तत्त्व अपना अलग शास्त्र या दर्शन रखता है। भारतीय काम-शास्त्रीय ग्रंथों में जहाँ काम के व्यावहारिक स्वरूप की सूक्ष्म व्याख्या की गई है वहाँ पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों ने 'ऐस्थेटिक्स' (Aesthetics) के अन्तर्गत सौन्दर्य-सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किये हैं। विभिन्न कवियों और दार्शनिकों द्वारा प्रेम तत्त्व की सूक्ष्मताओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अतः यहाँ उपर्युक्त शास्त्रों के आधार पर इन तत्त्वों के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर लेना उचित होगा।

(१) काम-तत्त्व

काम शब्द को प्रायः दो अर्थों में लिया जाता है; व्यापक अर्थ में यह इच्छा का पर्यायवाची बन कर हमारे जीवन के चार प्रधान उद्देश्यों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्रतिष्ठित है। संकुचित अर्थ में यह शारीरिक मिलन की प्रवृत्ति को सूचित करता है।

व्यापक अर्थ—काम को व्यापक अर्थ में ग्रहण करने वाले भारतीय विद्वानों में से श्री भोजराज (शृङ्गार प्रकाश के रचयिता) का तथा पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों में श्री फ्रायड महोदय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। श्री भोजराज (१००५–१०५४ ई०) ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित ४१ भावों (स्थायीभाव—८ और संचारी भाव—३३) के मूल में केवल एक भाव—अभिमान शृङ्गार को स्वीकार करते हुए अन्य सभी भावों की उत्पत्ति इसीसे मानी है।[1] उनके विचारानुसार—"हम संसार की विभिन्न वस्तुओं का आस्वादन अपने अहं के कारण ही कर पाते हैं।·····हम किसी से प्रेम क्यों

---

१. शृङ्गार-प्रकाश; भोजराज–अध्याय ११।

करते हैं ? प्रेम हमे अच्छा क्यों लगता है ? क्योंकि इससे हमारे अहं की तृप्ति होती है। यदि हमें कोई सुन्दर युवती प्रेम करती है तो हमारी प्रसन्नता का कारण यह है कि हमें वह चाहती है। उसके प्रेम के प्रत्युत्तर में हम प्रेम इसलिये करते हैं, क्योंकि हम चाहते हैं कि हमें कोई प्रेम करे।"[1]

भोजराज की यह व्यापक शृङ्गार-भावना फ्रायड महोदय के मनोविश्लेषण[2] से गहरा साम्य रखती है। दोनों में निम्नांकित बातें समान रूप से मिलती हैं :--(१) सभी मानवीय प्रवृत्तियों के मूल में व्यक्ति का अहं कार्य करता है। (२) विभिन्न भावनाएँ अहं मिश्रित काम के ही परिवर्तित रूप हैं। (३) अहं का कारण भोज ने पूर्व जन्मों के संस्कारों को माना है जब कि फ्रायड ने—पूर्व जन्म के तो नहीं--किन्तु इसी जन्म के पूर्व संस्कारों को लिबिडो (Libido) का प्रेरक कारण माना है।

अस्तु, भोज और फ्रायड में मूलतः कोई अन्तर नही है किन्तु भोज ने अपने एक मात्र-रस अभिमान शृङ्गार का प्रतिपादन साहित्य की दृष्टि से किया था तथा फ्रायड ने मनोविज्ञान एवं व्यक्ति की समस्याओं की दृष्टि से; अतः दोनों के विषय के प्रतिपादन में बहुत अन्तर आगया है। जहाँ तक काम के स्वरूप का सम्बन्ध है भोज का विवेचन अधिक व्यावहारिक, सूक्ष्म एवं विश्वासोत्पादक है। प्रस्तुत प्रबन्ध में शृङ्गार रस को भरतमुनि की धारणा के अनुसार ग्रहण करते हुए उसके संकुचित अर्थ को स्वीकार किया गया है, अतः काम के व्यापक रूप का विस्तृत अध्ययन यहाँ अपेक्षित नहीं है।

संकुचित अर्थ—संकुचित अर्थ में 'काम' शब्द केवल स्त्री और पुरुष के शारीरिक मिलन की प्रवृत्ति को सूचित करता है। शृङ्गार-रस के तत्त्वों में उल्लेखित काम को हमने संकुचित अर्थ में ही ग्रहण किया है। काम के विभिन्न अंगों का विवेचन एवं विश्लेषण भारतीय काम-शास्त्रों में हुआ है, जिनमें वात्स्यायन का 'काम-सूत्र' उल्लेखनीय है। काम-सूत्रकार ने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसे संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(क) काम तत्त्व ही शरीर की स्थिति (उत्पत्ति) का कारण है अतः इसका महत्त्व कम नही।[3]

---

१. शृङ्गार प्रकाश; —भोजराज–अध्याय ११।
२. मनोविश्लेषण और उसके जन्मदाता— ले० संतोष गार्गी।
३. कामसूत्र--वात्स्याय--अध्याय १।२।४३।

(ख) शारीरिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष की काम शक्ति के तीन स्तर निश्चित किये गये हैं।[१] स्त्री पुरुष की पूर्ण तृप्ति के लिये दोनों मे समान स्तर की काम-शक्ति का होना अनिवार्य है।

(ग) स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध को मधुरता प्रदान करने वाला स्रोत मुख्यतः शारीरिक मिलन जन्य सुख है। यदि दोनों इस क्षेत्र में एक दूसरे की पूर्ण तृप्ति में समर्थ न हों तो इसके दुष्प्रभाव से उनके प्रेम में भी अन्तर आने लगेगा।[२]

(घ) संयोग क्रिया के मुख्यतः ८ अग हैं—
(१) चुम्बन, (२) नख छेद्य, (३) दशन-छेद्य, (४) आलिगन, (५) सह-शयन, (६) सीत्कार, (७) अधोशयन (८) क्रिया विशेष।[३]

(ङ) इनमें से भी प्रत्येक के आठ-आठ उपभेद करते हुए लेखक ने बताया है कि किस-किस अवस्था एवं परिस्थिति में किसका प्रयोग उचित है। विवाहित व्यक्तियों और अविवाहित प्रेमी प्रेमिकाओं के आलिगन-चुम्बनादि के भेद पर भी विस्तृत प्रकाश डाला गया है।[४]

(च) काम समन्वित प्रेम के सात भेद बताये गये हैं[५]—
१—रागवद—प्रथम दृष्टि से उत्पन्न होने वाला प्रेम।
२—आहार्य राग—शनैः शनैः विकसित प्रेम।
३—कृत्रिम प्रेम—विशेष उद्देश्य से।
४—व्यवहित—प्रिया के अभाव में अन्य स्त्री से।
५—पोटारत—निम्न जाति की स्त्री से क्षणिक सम्बन्ध।
६—खलरत—उच्च जाति की स्त्री से क्षणिक सम्बन्ध।
७—अयन्त्रित—पति-पत्नी का सम्बन्ध।

उपर्युक्त वर्गीकरण कई कारणों से दोषपूर्ण है। इसका आधार कोई एक नहीं है, कहीं भावना को आधार माना गया है तो कहीं जाति की उच्चता या नीचता को। वस्तुतः यह विश्लेषण काम-सूत्रकार के युग की

---

१. वही; द्वितीय अधिकरण, प्रथम प्रकरण।
२. वही; अधिकरण २, प्रथम प्रकरण।
३. वही; २।२।
४. वही; २।३।
५. वही; २।१०।

सामाजिक अवस्था का परिचायक मात्र है; सभी युगों की प्रेम-पद्धतियों पर इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त युवतियों के हृदय गत मनोभावों को जानने की विधियों का परिचय देते हुए काम-सूत्रकार ने नारी की विभिन्न चेष्टाओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। अविवाहिता युवतियों एवं नव-विवाहिता पत्नियों का प्रेम प्राप्त करने के लिये भी लेखक ने कई उपाय बताये हैं।[1]

कहना न होगा कि परवर्ती काव्य-शास्त्रियों और कवियों ने शृङ्गार रस सम्बन्धी विवेचन एवं निरूपण में 'काम-सूत्र' की सामग्री का प्रयोग भारी मात्रा में किया है, जिसका उल्लेख आगे प्रसंगानुसार किया जायगा।

(२) सौन्दर्य-तत्त्व

सौन्दर्य की परिभाषा—सौन्दर्य क्या है? किसी वस्तु को सुन्दर या असुन्दर बताना जितना सरल है, सौन्दर्य की परिभाषा करना उससे कहीं अधिक कठिन है। इस जटिल समस्या को सुलझाने में अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि एवं गम्भीर चिन्तना का योग दिया है फिर भी उनकी सफलता संदिग्ध है। इन सौन्दर्य-मीमांसकों को उनके दृष्टिकोण के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आध्यात्मिक या सूक्ष्म दृष्टि से सोचने वाले, और (२) भौतिक या स्थूल दृष्टि को अपनाने वाले। दोनों वर्गों के प्रमुख विद्वानों के मतों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

(क) अध्यात्मवादी—प्राचीन यूनानी विद्वान् सुकरात सत्यं, शिवं और सुन्दरं को एक ही मानते थे। उनका कहना था—"एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि वह अपना कोई उपयोग रखती है जब कि चमचमाती हुई स्वर्णघटित ढाल असुन्दर है यदि वह उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण है।"[2] इस प्रकार सुकरात उपयोगिता को ही सौन्दर्य का पर्याय-वाची मानते थे। सुकरात के शिष्य प्लेटो ने प्रत्यक्ष संसार को किसी अप्रत्यक्ष जगत् की प्रतिच्छाया घोषित करते हुए समस्त सौन्दर्य को किसी एक अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित माना है। हमारी आत्मा सौन्दर्य की खोज में भटकती

---

१. वही; ३।२।

2. A dung basket if it answers its end, may be a beautifull thing while a golden shield not well formed for use, is ugly thing."

रहती है किन्तु सौन्दर्य के सच्चे स्वरूप का आस्वादन करना कोई सरल कार्य नहीं। उनके विचारानुसार विभिन्न शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन एवं मनन से विकसित एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति से ही हम सौन्दर्य-बोध कर सकते है। यद्यपि सौन्दर्य-बोध की यह अपूर्व क्षमता तर्कबद्ध अध्ययन से ही उदित होती है फिर भी वह तर्क से शून्य होती है। सौन्दर्य तर्क-गम्य नहीं अनुभूति-गम्य है। अतः अन्य विषयों की तरह से सौन्दर्यानुभूति को हम शब्दों में अभिव्यक्त नही कर सकते। सौन्दर्यानुभूति के अनन्तर दृष्टा का हृदय इस प्रकार ज्योतित हो उठता है कि उसे अखिल जगत् का सौन्दर्य किसी एक ही सौन्दर्य पुज से सम्बन्धित दिखाई देने लग जाता है और विभिन्न सुन्दर वस्तुओं का स्थूल आकृति-भेद उसके लिए नगण्य हो जाता है। यह है प्लेटो का सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं का सारांश।[1] उनके विचार कबीर जैसे भारतीय साधकों के विचारों से पर्याप्त साम्य रखते है। भारतीय साधकों ने भी ज्ञान से प्रज्ञा का उदय एवं उससे ज्योति-स्वरूप का साक्षात्कार तथा समस्त संसार में उसी के सौन्दर्य की प्रतिच्छाया के दर्शन को मानते हुए इस अनुभूति को गूंगे का गुड़ घोषित किया है। वस्तुतः इस विचारधारा से सौन्दर्यानुभूति एक रहस्य-साधना सिद्ध होती है जिस का भौतिक सौन्दर्य से कोई सम्बन्ध नहीं है।

परवर्ती पाश्चात्य विद्वानों में से अनेक ने सुकरात और प्लेटो के विचारों का खण्डन सफलतापूर्वक किया है। विक्टर कजन[2] ने अपने ग्रन्थ में सौन्दर्य की शिवम् से भिन्नता सिद्ध की, वहाँ जर्मन विद्वान बामगार्टन[3] ने सौन्दर्य का सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से सिद्ध करते हुए प्लेटो की इस धारणा का खण्डन कर दिया कि सौन्दर्य-बोध के लिए किसी विशेष प्रज्ञा-शक्ति की आवश्यकता है। आधुनिक युग में और भी अनेक विद्वानों ने सौन्दर्य के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचारित किये हैं। हरबर्ट महोदय[4] ने सौन्दर्य को वस्तु विशेष पर आधारित न मान कर दृष्टा की भावना पर आश्रित बताया। डा० आई० ए० रिचार्डस[5] ने इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए कहा कि

---

1. Plato—Symposium and 'Republic'.
2. Vistor Cousin—"The truth, the beauty, the good."
3. Alexander Beumgarten.
4. Herbert Edward Read—The Meaning of Art.
5. I. A. Richards—Foundations of Aesthetics.

भावात्मक संतुष्टि का नाम ही सौन्दर्य है। किसी वस्तु को देख कर जब हमारी भावनाओं में एकाग्रता या तन्मयता आ जाती है तो हम तृप्ति का अनुभव करते हैं और हम उस वस्तु को भूल से सुन्दर कह बैठते हैं जब कि वास्तव में सौन्दर्य हमारी इस मानसिक तृप्ति की देन है।[1] अतः सौन्दर्य की स्थिति हमारे मन में होती है जिसे हम बाह्य वस्तुओं पर आरोपित करते हैं। कुछ अन्य विद्वानों ने भी वस्तु में सौन्दर्य न मान कर आश्रय या द्रष्टा में सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार की है।

उपर्युक्त अध्यात्मवादी विचारकों की मान्यताओं के अध्ययन से दो बातें स्पष्ट हैं पहली यह कि वे सौन्दर्य को किसी अलौकिक शक्ति से या परमात्मा से सम्बन्धित मानते हैं, दूसरी—वे सौन्दर्य को वस्तुगत न मान कर दर्शक की देन मानते है। आस्तिक वादियों के अनुसार तो जगत् की प्रत्येक वस्तु का परमात्मा से सम्बन्ध है, अतः केवल सौन्दर्य को ही अलौकिकता क्यों प्रदान की जाय? अस्तु, इन विचारकों की पहली बात हमें स्वीकार्य नहीं। जो लोग सौन्दर्य की अलौकिकता या अतिपवित्रता में विश्वास रखते हैं वे व्यावहारिक संसार के उन अनेक कुकृत्यों एवं वीभत्स व्यापारों को देखें जिनके पीछे सौन्दर्य की करामात छिपी हुई है या फ्रेंच उपन्यासकार ड्यूमा की "श्री मस्कीटियर्स" जैसी रचनाओं को पढ़ें जहाँ म्लैडी जैसी सुन्दरियाँ अपने सौन्दर्य-बल पर अनेक निरीह प्राणियों के गले पर छुरी फेरने मे समर्थ होती है। यदि सचमुच ही सौन्दर्य में कोई दैवी अंश होता तो वह ऐसी निष्ठुर चरित्रहीना पिशाचिनियो के पल्ले नही पड़ता।

सौन्दर्य को वस्तुगत न मान कर दर्शक के मन की उपज बताना भी वास्तविकता से दूर जाना है। यदि कोई कहे कि मिठास गन्ने में नही, हमारी जिह्वा में है, क्योंकि गन्ने को हाथ से छूने पर वह मीठा नही लगता जिह्वा के स्पर्श से लगता है—तो हम इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते।

---

1. When we say of a thing that it is beautiful we mean that certain impulses in ourselves are brought by the contemplation of it to a state of emotional equilibrium or harmony. Because of this condition of equilibrium we experience satisfaction and postulate the presence of beauty in that which has caused it. But such postulation is only a projection into the outside world of our own feeling."

A Guide to Philosophy—C. E. M. Joad; Page 339

उपर्युक्त विचार भी ऐसा ही है। यदि सौन्दर्य-द्रष्टा के ही मन की उपज होती तो संसार के अनेक चित्रकारों को कोई नही पूछता, किसी भी कागज के टुकड़े पर आड़ी-तिरछी लकीरे खीच कर तथा अपनी सौन्दर्य भावना को आरोपित कर अपना काम चला लेते। वस्तुतः विद्वानों के ये मन्तव्य रोचक होते हुए भी सौन्दर्य की मूल समस्या का समाधान नही करते।

(ख) **भौतिक वादी**—पाश्चात्य विद्वानो मे सबसे पहले सौन्दर्य के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने का श्रेय अरस्तू को है। उन्होंने सौन्दर्य का वस्तु से सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसकी तीन विशेषताएँ सिद्ध कीं—(१) सम्मात्रा, (२) व्यवस्थित क्रम (Orderly), (३) निश्चित आकार। आगे चलकर अनेक प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों[1] ने विशेषताओं की इस सूची मे अनेक परिवर्तन परिवर्द्धन किये। विभिन्न विद्वानों द्वारा परिगणित विशेषताओ की एक सम्मिलित सूची बनाई जाय तो वह इस प्रकार होगी—(१) सम्मात्रा[2] (२) व्यवस्थित क्रम[3] (३) निश्चित आकार[4] (४) क्षमता[5] (५) विचित्रता[6] (६) जटिलता[7] (७) विशालता[8] (८) स्पष्टता[9] (९) आकार सूक्ष्मता[10] (१०) मसृणता[11] (११) वर्ण-दीप्ति[12] (१२) शुद्धता[13] (१३) सामंजस्य[14]।

यदि उपर्युक्त सूची का विश्लेषण करे तो पता चलेगा कि इनमें कुछ परस्पर विरोधी विशेषताएँ भी आ गई हैं, जैसे सूक्ष्मता और विशालता, स्पष्टता और जटिलता आदि। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य दृष्टिकोणों से भी यह सूची हमारी समस्या को हल नही करती। इन विशेषताओं मे से किसको किस स्थान पर ग्रहण करना चाहिए, इसका निर्णय अन्ततः द्रष्टा को ही करना पड़ता है। जैसे हाथी के लिए उसकी विशालता एक गुण है वहाँ चीटी के लिए उसकी लघुता या सूक्ष्मता ही प्रशंसनीय है। किसी रमणी के केशों का सौन्दर्य उनकी श्यामवर्णता में है तो दन्तपंक्तियो का आकर्षण उनकी शुभ्र स्वच्छ धवलता में निहित है। अतः हमारे विचार से सौन्दर्य के सम्बन्ध में सामान्य विशेषताओं का निर्धारण करना उचित नहीं।

---

1. William Hogarth (1697-1764)—The analysis of Beauty Dr. Jamessully—Outline of Psychology etc. 2. Symmetry, 3. Orderly arrangement, 4. Certain Magnitude, 5. Fitness, 6. Variety, 7. Intricacy, 8. Magnitude, 9. Distinctiveness, 10. Smallness of size, 11. Smoothness, 12. Brigthness of colour, 13. Purity, 14. Uniformity.

कुछ विद्वानों ने आलम्बन (वस्तु) और आश्रय (द्रष्टा) को छोड़ कर सौन्दर्य का रहस्य किसी तीसरी वस्तु में ढूँढा। पीअरबफिअर[1], जे० रेनाल्डस्[2] एवं एलीसन[3] आदि विचारकों के मन्तव्य इसी श्रेणी में आते हैं। श्री रेनाल्डस् ने आदत का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए बताया कि जिस वस्तु को हम जिस रूप में देखते रहे हैं, वही रूप उसका सौन्दर्य माना जाने लगता है। यदि हम सृष्टि के आरम्भ से ही मनुष्य का चेहरा गोल न देखकर चौकोर देखने के अभ्यस्त होते तो आज चौकोर चेहरे को ही सौन्दर्य का आधार माना जाने लगता। यह सिद्धान्त भी आंशिक सत्य को उपस्थित करता है। मनुष्य जाति आदिकाल से ही युवाओं के उभरे हुए कपोलों और वृद्धों के पिचके हुए मुँह को बराबर देखती आई है। उसे दोनों को ही देखने का बराबर अभ्यास है, फिर क्यों एक को सुन्दर माना जाता है और दूसरे का असुन्दर? सांसारिक कुरूप वस्तुओं को बराबर देखते रहने पर भी वे अब तक कुरूप क्यों बनी हुई हैं? फिर जिन वस्तुओं को हम जीवन में पहली बार देखते हैं, जिनके देखने का हमें कोई पूर्व अभ्यास नही होता, उनकी सुन्दरता या कुरूपता का भी निर्णय हम एकाएक कर लेते हैं, अतः यह सिद्धान्त भी महत्वहीन सिद्ध होता है।

भारतीय दृष्टिकोण—यह आश्चर्य की बात है कि पाश्चात्य विद्वानों के उपर्युक्त विचार सौन्दर्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण कम करते है, अस्पष्ट और जटिल धारणाओं को व्यक्त अधिक करते हैं। अतः हम यहाँ भारतीय विचारकों के चिन्तन से लाभ उठाते हुए स्वतन्त्र दृष्टिकोण से विचार करना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

प्राचीन युग से ही भारतीय विचारक यह मानते रहे हैं कि संसार के विभिन्न विषयों का अनुभव हम पाँच ज्ञानेन्द्रियों-चक्षु, श्रवण, रसना, घ्राण एवं त्वचा से प्राप्त करते है। इनके द्वारा क्रमशः रूप, शब्द, स्वाद, गन्ध और स्पर्श की कटु या मधुर अनुभूति होती है। जिस वस्तु से चक्षु-इन्द्रिय के माध्यम से हम मधुर अनुभूति का अनुभव करते हैं, उस वस्तु का समन्वित प्रभाव ही सौन्दर्य है। यह सौन्दर्य वस्तु का अपना गुण है न कि द्रष्टा के चक्षुओं की उपज। यदि कोई व्यक्ति प्रज्ञाचक्षु होने के कारण या अपनी और किसी न्यूनता के कारण सुन्दर वस्तु से सौन्दर्यानुभूति प्राप्त करने में असमर्थ रहे तो

1. Pere Buffier, 2. Renalds, 3. Allison—Law of Association.

इससे वह वस्तु असुन्दर नहीं कही जा सकती। हमारी चक्षु-इन्द्रिय को सौन्दर्य-बोध की ऐसी क्षमता प्राप्त है कि बिना वस्तु की लम्बाई चौड़ाई नापे, बिना उसके गुणों की सूची बनाए वह एक ही झलक में सुन्दर और असुन्दर का निर्णय कर देती है। प्रत्येक वस्तु की अपनी विशिष्टता में सौन्दर्य निहित है। अतः सौन्दर्य के सामान्य नियम स्थिर करना तो उचित नही किन्तु प्रत्येक वस्तु के सौन्दर्य सम्बन्धी अंगों की अलग-अलग व्याख्या करना अवश्य उपयोगी सिद्ध होती है जैसा कि भारतीय आचार्यों के द्वारा किये गए नारी अंगों के सूक्ष्म विश्लेषण (नख, शिख, हावादि) से प्रकट है। भारतीय काव्य-विवेचक, सौन्दर्य क्या है—की उलझन में न पड़ कर सौन्दर्य के मूर्त आधारों के सूक्ष्म विश्लेषण में प्रवृत्त हुए—जो कि व्यावहारिक एवं सफल प्रयत्न सिद्ध हुआ।

सौन्दर्य का लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग—अपने अभिधेयार्थ में सौन्दर्य केवल चाक्षुष अनुभूति से ही सम्बन्ध रखता है; किन्तु कई बार इसका प्रयोग अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी करते हैं। यथा—तुम बहुत सुन्दर गाती हो। या आपके विचार बहुत सुन्दर हैं। गीत या विचार चाक्षुष अनुभूति के विषय नहीं हैं, अतः हम वहाँ सौन्दर्य का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में करते हैं जब कोई माँ अपने कुरूप बच्चे के लिये या कोई प्रेमी असुन्दर प्रेमिका के सम्बन्ध में कहे कि मेरे लिये तो वही सुन्दर है तो यहाँ भी 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में 'प्रिय' के स्थान पर किया जाता है। यह ध्यान रहे कि 'प्रिय लगना' और 'सुन्दर होना' एक ही बात नहीं है, जैसा कि साधारणतः लोग समझते हैं।

कला और सौन्दर्य—कुछ कलाओं को छोड़कर शेष से सौन्दर्य की सृष्टि नहीं होती अपितु माधुर्य या रस की निष्पत्ति होती है, जब कि पाश्चात्य कला समीक्षकों ने माधुर्य के स्थान पर सौन्दर्य शब्द का प्रयोग किया है। संगीत की स्वर लहरियों का आस्वादन हम कर्णेन्द्रिय के माध्यम से करते हैं न कि चक्षु-इन्द्रिय से, अतः इस क्षेत्र में सौन्दर्य का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में ही समझना चाहिए। सौन्दर्य की मीमांसा के समय उसके अभिधेयार्थ को ही लेना चाहिए, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने सौन्दर्य के अभिधेयार्थ एवं लक्ष्यार्थ के भेद पर कोई ध्यान नहीं दिया, फलतः उनके निष्कर्ष ऊहात्मक बन गये। सौन्दर्य को आलम्बनगत न मानकर आश्रयगत मानना भी इसी भ्रान्ति की देन है।

अतः वस्तुओं की जिन विशिष्टताओं से हमारी चक्षु-इन्द्रिय को मधुर प्रभाव की अनुभूति होती है उन्ही का नाम सौन्दर्य है। हमारे विचार से अनेक

रहस्यवादी परिभाषाओं की अपेक्षा उपर्युक्त परिभाषा हमें सत्य के अधिक निकट ले जाती है। साथ ही विभिन्न कलाओं के क्षेत्र में 'सौन्दर्य' शब्द के लक्ष्यार्थ में भ्रमोत्पादक ढंग से प्रयोग की अपेक्षा 'माधुर्य' या प्रसंगानुकूल अन्य शब्द के प्रयोग को हम अधिक उचित समझते हैं।

साहित्य और सौन्दर्य—साहित्य के क्षेत्र में सौन्दर्य का प्रयोग अभिधेयार्थ एवं लाक्षणिक अर्थ—दोनों अर्थों में ही होता है। हम किसी दृश्य के वर्णन या नारी के अंग-विन्यास चित्रण के प्रसंग में सौन्दर्य का अभिधेयार्थ में प्रयोग करते है, जब कि लाक्षणिक अर्थ मे सौन्दर्य प्रसंगानुसार भाव-माधुर्य, कल्पना के चमत्कार या भाषा की कोमलता के लिए प्रयुक्त होता है। शृङ्गार रस के तीन तत्वों के अन्तर्गत हमने जिस सौन्दर्य को लिया है वह अभिधेयार्थ में ही है।

शृङ्गार रस और सौन्दर्य—जैसा कि पहले कहा गया है, शृङ्गार रस के क्षेत्र में सौन्दर्य विभाव-पक्ष से सम्बन्ध रखता है, जिसके मुख्यतः दो भेद कर सकते है—(१) प्रकृति सौन्दर्य और (२) मानवीय सौन्दर्य। प्रकृति सौन्दर्य के अन्तर्गत प्राकृतिक दृश्यों—वन, उपवन, सरिता, पर्वत, आदि को तथा विभिन्न ऋतुओं एवं महीनों को लिया जाता है। शैली की दृष्टि से भी प्रकृति-वर्णन के कई भेद हैं, किन्तु शृङ्गार रस के क्षेत्र में मुख्यतः निम्नांकित शैलियों का प्रयोग होता है:—

(क) प्राकृतिक दृश्यों का उद्दीपन रूप में।
(ख) षट्-ऋतु-वर्णन के रूप में।
(ग) बारहमासा वर्णन के रूप में।
(घ) मानवीकरण के रूप में।
(ङ) नख-शिख के उपमानों के रूप में।

मानवीय सौन्दर्य—मानवीय सौन्दर्य के अन्तर्गत स्त्री और पुरुष—दोनों का सौन्दर्य आता है किन्तु आचार्यगणों ने तथा कवियों ने नारी सौन्दर्य पर ही अधिक ध्यान देते हुए उसका सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। नाट्य-शास्त्र,[१] शृङ्गार-प्रकाश,[२] दश-रूपक,[३] साहित्य-दर्पण,[४] कवि-प्रिया,[५] नख-

१. **नाट्य-शास्त्र**—ले० भरतमुनि।
२. **शृङ्गार-प्रकाश**—ले० भोजराज।
३. **दश-रूपक**—ले० धनंजय।
४. **साहित्य-दर्पण**—ले० विश्वनाथ।
५. **कवि-प्रिया**—ले० केशवदास मिश्र।

शिख,[1] आदि ग्रन्थों में नारी के विभिन्न अङ्गों, उनकी सूक्ष्म विशेषताओं और साहित्य में उनके चित्रण की विधियों का विवेचन विस्तार से किया गया है। यहाँ उपर्युक्त रचनाओं के आधार पर नारी सौन्दर्य का विवरण तालिकाओं के रूप में दिया जाता है—

तालिका (क)

नारी-सौन्दर्य का विश्लेषण

१—शरीर के अंग-प्रत्यंग

क्रम संख्या	अंग	विशेषताएँ	काव्य में प्रयुक्त उपमाएँ
१.	केश	दीर्घता, वक्रता, कुंचितता, मृदुलता, स्निग्धता, श्यामता, सुगन्धि आदि।	मरकत के सूत, पन्नग, तम, मखतूल की डोरियाँ, कुहू, नील-कमल, चामर, भ्रमर, धुआँ, यमुना तरंग, मेघ आदि।[2]
२.	वेणी	दीर्घता, वक्रता आदि।	सर्प, तलवार, भ्रमर पंक्ति, महामार्ग आदि।
३.	जूड़ा	सघनता आदि।	रज्जु, बादल, सर्प-कुण्डली आदि।
४.	माँग	शुभ्रता, लालिमा, सरलता आदि।	पथ, नीलगिरि पर गंगाधार, रजत रेख, हास्यरस की डोरी, कीर्ति-रेखा, आकाश-गंगा आदि।
५.	भाल	समतलता, विशालता, उन्नतता आदि।	स्वर्ण पट्टिका, अष्टमी का चाँद, काम का आसन आदि।
६.	भ्रकुटी	वक्रता, श्यामता आदि।	धनुष, तरंग, कृपाण, सर्प, भ्रमर, कज्जल आदि।

१. 'नख-शिख'—ले० बलभद्र मिश्र।

२. मरकत सूत किधों पन्नग के पूत,
किधों राजत अभूत तमराज केसे तार हैं।
मखतूल गुन ग्राम सोभित सरस स्याम,
काम मृग कानन कि कुहू के कुमार हैं॥
कोप की किरिनि कैधौं नील नलिनी के तंतु,
उपमा अनन्त चारु चँवर सिंगार हैं।
कारे सटकारे भीजे सोंधे सों सरस बास,
ऐसे बलभद्र नव बाला तेरे बार हैं॥
—नख-शिख (बलभद्र)

क्रम संख्या	अंग	विशेषताएँ	काव्य में प्रयुक्त उपमाएँ
७.	नेत्र	विशालता, चंचलता दीर्घता, नीलिमा, मद्विह्वलता, वक्रता[1] आदि।	मीन, सरोज, खंजन, पंचबाण, क्षुर-धार, तीर, मृगनेत्र चकोर, विष, मदिरा, यमुना, कुंद-पुष्प आदि।
८.	पलक	चंचलता, आर्द्रता आदि।	पातुर, पुत्तली, कनक-संपुट, खंजन, कपाट आदि।
९.	बरुनी	सघनता, श्यामवर्णता आदि।	शर, मखतूल, पल्लव आदि।
१०.	नासिका	अग्रभाग का नुकीलापन, पुटों की गोलाई, नासिका बेध की सूक्ष्मता आदि।	कीर, तिल का फूल, कलि, गंधफली आदि।
११.	कपोल	आभा, प्रफुल्लता, पुष्टता, सुघड़ता आदि।	सुधा-कलश, दर्पण, कमल, पुष्प आदि।
१२.	कपोल का गड्ढा	गहराई।	भँवर, खन्दक, कूप आदि।
१३.	कपोल तिल	श्यामता।	शशि-कलंक, लेखनी का डंक आदि।
१४.	अधर	लालिमा, माधुर्य, कोमलता, पतलापन, आदि।	इन्द्रबधू-तन, प्रबाल, बिंबाफल बंधूक पुष्प, पल्लव, नारंगी की फाँकें, सुधा-बिन्दु आदि।
१५.	दशन	श्वेतता, चमक, पंक्तिबद्ध होना आदि।	कुंद कलिका, मुक्ता, माणिक्य, दाड़िम, नक्षत्र आदि।
१६.	चिबुक	सुडौलता।	कनक, कोकनद, कामदेव का आसन आदि।
१७.	चिबुक तिल	श्यामता।	मकरन्द।
१८.	श्रवण	दीर्घता।	ध्वजा, सीप, कंचन-पोत आदि
१९.	ग्रीवा	दीर्घता, त्रिरेखा।	शंख।
२०.	भुज	समता, कोमलता, दीर्घता आदि।	कमललता, मृणाल-नाल, तरु शाखा, कनक दंड आदि।

१. बाँकी चितवनि में करैगी कहा बलभद्र,
सूधी चितवनि में असाधु होत साधु है।—वही, १४।

क्रम संख्या	अंग	विशेषताएँ	काव्य में प्रमुख उपमाएँ
२१.	करतल	कोमलता, समतल होना आदि ।	कंचन, मक्खन, पत्र, कमल-कली आदि ।
२२.	अँगुलियाँ	दीर्घता, कृशता, कोमलता आदि ।	कल्पवृक्ष की पाँच शाखाएँ, केसरकलिका, कलधौत फली आदि ।
२३.	वक्ष	उन्नतता, प्रफुल्लता, कठोरता, विशालता, श्यामाग्रता, कुचाग्र, लालिमा आदि ।	कमल, कुम्भ, कलश, बेल, शंभू, श्रीफल, हाथी का कुंभ, पहाड़ आदि ।
२४.	कुच-संधि	संकीर्णता ।	पर्वत की घाटी, खंदक आदि ।
२५.	नाभि	सुडौलता, त्रिवली युक्त होना, आदि ।	कूप, नद, रसातल, आवर्त, नदी, तरंग आदि ।
२६.	रोमराजि	मृदुता, श्यामता, सूक्ष्मता आदि ।	विष-लता, मखतूल - डोरी, आदि ।
२७.	कटि	क्षीणता, सूक्ष्मता आदि ।	रेखा, बर्र की लंक, सिंह, शून्य, सुई की नोक, मुष्टिग्राह्यता आदि ।
२८.	नितम्ब	पृथुलता, सुडौलता, मांसलता आदि ।	पुलिन, पीढ़ा, पृथ्वी, पहाड़ आदि ।
२९.	उरु	दीर्घता, सुडौलता	हाथी की सूँड़, कदली-स्तंभ करभ आदि ।
३०.	पिंडली	सुघड़ता, सुडौलता समता आदि ।	बेलन, केतकी आदि ।
३१.	चरण	लालिमा युक्त, उन्नत, पतले, छोटे, सम आदि ।	पल्लव, कमल आदि ।
३२.	पद-नख	शुभ्रता, चमक, आदि ।	मुक्ता, चन्द्रकान्त मणि, चन्द्र-कला, प्रवाल आदि ।

तालिका (ख)

नारी-सौन्दर्य का विश्लेषण

२—शारीरिक गुण

क्रम संख्या	अंग	विशेषता	उपमाएँ
१.	समग्र शरीर	१. वर्ण, गौर, श्वेत, पीत।	कुन्द पुष्प, चन्द्र, हिम, स्वर्ण, रजत, हरिद्रा आदि।
		२. दीप्ति।	आरसी।
		३. आभा।	स्वर्ण।
		४. लावण्य।	दीप-शिखा, [1] ज्योत्स्ना आदि।
		५. कान्ति।	विद्युलता, विद्युत आदि।
		६. मृदुलता।	गुलाब, कमल आदि।
		७. कृशता [1]।	कनक छड़ी, कनकलता आदि।
		८. सुकुमारता।	कमलिनी, कमल आदि।
		९ यौवन-छटा। [2]	पुष्पलता, स्वर्ण जूही आदि।
		१०. पारदर्शिकता।	दर्पण।
		११. प्रफुल्लता।	कमलिनी, तरुशाखा आदि।
		१२. पल-पल-परिवर्तित सौन्दर्य।	चित्र न खींचा जा सकना। [3]
		१३. विकास। [4]	कलिका, कमल, स्वर्ण जूही आदि।
		१४. सुगन्धि।	केसर, गुलाब, इत्र आदि।

---

१. पीन पयोधर दूबरि गता।
मेरु उपजल कनक लता॥ —विद्यापति

२. सोन जूही सी जगमगति अंग-अंग जोबन जोति।
सुरंग कसूंभी कंचुकी दुरंग देह दुति होति॥ —बि० र० १९०

३. लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥ —बि० र० ३४७

४. लाइ लाल विलोकियै, जिय की जीवन-मूलि।
रही भौन के कौन मैं सौनजुही सी फूलि॥ —बि० र० ६१३

तालिका—(ग)

नारी-सौन्दर्य का विश्लेषण

३—बाह्य प्रसाधन

क्रम सं०	अंग	प्रसाधन	उपमा
१.	मुख	बिन्दु	वीरबधूटी, मंगल-बिन्दु, इन्दु, बाल-चन्द्र, पकज आदि ।
२.	नेत्र	कज्जल[1]	शनि, राहु, भ्रमर, खंजन, भुजंग आदि ।
३.	चिबुक	चिबुक गोंदना	सर, कूप आदि ।
४.	करतल	मेहन्दी	नवग्रह, कमलवेलि, आदि ।
५.	वक्षप्रदेश	चदनलेप	हिम, रजत, ज्योत्स्ना आदि ।
६.	मुख	दिठौना[2]	चंद्र-कलंक,
७.	ओष्ठ	पानपीक	कमल, पराग, बालसूर्य की अरुणिमा, उषा की लाली, आदि ।
८.	पदतल	महावर	कमल, गुलाब का फूल, ईंगुर, आदि
९.	समस्त शरीर	सुगन्धि	गुलाब, कमल आदि ।
१०.	विभिन्न अङ्ग	आभरण	विभिन्न ।
११.	विभिन्न	वस्त्र	विभिन्न ।
१२.	पद	नूपुर	हंस-पंक्ति ।

---

१. सुन्दर वदन चारु अरु लोचन, काजर रंजित भेला ।
कनक-कमल माझ काल भुजंगिनि स्त्रीयुत खंजन खेला ।।
विद्या० पद० पृ० २४

२. लौनें मुहुँ दीठि न लगै, यौं कहि दीनौ ईठि ।
दूनी ह्वै लागन लगी, दियें दिठौना दीठि ।।
बि० र० दो० २८

तालिका (घ)

नारी-सौन्दर्य का विश्लेषण

४—चेष्टागत सौन्दर्य

(क) सामान्य चेष्टाएँ—

क्रम	चेष्टाएँ	उपमाएँ
१.	मुस्कराहट	विद्युत, कलिका विकास
२.	हास्य	ज्योत्स्ना, चन्द्रमा, फूल, अमृत फेन
३.	स्वर-माधुर्य	हस-रव, शुक, पिक, वेणु, वीणा आदि
४.	भ्रू-निक्षेप कटाक्ष-पात वक्र दृष्टि	तीर संधान, पंच-शायक आदि
५.	अल्हड़ता	हिंडोला[1]
६.	चंचलता	विद्युत
७.	लज्जा जन्य अंग-संकोच	हेम-मूर्त्ति,[2] कमलिनि

(ख) **विशेष चेष्टाएँ**--(काव्य-शास्त्रियों द्वारा विवेचित) अर्थात् हाव—

(१) लीला—प्रिय की प्रेम पूर्ण चेष्टाओं का अनुकरण करना[3]

(२) विलास—प्रिय की उपस्थिति में विशेष प्रकार की चेष्टाएँ[4]

(३) विच्छित्ति—साज-सज्जा का प्रदर्शन ।

---

१. बरजें दूनी हठ चढ़ै ना सकुचै न सकाइ ।
टूटति कटि दुमची-मचक लचकि लचकि बचि जाइ ॥
—वि० र० दो० ६८६

२. प्रथमहिं गेल धनि प्रीतम हास ।
हृदय अधिक भेल लाज तरास ॥
ठाढ़ि भेलन्हि धनि अंगो न डोले ।
हेम-मूरति सयें मुखहु न बोले ॥ - वि० पदा० पृ० १५०

३. प्रियानुकरणं लीला मधुरांगविचेष्टितैः ॥
—दश रूपक (धनंजय) प्रकाश २-३७

४. दश रूपक—२-३८ ।

(४) विभ्रम—बेसुध दशा की द्योतक चेष्टाएँ।

(५) किलकिंचित—विभिन्न भावों से मिश्रित चेष्टाएँ।

(६) मोट्टायित—हृदय के गुप्त प्रेम को व्यंजित करने वाली चेष्टाएँ।

(७) कुट्टमित—संभोग-वेला में कृत्रिम निषेध-प्रदर्शन।

(८) बिब्बोक—गर्व पूर्वक इष्ट वस्तु का अनादर करना।

(९) ललित—स्निग्धतापूर्वक अंगों का विन्यास।

(१०) विहृत—भावों से अभिभूत होकर अनुकूल शब्दों के प्रयोग में असमर्थ हो जाना।

(११) मद—मस्ती से भरी हुई चेष्टाएँ।

(१२) तपन—कष्ट और उत्तेजना सूचक चेष्टाएँ।

(१३) मौग्ध्य—मुग्ध दृष्टि से देखना।

(१४) विक्षेप—किसी कारण से स्वर एवं मनः स्थिति में एकाएक परिवर्तन।

(१५) कुतूहल—किसी बात को बार-बार पूछना।

(१६) हसित—बिना बात के हँस पड़ना।

(१७) चकित—आ-चर्य प्रकट करना।

(१८) केलि—भाँति-भाँति की क्रीड़ाएँ।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उपर्युक्त चेष्टाओं को अनुभाव के अन्तर्गत न रखकर सौन्दर्य के अंगों के अन्तर्गत क्यों रक्खा गया? इसका उत्तर है कि रसिक जनों के लिये नारी की प्रत्येक चेष्टा सौन्दर्य का आगार बन जाती है। कवि अमरुक ने तो क्रोधपूर्वक आँसू बहाती हुई नारी की चेष्टाओं को भी अमृत-तुल्य बताया था। यह भी ध्यान देने की बात है कि हावों का सम्बन्ध नारी की चेष्टाओं से ही है, पुरुष की से नहीं। उदाहरण के लिए पुरुष की क्रोध-पूर्ण चेष्टाओं से शृङ्गार की नही रौद्र की अभिव्यक्ति होगी। अन्य भाषाओं के कवियों ने भी प्रेयसी को खिझाने, तंग करने तथा उससे छेड़-छाड़ करने में रस लिया है। जिस प्रकार सांभर झील में जो कुछ पड़ता है वह नमक बन जाता है—कुछ वैसे ही नारी से सम्बद्ध होकर सब कुछ सुन्दर बन जाता है।

३. प्रेम तत्व

प्रेम क्या है ?—प्रेम एक ऐसी भावात्मक अनुभूति है जिसे शब्दों के माध्यम से समझाना सम्भव नहीं। देवर्षि नारद ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है—प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है : गूँगे के स्वाद की भाँति।[१] विभिन्न कवियों ने भी प्रेम और प्रेमी जनों के सम्बन्ध में कुछ ऐसी ही उक्तियाँ कही हैं।

(१) कालिदास—निस्सन्देह प्रेम से संत्रस्त प्राणी चेतन और जड़ का भेद करने में असमर्थ होते हैं।[२]

(२) शूद्रक —प्रेम बलात उत्पन्न नहीं किया जा सकता, वह गुणों से स्वयं उत्पन्न होता है।[३]

(३) भवभूति —यह तो कोई अज्ञात ही कारण है जो दो हृदयों को मिला देता है, किसी बाह्य कारण—सौन्दर्यादि पर प्रेम आश्रित नहीं है।[४]

(४) दंडी —प्रेम मन का एक विकल्प मात्र है।[५]

(५) राजशेखर—जिस भाव के उत्पन्न होने पर दो व्यक्तियों का मन विचार संशय आदि भावों से शून्य हो जाता है, जिससे आनन्द का स्रोत सा बहने लगता है वह भाव प्रेम कहलाता है।[६]

(६) विद्यापति—संसार में सार वस्तु एक ही है—तिल भर संगम और जीवन पर्यन्त बना रहने वाला प्रेम।[७]

---

१. अनिर्बचनीय प्रेम स्वरूपम्। मूका स्वादनवत्—नारद भक्ति सूत्र ५१-५२

२. कामार्त्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचैतनेषु—मेघदूत, श्लोक ५।

३. गुणाः खलु अनुरागस्य कारणम् न पुनर्बलात्कारः—मृच्छकटिक, —अंक १, पृ० ४४

४. व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु, नं खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते (उत्तर० राम० ६।१२)

५. दशकुमार चरित; पृ० २९२ ६. कर्पूर-मंजरी ३।१०

७. एहि संसार सार बथु एक। तिला एक संगम जाब जिब नेह। —विद्यापति पदामृत;

—प्रेम की गति अत्यन्त विचित्र होती है ।[1]

—सज्जनों का प्रेम स्वर्ण के तुल्य होता है जो दुःख की आँच में पड़ कर द्विगुणित हो जाता है ।[2]

—प्रेम को गुप्त रखना चाहिए, दूसरो से जितना छिपाओगे, स्नेह का स्रोत उतना ही बढ़ेगा ।[3]

(७) कबीर —छिनहि चढ़ै, छिन उतरै सो तो प्रेम न होय ।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय ॥

(८) मीरा —घायल की गत घायल जाणै, जै किण घायल होइ ।

(९) रसखान —प्रेम हरि को रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप ।

(१०) बिहारी—या अनुरागी चित की गति समुझै नहि कोय ।

(११) घनानंद—अति सूधो सनेह को मारगु है ।

(१२) बोधा —प्रेम को पंथ कराल महा तलवार की धार पै धावनो है ।

(१३) भारतेन्दुहरिश्चन्द्र —मारग प्रेम को को समुझै,
हरिचन्द यथारथ होत यथा है ।

(१४) गालिब —शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेफत ।
एक आग सी है दिल में हमारे लगी हुई ।

(१५) मीर —हम तोरे इश्क से तो वाकिफ नही है लेकिन,
सीने मे कोई जैसे दिल को मला करै है ।

(१६) शेक्सपियर–प्रेम नही देखता आँखों से,
वह देखता है दिल से;
यही तो बस कारण है—
क्यूपिड की तस्वीर होती है अन्धी ![4]

(१७) ड्राइडन —मानव मन की सबसे सुन्दर दुर्बलता प्रेम है ।[5]

---

१. **प्रेमक गति दुरवार**

२. **सुजनक प्रेम हेम समतूल । दहइत कनक दिगुन होय मूल ॥**
—विद्यापति पदामृत

३. **राखए चाहिअ गुपुत सनेह, एहि सिनेह कर सोत । —वही**

4. Love looks not with the eyes, but with the mind
And therefore is winged Cupid painted blind.
—Shakespeare : A Midsummer Nights Dream.

5. Love is the noblest frailty of the mind.
—Dryden : Indian Emperor.

(१८) मारलो —जिसने प्रथम दृष्टि में प्रेम नहीं किया,
उसने प्रेम ही क्या किया ! [१]

(१९) वोल्टेयर—जो प्रेम करना नहीं जानता, समझलो कि उसके पास दिल नहीं है । [२]

(२०) वर्डसवर्थ--सुन्दरतम को भी अधिक सुन्दर बना देता है प्रेम ! [३]

(२१) शेली —प्रेम का देना और लेना—दोनों मधुर हैं । [४]

(२२) पी० जे० बैली— मत पूछो कि प्रेम क्या है ? पूछो कि ईश्वर में सबसे अच्छा क्या है । [५]

(२३) अज्ञात —यह प्रेम ही है जिसके बल पर दुनिया चल रही है । [६]

(२४) रोजेटी —ज्ञान शुष्क है, प्रेम मधुर है ! [७]

उपर्युक्त उद्धरणों में प्रेम की महत्ता, उसकी उत्पत्ति के कारण, उसके मार्ग की कठिनाइयों और उसके स्वरूप की विशेषताओं के सम्बन्ध में कई अनुभूति पूर्ण बातें कही गई हैं तथा उसके कई गुणों—स्थिरता, गंभीरता अनिर्वचनीयता आदि पर प्रकाश डाला गया है किन्तु फिर भी इन उक्तियों में व्यञ्जित तथ्य कहीं-कहीं इतने अस्पष्ट एवं परस्पर विरोधी हैं कि उनसे प्रेम का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता ।

प्रेम और मनोविज्ञान—मनोविज्ञान के अनुसार प्रेम एक भावना (Sentiment) विशेष है । जब एक व्यक्ति का आकर्षण दूसरे व्यक्ति के प्रति इतना बढ़ जाता है कि उसकी प्राप्ति, उसका सान्निध्य, उसकी सुरक्षा

---

1. Whoever loved that loved not at first sight.
—Marlowe; Hero and Leander.
2. Who does not know how to love has but a faithless heart.
—Voltaire.
3. Love betters what is best—Wordsworth—Sonnets
4. All love is sweet, given or returned.
—Shelley; Prometheus Unbound.
5. Ask not of me love, what is love ?
Ask what is good of God above;
—P. J. Bailey
6. It's love, it's love that makes the world go round.
—Unknown.
7. Knowledge is strong but love is sweet—
—Christina Rossetti; Convent Threshold

और उसकी प्रसन्नता में ही उसे सुखानुभूति होने लगती है[1] तो इस मनोवृत्ति को प्रेम कहते हैं। प्रेमी को अपने प्रिय के व्यक्तित्व से इतना अधिक आकर्षण हो जाता है कि वह अपने धन, वैभव, मानमर्यादा एवं सुख-दुःख के विचार को भूल कर अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रिय के अस्तित्व में मिला देना चाहता है। शारीरिक और मानसिक दृष्टियों से वह प्रिय के अधिकाधिक निकट पहुँचने का प्रयास करता है और इस प्रयास में सफलता प्राप्त करना ही उसके जीवन का चरम उद्देश्य बन जाता है।

प्रेमाकर्षण के भेद—जिस प्रकार पृथ्वी किसी सूक्ष्म आकर्षण शक्ति के वशीभूत होकर सूर्य के चारों ओर परिक्रमा देती है, वैसे ही उसके भीतरी कार्य-व्यापारों की व्यवस्था भी आकर्षण शक्ति के बल पर ही होती है। शारीरिक आकर्षण प्राणियों के जन्म का कारण बनता है, मानसिक आकर्षण के वशीभूत होकर नाना प्राणी अपने शिशुओं के पालन पोषण का भार उठाते हैं और जिस व्यक्ति, पदार्थ या वस्तु के प्रति हमारा आकर्षण है, उससे हमें वियुक्त कराने वाले व्यक्ति या पदार्थ को हम नष्ट करने का प्रयत्न करते है। अस्तु, सृष्टि के सृजन, विकास एवं संहार के मूल में जड़ चेतन का यह पारस्परिक आकर्षण ही कार्य करता है। हमारी विभिन्न वृत्तियों से मिल कर आलम्बन भेद से यही आकर्षण अनेक रूप धारण करता है अतः इसके कई भेद किये जा सकते हैं—जैसे कि नीचे तालिका में दिये हुए हैं :—

वह व्यक्ति या पदार्थ जिसके प्रति आकर्षण है।	उसमें मिश्रित होने वाली अन्य वृत्ति या भावना	स्वरूप
(क) अपने से बड़े व्यक्ति के प्रति	श्रद्धा	भक्ति
(ख) समवयस्क समलैंगिक व्यक्ति के प्रति	साहचर्य	मित्रता
(ग) समवयस्क भिन्नलैंगिक व्यक्ति के प्रति	काम	प्रणय
(घ) अपने से छोटे के प्रति	कृपा	स्नेह
(ङ) अपनी सन्तान के प्रति	वत्सलता	वात्सल्य
(च) सामान्य दुःखी व्यक्ति के प्रति	सहानुभूति	करुणा
(छ) अप्राप्त निर्जीव पदार्थ के प्रति	संचयशीलता	लोभ
(ज) प्राप्त पदार्थ के प्रति	संचय शीलता	मोह

१. **अकिंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।**
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यां हि यस्य प्रियो जनः॥
—उत्तर-राम-चरित २।१६

अर्थात्—जब प्रिय पास में हो तो फिर उसे किस धन की आवश्यकता है। उसके लिये बिना कुछ किये ही सारे दुःख सुःख बन जाते हैं।

प्रेमाकर्षण और शृंगार रस—यद्यपि 'प्रेम' शब्द व्यापक अर्थ में आकर्षण के उपर्युक्त भेदों-भक्ति, मित्रता, स्नेह आदि—के लिये प्रयुक्त होता है (जैसे ईश्वर से प्रेम करो--मैं बच्चों से प्रेम करता हूँ—वह धन का प्रेमी है) किन्तु संकुचित अर्थ में भिन्न लैंगिक व्यक्तियों के काम समन्वित प्रणय या दाम्पत्य भाव को ही प्रेम कहते हैं, जो कि शृङ्गार रस से सम्बन्धित है। आगे हम प्रेम के विभिन्न पक्षों का विवेचन करते समय उसे इस सकुचित अर्थ में ही ग्रहण करेंगे।

प्रेम का स्वरूप--जैसा कि ऊपर तालिका में दिखाया गया है दाम्पत्य-प्रेम के लिये दो आवश्यक बातें हैं--आश्रय और आलम्बन का भिन्न लैंगिक होना और उसमें काम वासना का मिश्रण। दो भाई-बहिन भिन्न लैंगिक होते हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में काम वासना का स्थान नहीं होता, अतः उसे शृङ्गार रस के क्षेत्र में नहीं ले सकते। प्रेम के अन्य रूपों (भक्ति, वात्सल्य, स्नेह आदि) में से किसी में भी इन दो विशेषताओं का समावेश नही होता, किन्तु किसी प्रकार उनमें भी इन का प्रवेश हो जाय तो वह दाम्पत्य प्रेम में परिणत हो जायगा। मान लीजिये एक युवती श्रद्धा या सहानुभूति से प्रेरित होकर किसी पुरुष की सहायता करती है; आरम्भ में उसका भाव भक्ति या करुणा का है किन्तु यदि आगे चलकर उनके सम्बन्ध में काम वासना का विकास हो गया तो वह सम्बन्ध प्रणय में परिवर्तित हो जायगा। प्रेम के अन्य स्वरूपों में मिश्रित होने वाली सभी वृत्तियाँ—श्रद्धा, साहचर्य, कृपा, सहानुभूति आदि से काम प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती है अतः दाम्पत्य प्रेम, भक्ति वात्सल्यादि सबसे अधिक सघन एवं गंभीर होता है। जिस प्रेम में काम प्रवृत्ति का अन्य वृत्तियों से संघर्ष हो वहाँ भी इसी की विजय होगी।

प्रेम के अन्य स्वरूपों से प्रणय में और भी कई विशेषतायें मिलती है। भक्ति, मैत्री, स्नेह, वात्सल्य आदि भावों का विकास धीरे धीरे किसी निर्दिष्ट कारण से होता है किन्तु प्रणय के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती उसकी उत्पत्ति एकाएक प्रथम दर्शन मात्र से हो सकती है तथा उसका कारण भी कई बार अस्पष्ट होता है। दूसरे, भक्ति, मैत्री आदि में एक ही आलम्बन से कई पात्र एक साथ प्रेम कर सकते हैं, उससे किसी को कोई दुःख नहीं होगा किन्तु प्रणय में ऐसा होना संभव नहीं। तीसरे, प्रेम के अन्य रूपों को और उनसे सम्बन्धित क्रिया कलापों को गोपनीय रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती—आप सबके सामने अपने आराध्य की भी भक्ति कर सकते हैं, मित्रों से

हंसी, खेल, वार्तालाप कर सकते है, बच्चों से प्यार कर सकते हैं--किन्तु प्रणय में स्थिति इसके विपरीत है। चौथे, प्रेम के अन्य भेदों में, आलम्बन का गहरा सान्निध्य उतना आवश्यक नहीं, जितना कि प्रणय में है। पाँचवें, भक्ति वात्सल्य, स्नेह, करुणा आदि से आलम्बन में भी इन्ही भावों की उत्पत्ति नही होती, जबकि प्रणय से प्रणय का ही स्फुरण होता है। अतः संप्रेषणीयता का यह गुण प्रेम के अन्य स्वरूपों में नही मिलता। इसके अतिरिक्त भक्ति आदि भाव सभी व्यक्तियों और सभी प्राणियों में विकसित हों यह संभव नही किन्तु प्रणय का विकास तो पशु पक्षियों तक मे देखा जाता है। अस्तु, इसमे कोई सदेह नही कि प्रणय प्रेम के अन्य सभी रूपो से अधिक व्यापक, अधिक गंभीर एवं अधिक दृढ़ भाव है।

प्रेम के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण--प्रेम (प्रणय) के सम्बन्ध में विभिन्न लोगो के दृष्टिकोणों में भी पर्याप्त अन्तर मिलता है। कुछ लोग जो कि आदर्शवादी हैं--लौकिक प्रणय को भी ईश्वर प्रेम या स्वयं ईश्वर के तुल्य महत्व देते हैं। हमारे यहाँ भवभूति और वाण ने उसे अत्यन्त पवित्र एवं दिव्य माना है। दूसरी ओर सूफी एवं ईसाई रहस्यवादियों ने उसे अलौकिक प्रेम की प्रथम सीढ़ी के रूप में स्वीकार किया है। १९वी शताब्दी के यूरोपीय रोमाटिक कवियो ने भी इसे बहुत कुछ दैवी प्रेरणा से प्रेरित अलौकिक अनुभूति के सदृश बताया है। आदर्शवादियों के विचारानुसार प्रेमोत्पत्ति का कोई कारण नही होता, वह स्वतः ही विकसित होता है। उसमें काम-वासना के लिये कोई स्थान नही होता और न ही वह बाह्य-सौन्दर्यादि पर आश्रित होता है।[1] वह सदा एक रस होता है प्रेमी प्रेमिकाओ की परिस्थितियों का परिवर्तन--यहाँ तक कि मृत्यु भी, उसमें कोई अन्तर उपस्थित नहीं कर सकती।[2] इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले लोग प्रेम का उद्देश्य मनोरंजन या लौकिक सुख स्वीकार नही करते--वे प्रेम को प्रेम के लिये पूजते है।

इसके विपरीत दूसरी ओर घोर यथार्थवादी दृष्टिकोण भी मिलता

१. **व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु**
न खलु बहिरुपाधीन प्रीतयः संश्रयन्ते।
\+ \+ \+
हृदयं त्वेव जानति प्रीतियोगं परस्परम्--भवभूति (उतर-रामचरित)

२. **बाण ने कादम्बरी में प्रेम की मृत्यु पर विजय दिखाई है।**

है जिसमें प्रेम को कामुकता के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं माना जाता। वे प्रेम को शारीरिक तृप्ति या मनोविनोद का साधन मात्र समझते हैं उनके विचारानुसार प्रेम स्वतः उत्पन्न नहीं होता, सम्पर्क के द्वारा उत्पन्न किया जाता है, वह स्थायी नहीं होता, परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। इसकी एकोन्मुखता में भी वे विश्वास नहीं रखते। इस दृष्टिकोण का विकास वर्तमान युग के सुशिक्षित वर्ग में—विशेषतः पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक उन्नति, एवं पूँजीवादी सभ्यता के प्रभाव से हुआ है। बीसवीं शताब्दी के अनेक साहित्यकार भी इसी दृष्टिकोण के प्रचार द्वारा समाज की प्रगति करने की बात सोच रहे हैं।

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में ही अतिवादिता है: एक यदि अति आदर्शवादी है तो दूसरा घोर यथार्थवादी। दाम्पत्य प्रेम को काम-वासना से सर्वथा असंपृक्त मानने वाले व्यक्ति भी उतनी ही बड़ी भूल करते हैं जैसी उसे कोरी कामुकता का पर्याय समझने वाले करते हैं। इस विषय में हम मनोविज्ञान के विद्वान मैकडूगल के दो कथन उद्धृत करते हैं—"दो प्रेमियों के पारस्परिक भावात्मक दृष्टिकोण में काम वासना की स्थिति अनिवार्यतः होती है। भले ही उनका दृष्टिकोण और उनकी भावनायें कितनी ही परिष्कृत, संस्कृत एवं अन्य प्रवृत्तियों से मिश्रित क्यों न हों—फिर भी, उनकी सतह में कामवासना का स्पर्श अवश्य होता है।"[1] दूसरी ओर वे कामुकता को प्रेम का पर्यायवाची मानने का विरोध करते हुए लिखते हैं—"हमें व्यक्ति विशेष की ओर उन्मुख काम प्रवृत्ति को ही दाम्पत्य प्रेम (प्रणय) समझने की भूल से बचना चाहिए। यह ठीक है कि प्रणय का एक आवश्यक कारण या एक लक्षण काम प्रवृत्ति का उन्मुख होना भी है, किन्तु व्यक्ति विशेष के प्रति उन्मुख यह सहज कामुकता जो कि भावना का अविकसित रूप है—प्रेम की संज्ञा से अभिहित होने के योग्य नहीं है।"[2]

---

1. "It (lust) is an essential element in the emotion conative attitude of human lovers towards one another; and that no matter, how much the attitude and the feeling of refined lovers may be modified and complicated by other tendencies, lust, nevertheless strikes the ground tone....."
—Social Psychology; page 338.

2. "We must avoid the mistake of assuming that mere direction of the sex impulse towards a particular person in

अस्तु, प्रेम कामुकता से सम्बन्धित होते हुए भी उससे बहुत कुछ भिन्न है। जैसा कि इनका अन्तर पीछे स्पष्ट किया गया है[1]—कामुकता केवल शारीरिक मिलन तक ही सीमित है जब कि प्रेम में हृदय और मन का भी मिलन होता है, कामुकता अस्थिर, क्षणिक, एवं चंचल होती है जबकि प्रेम में स्थिरता दृढ़ता एवं गम्भीरता का विकास होता है। कामुक व्यक्ति अनेकोन्मुख होता है जबकि प्रेमी में एकोन्मुखता होती है। जिस प्रकार दुग्ध और दधि मूलतः एक होते हुए भी प्रकृति एवं गुणो की दृष्टि से भिन्न होते हैं, ठीक ऐसा ही काम और प्रेम के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

प्रेम की उत्पत्ति—यद्यपि आदर्शवादी विचारकों ने प्रेम की उत्पत्ति बिना किसी कारण मानी है, किन्तु इसे हम स्वीकार ही नहीं कर सकते। प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है, प्रकट रूप में भले ही वह दिखाई न दे। हमारे काव्य शास्त्रियों ने प्रेमोत्पत्ति साधारणतः सुन्दर आलम्बन के दर्शन से मानी है तथा इस दर्शन के भी कई प्रकार—चित्रदर्शन, स्वप्न दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शनादि बताये हैं जिनका सार यही है कि सौन्दर्यानुभूति ही प्रेम की प्रेरक है। फिर भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक युवक दूसरे युवक के सौन्दर्य पर अथवा एक युवती दूसरी युवती के सौन्दर्य पर मुग्ध क्यों नहीं होती। हम न जाने जीवन में कितनी सुन्दरियों को देखते हैं किन्तु हमारा प्रेम किसी एक से होता है, सबके साथ क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि सौन्दर्यानुभूति एक संवेदन मात्र है जब इसके साथ सुन्दरी की प्राप्ति का विचार या इच्छात्मक तत्व मिश्रित होता है तो हमारी अनुभूति आकर्षण का रूप धारण कर लेती है। कहना न होगा कि यह इच्छात्मक तत्व काम वासना से प्रेरित होता है यही कारण है कि दो सम-लैंगिक व्यक्तियों के सम्बन्ध में जहाँ कि काम-वासना के लिये स्थान नहीं होता, सौन्दर्यानुभूति प्रेमाकर्षण का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकती। दो भिन्न लैंगिक व्यक्तियों में भी आलम्बन और आश्रय की परिस्थितियों की अनुकूलता एवं उनके दृष्टिकोण

---

itself constitutes sexual love, such habitual direction of the sex impulse towards one person is certainly an essential condition or feature of sex love, but an habitual lusting for a particular person would be a crude sentiment not worthy of the name of love (Same, page.....).

१. **देखिये—इसी प्रबन्ध का पृष्ठ २७।**

के साम्य से ही इस प्रारम्भिक आकर्षण की स्थिरता मिलती है। जब आश्रय को पता चलता है कि आलम्बन भी उसकी ओर आकृष्ट है, उसी की तरह उसे चाहता है तो यह आकर्षण स्थिर मनोदशा के रूप में परिणत हो जाता है जिसे हम प्रेम की आरम्भिक अवस्था कह सकते हैं। कई बार सौन्दर्याकर्षण के अतिरिक्त अन्य कारणों—जैसे कृतज्ञता, सहानुभूति, श्रद्धा या चिर-साहचर्य आदि में काम का मिश्रण होने से भी प्रणय का विकास देखा जाता है, किन्तु इस प्रकार का प्रेम, सौन्दर्यजनित प्रेम की अपेक्षा बहुत मन्द गति से विकसित होता है तथा वह प्रकृति की दृष्टि से उससे कुछ भिन्न तथा गुणों की दृष्टि से उससे हीन होता है। जैसी भावाकुलता, विह्वलता, एवं तन्मयता सौन्दर्यजनित प्रेम में होती है, उसका उसमें अभाव होता है।

प्रेम का विकास—प्रेमोत्पति के अनन्तर, प्रेम का विकास भी कुछ बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर है। यदि प्रेमोत्पति के तुरन्त बाद प्रेमी और प्रेमिका का मिलन अमर्यादित, अनियंत्रित एवं अबाधित रूप मे होता रहा तो कुछ दिनों की एन्द्रिय-तृप्ति के अनन्तर उनका आकर्षण मन्द और प्रेम शिथिल पड़ जायगा। ऐसी स्थिति में यदि कोई विशेष कारण न हो तो उनका प्रेम सदा के लिये भी समाप्त हो सकता है। दूसरी ओर यदि प्रेमाकर्षण की उत्पत्ति के अनन्तर प्रेमी और प्रेमिका दीर्घ समय तक एक दूसरे से दूर रहें; उन्हें एक दूसरे के निकट आने का कोई अवसर ही प्राप्त हो न तो भी उनका प्रेम अविकसित रहेगा। अस्तु, प्रेमोत्पत्ति के अनन्तर अति उन्मुक्तता और अति नियंत्रण—दोनों ही उसके विकास को रोकते हैं। प्रेम के विकास के लिये सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति यह है कि प्रेमी और प्रेमिका मर्यादित एवं नियंत्रित रूप में एक दूसरे से मिलते रहें तथा वह मिलन शारीरिकता से असपृक्त अर्थात् दर्शन-वार्तालाप तक ही सीमित रहे। प्रेमी प्रेमिका की पारस्परिक अनुरक्ति के अनन्तर एक-दूसरे को पारस्परिक मिलन के लिये जितने ही अधिक प्रयत्न करने पड़ेगे, उसके लिये जितना अधिक साहस और त्याग करना पड़ेगा उतना ही अधिक उनकी काम वासना का परिष्कार उनके हृदय का द्रवण एवं उनकी भावनाओं का उद्दीपन होगा किन्तु यह ध्यान रहे कि इस मिलन के लिये दोनों पक्ष सतत प्रयत्नशील एवं उत्सुक रहें, दोनों में से किसी एक के भी संघर्ष से विमुख हो जाने पर प्रेम निराशा में परिणत हो जायगा।

प्रेम की पूर्ण विकसित अवस्था में प्रेमी का हृदय एक ऐसी अनुभूति में तन्मय हो जाता है कि उसे प्रिय के व्यक्तित्व के अतिरिक्त किसी और का

ध्यान ही नहीं रहता। उसकी उपस्थिति में वह सारे दुःखों और समस्त अभावों को भूल जाता है,[1] उसके वियोग में उसे संसार का सारा वैभव एवं सौन्दर्य सारहीन एवं आकर्षण-शून्य प्रतीत होता है। प्रणय की ऐसी विकसित अवस्था में काम, अहं एवं स्वार्थ का विगलन हो जाता है और प्रेमी के रोम रोम से दैन्य, समर्पण एवं बलिदान की भावना व्यंजित होने लगती है।

प्रेम की स्थिरता—प्रेम-सम्बन्ध को स्थिर रूप प्रदान करने के लिए समाज में विवाह-प्रथा का विकास हुआ, किन्तु फिर भी सभी दम्पतियों का जीवन प्रेममय नहीं देखा जाता। केवल दो प्रेमियों को विवाह के सूत्र में बाँध देना ही प्रेम की स्थिरता के लिये पर्याप्त नहीं है अपितु कुछ ऐसी आवश्यक बातें हैं जिनके अभाव में प्रेम चिर स्थायी नहीं हो सकता। पहली बात तो यह है कि विवाह से पूर्व दो व्यक्तियों के आकर्षण को विकास के लिये पर्याप्त समय दिया जाना चाहिये जिससे उनका सम्बन्ध कामुकता के स्तर से अधिक ऊँचा उठ सके। दूसरे उनमें अहं, और स्वार्थ का इतना विगलन होना चाहिए कि वे एक दूसरे की इच्छाओं भावनाओं का आदर कर सकें तथा एक दूसरे की न्यूनताओं को भी सहन कर सकें। तीसरे, दाम्पत्य-जीवन की नवीनता और आकर्षण को चिर बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि पति-पत्नी का सहवास मर्यादित रहे, तथा बीच बीच में वियोग के लघु अवसर भी प्राप्त होते रहें और चौथी बात—जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है उनके प्रेम में सदा अनन्यता का भाव रहना चाहिए, दोनों में से एक के भी किसी अन्य व्यक्ति की ओर आकृष्ट हो जाने पर दाम्पत्य प्रेम समाप्त हो जायगा।

प्रेम और समाज—सामाजिक दृष्टि से प्रेम की उपयोगिता इसीसे सिद्ध है कि वह दो अज्ञात और अपरिचिति व्यक्तियों के हृदयों को मिलाकर उस दाम्पत्य-जीवन का सूत्रपात करता है जिसे पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का मूलाधार कह सकते हैं। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि समाज ने जितने नियंत्रण प्रेम पर लगा रक्खे हैं उतने अन्य किसी मानवीय भावना पर नहीं। हम जितने चाहे व्यक्तियों से स्नेह, मैत्री, वात्सल्य एवं श्रद्धा का सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं किन्तु प्रेम किसी एक से ही

---

१. **अकिंचिदपि कुर्वाण : सौख्यैर्दुःखान्यपोहति तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः। भवभूति उ० रा० २।१९**

कर सकते हैं। हम सबके सामने हँस सकते हैं, अपनी ईर्ष्या, द्वेष और घृणा को प्रकट कर सकते हैं, किन्तु प्रणय-व्यापार के लिये कोई एकान्त स्थल ही चुनना पड़ता है। यदि हमारी किसी से शत्रुता हो जाती है तो उस का ढिंढोरा हम सारे शहर में पीट देंगे, किन्तु किसी को हृदय दे बैठने की बात हम अपने मित्रों तक से छिपाते हैं—ऐसा क्यों? इसके सम्बन्ध में हमें दो तथ्यों पर ध्यान देना चाहिये। पहला तथ्य तो यह है कि प्रेम में वह शक्ति है कि अपनी चरमावस्था में वह व्यक्ति के ध्यान को संसार के समस्त विषयों से हटाकर एक ही व्यक्ति तक सीमित कर सकता है, उसकी अन्य समस्त भावनाओं व उसके उद्देश्यों को कुचल सकता है, उसके जीवन की सारी गतिविधियों पर पानी फेर कर उसे केवल प्रेम-पात्र की गलियों मे ही रात दिन चक्कर लगाने को विवश कर सकता है। निजी आवश्यकताओं का विचार, पारिवारिक समस्याओं की चर्चा, समाज के नियमों का निर्देश, नैतिकता का उपदेश—ये सब कुछ प्रेम विभोर हृदय के लिए प्रभाव शून्य हो जाते हैं। प्रेम ही एक ऐसी भावना है जहाँ व्यक्ति संसार से ही नहीं अपने प्राणो तक से विमुख हो सकता है: अतः मद मस्त गजेन्द्र जैसे इस सबल भाव को वश में करने के लिये समाज को मर्यादाओं एवं नियमों की शृंखला उसी के अनुरूप भारी से भारी एवं दृढ़ से दृढ़तर बनानी पड़ी। दूसरे, समाज का यह नियंत्रण स्वयं प्रेम के विकास में भी सहायक सिद्ध होता है। अनियंत्रित उच्छृङ्खल व अनेकोन्मुख प्रेम—प्रेम न रह कर कामुकता एवं रसिकता का पर्याय बन जाता है। एक पाश्चात्य विद्वान की तो धारणा यहाँ तक है कि समाज प्रेम का अधिकाधिक रस प्राप्त करने के लिये ही उस पर नये नये प्रतिबन्ध लगाता रहा है।[1] स्वयंवर प्रथा, एक पत्नी व्रत, पातिव्रत-धर्म तथा विवाह-विच्छेद सम्बन्धी नियमों एवं प्रथाओं का विकास मूलतः दाम्पत्य जीवन को सरस बनाये रखने के लिए ही हुआ था, यह दूसरी बात है कि आगे चलकर उनके स्वरूप मे परिवर्तन हो गया।

प्रेम और साहित्य—साहित्य का लक्ष्य पाठक को रसानुभूति करवाना है जो भावनाओं के स्फुरण द्वारा निष्पन्न होती है। प्रेम सबसे अधिक प्रबल

1. "Every form of a behaviour from chastity and monogamy to the most fantastic perversions trying to invent new form of sexual behaviour to intensify pleasure·····"

Huxley : Fashions in love.

भावना होने के कारण इस लक्ष्य की पूर्ति में साहित्यकारों का सबसे अधिक शक्तिशाली साधन सिद्ध होता है। अन्य भावनाओं में रस के सारे अवयवों—भाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि—का चित्रण अपेक्षित होता है, किन्तु प्रेम ही एक ऐसा स्थायीभाव है जिसमें रस का कोई एक अवयव—आलम्बन के सौन्दर्य का केवल एक अङ्ग, उसके हाव भावों की केवल एक झलक या आश्रय की केवल एक उक्ति अथवा मध्यस्थ दूत-दूतिकाओं का केवल एक संदेश ही पाठक को भाव विभोर करने में समर्थ हो सकता है। प्रेम में विरोधी और अविरोधी सभी संचारी भावों का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविकता से किया जा सकता है, इस तथ्य को प्राचीन आचार्य ही नहीं—आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं।[1] यही कारण है कि चाहे लेखक का उद्देश्य राजनैतिक सिद्धान्तों का चित्रण करना हो या धार्मिक उपदेशों का वर्णन करना, चाहे वह गद्य में उपन्यास, नाटक लिख रहा हो या कविता में प्रबन्ध काव्य, खण्डकाव्य, मुक्तककाव्य या गीतिकाव्य की रचना कर रहा हो, वह प्रेम का चित्रण किसी न किसी रूप में अवश्य करता है। सभी युगों और सभी देशों का साहित्य इस तथ्य के प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है। अस्तु, अधिक क्या, रसराज की पदवी ही इसके महत्व को सूचित कर रही है।

प्रेम सम्बन्धी अनुसंधान का महत्व—जिस प्रकार वीर रस सम्बन्धी साहित्य से किसी युग विशेष की युद्ध-कला एवं राजनैतिक परिस्थितियों का परिचय मिलता है : उसी प्रकार शृंगार रस के काव्य से तत्कालीन समाज के अंतरंग जीवन पर प्रकाश पड़ता है। प्रसिद्ध विद्वान् हक्सले के शब्दों में—"प्रेम हमारी चिरंतन भावनाओं और मनोवृत्तियों पर समाज की इच्छाओं, नियमों, प्रथाओं, विश्वासों, आदर्शों एवं परिस्थितियों आदि के पड़े हुए प्रभाव से मिश्रित होता है—अतः यदि प्रेम (शृङ्गार परम्पराओं) का इतिहास लिखा जा सके तो वह (उस समाज की) विभिन्न कलाओं का इतिहास, और विभिन्न युगीन विचारधाराओं, बाह्य प्रभावों, क्रान्तियों, नियमों, प्रथाओं एवं (वेश भूषा सम्बन्धी) शैलियों का एक लिखित विवरण (रैकार्ड) सिद्ध होगा।"[2]

---

1. "It must be noted that the sentiment of love and hate comprise many of the same emotional dispositions."
Macdougill : Social Psychology : 106
2. Like all the other great human activities, love is the product of unchanging passions, instincts, and desires and of laws and conventions, beliefs and ideals, which the circum-

प्राचीन युग से लेकर अब तक समाज के सांस्कृतिक एवं नैतिक स्तर तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों के फलस्वरूप विकसित प्रेम व्यवहार के विभिन्न रूपों का अध्ययन मनोरंजक होने के साथ-साथ, भावी समाज की रचना के लिए उपयोगी तथ्य भी प्रदान करता है।

---

stances of time and place, or the arbitrary fiats of great personalities have imposed on a more or less willing society. The history of love, if it were ever written (and doubtless some learned German has written it in several volumes), would be like the current histories of art—'a record of succeeding styles', and 'schools' of 'influences' 'revolutions', 'technical discoveries.''

—Aldous Huxley : "Fashion in love" in Do what you Will, (Edition 1931)
Pages, 131–132

द्वितीय खण्ड

ऐतिहासिक अनुशीलन

भारतीय साहित्य में शृङ्गार के विभिन्न रूप

यद्यपि मानवीय भावनाएँ मूलरूप में सदा अपरिवर्तित रहती हैं, किन्तु देश काल की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव से उनके बाह्य स्वरूप में न्यूनाधिक परिवर्तन होता रहता है। विभिन्न युगों की दार्शनिक मान्यताओं, धार्मिक विश्वासों, नैतिक आदर्शों, सामाजिक रीति रिवाजों, एवं साहित्यिक रूढ़ियों के फलस्वरूप प्रणय भावना के बाह्य रूपों, उसके आचरण की पद्धतियों और उसकी साहित्यिक अभिव्यंजना शैलियों में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। प्रेम की शारीरिक एवं मानसिक अनुभूतियों का मूलरूप प्रायः एक सा ही रहता है किन्तु उसकी व्यवहार विधियों में इसी प्रकार अन्तर आ जाता है जैसे एक ही थान से तैयार की गई विभिन्न पोशाकों में होता है।[1] भारतीय शृङ्गार-परम्परा में भी वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक प्रेम की विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं जिनके आधार पर शृङ्गार के अनेक भेदोपभेद किये जा सकते हैं।

सबसे पूर्व हम भारतीय साहित्य में उपलब्ध समस्त शृङ्गार चित्रण को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) यथार्थानुमोदित—जिसमें प्रेम का चित्रण तत्कालीन समाज की वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित है। (२) कल्पना प्रधान, जो मुख्यतः कवि की कल्पना पर आश्रित हो। यथार्थानुमोदित शृङ्गार के भी दो उपभेद कर सकते हैं—(१) मुख्यतः सामाजिक परिस्थितियों से अनुप्राणित (२) मुख्यतः धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित।

---

1. "Love's psychological and physio-logical material remains the same but every epoch treats it in a different manner, just as every epoch cuts its unvarying cloth and silk and linen into garments of the most diverse fashion.'

Aldous Huxley : Fashion in love, (do what you will) p. 132.

सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित शृङ्गार के भी तीन उपभेद किये जा सकते हैं—(१) जहाँ प्रेम विवाह के बन्धन से सर्वथा मुक्त रहता है—जैसे कि वैदिक साहित्य के उर्वशी और पुरुरवा के प्रेम में होता है। (२) जहाँ प्रणय-धारा वैवाहिक जीवन की परिधियों को स्वीकार करती है। (३) जहाँ नायक और नायिका का विवाह तो हो गया हो किन्तु वे किसी अन्य व्यक्ति (परकीया या उपपति) से गुप्त सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस प्रकार के शृङ्गार का चित्रण गाथा-सप्तशती, वज्जालग, अमरू-शतक, आर्या सप्तशती आदि में मिलता है।

विवाह-युक्त शृङ्गार के भी दो अवान्तर भेद किये जा सकते हैं—(१) एक पति या एक पत्नी से सम्बन्धित जैसे राम और सीता का प्रणय। (२) बहुपति (जैसे–द्रोपदी) या बहुपत्नियों से सम्बन्धित। बहुपत्नित्व से सम्बन्धित शृङ्गार के भी भारतीय साहित्य में दो रूप मिलते हैं—(१) शौर्य्य प्रधान जहाँ नायक नायिका की इच्छा का कोई विचार किये बिना बलपूर्वक प्रेयसी का अपहरण कर लेता है। महाभारत में इसी प्रकार के शृङ्गार का विकास मिलता है। (२) रसिकता प्रधान—जहाँ नायक अपने सौन्दर्य के बल पर उनका हृदय जीत कर अनेक प्रेमिकाओं से विवाह करता है। कालिदास के नायक इसी कोटि के हैं।

कल्पना प्रधान शृङ्गार के भी दो भेद किये जा सकते हैं—(१) रूढ़िमुक्त—जहाँ कवि स्वतंत्र रूप से प्रेमाख्यानों की कल्पना करता है। (२) रूढ़िबद्ध—जहाँ कवि काव्य शास्त्र, काम-शास्त्र आदि प्राचीन ग्रंथों की सामग्री के आधार पर प्रेम का वर्णन करता है, जैसा कि गीतगोविन्दकार जयदेव ने किया है।

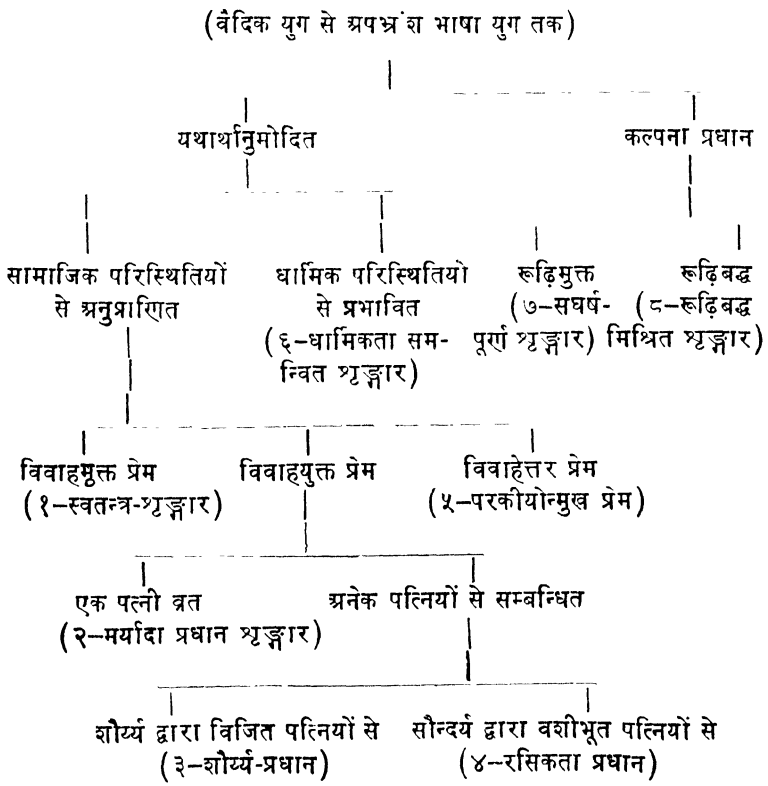
इस प्रकार भारतीय-शृङ्गार के मुख्यतः आठ भेद होते हैं। (स्पष्टता के लिये अगले पृष्ठ पर तालिका (क) देखिये) उपर्युक्त भेदों के अन्तर्गत आने वाली साहित्यिक रचनाओं की प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर उच्चारण सुविधा की दृष्टि से इनका नामकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—(१) स्वतन्त्र-शृङ्गार (विवाह-मुक्त प्रेम) (२) मर्यादाप्रधान शृङ्गार (एक पत्नी से दृढ़ प्रेम) (३) शौर्य्यप्रधान शृङ्गार (बलपूर्वक अनेक पत्नियों से विवाह) (४) रसिकता प्रधान शृङ्गार (सौन्दर्य प्रेरित बहु पत्नीत्व) (५) परकीयोन्मुख शृङ्गार (परकीय विवाहेत्तर प्रेम) (६) धार्मिकता समन्वित शृङ्गार (धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित) (७) संघर्ष पूर्ण शृङ्गार (रूढ़ि मुक्त काल्पनिक प्रेमाख्यानों में प्रेमी प्रेमिका को अनेक संघर्षपूर्ण परिस्थितियों

का सामना करना पड़ता है) (८) रूढ़िबद्ध मिश्रित शृंगार (काम-शास्त्र, काव्य-शास्त्र, आदि के विभिन्न तत्वों एवं रूढ़ियों के आधार पर चित्रित काल्पनिक शृङ्गार)।

शृङ्गार के उपर्युक्त आठों रूपों में से प्रथम का विकास केवल वैदिक साहित्य में मिलता है, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ का संस्कृत साहित्य में, पंचम और षष्ठ का प्राकृत एवं अपभ्रंश के साहित्य में तथा सप्तम और अष्टम का उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में मिलता है। (देखिये–तालिका–ख)

तालिका (क)

भारतीय साहित्य में चित्रित शृङ्गार के विभिन्न स्वरूप



हिन्दी काव्य में उपर्युक्त सभी रूपों का चित्रण मिलता है किन्तु उनमें से अधिकांश पूर्ववर्ती संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य से ही ग्रहण किये

हुए हैं। अतः हिन्दी शृङ्गार परम्परा को भली प्रकार समझने के लिये शृङ्गार के पूर्ववर्ती रूपों, उनके विकास में योग देने वाली बाह्य परिस्थितियों तथा उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन कर लेना नितान्त आवश्यक है। पूर्ववर्ती साहित्य—वैदिक, प्राकृत, अपभ्रंश में चित्रित शृङ्गार का ज्ञान प्राप्त किये बिना हिन्दी काव्य की शृङ्गार-परम्पराओं को समझने का प्रयत्न वैसा ही है जैसा वृक्ष की मूल को भूल कर केवल उसकी शाखाओं को देखना। ऐसा प्रयत्न कई विद्वानों द्वारा हुआ है जिसके फलस्वरूप अनेक भ्रान्तियों का प्रचार हो गया है। जिनका निराकरण आगे यथा-स्थान किया जावेगा।

भारतीय शृङ्गार के विभिन्न स्वरूपों का विकास

१. स्वतन्त्र शृङ्गार

(विकास काल प्रागैतिहासिक युग से—३००० ई० पूर्व तक)

विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध रचना ऋग्वेद है।[१] इसके विभिन्न अंश विभिन्न युगों में रचित हैं अतः इसमें आर्य सभ्यता के अनेक स्तर उपलब्ध होते हैं। इसके कुछ अंशों में शृङ्गार का वह रूप भी मिलता है जिसमें नारी अपनी प्रकृति-वासना से प्रेरित होकर स्वयं पुरुष से यौन सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करती है।[२] इसके अतिरिक्त विवाह निरपेक्ष अस्थिर दाम्पत्य का वर्णन भी ऋग्वेद के उर्वशी-पुरुरवा प्रसंग में उपलब्ध होता है।[३] इन प्रवृत्तियों को हम शृङ्गार के स्वतन्त्र रूप के अन्तर्गत लेते हुए उसकी बाह्य परिस्थितियों एवं साहित्यिक विशेषताओं का उद्घाटन कर सकते हैं।

(क) बाह्य-परिस्थितियाँ

वैदिक साहित्य के शृङ्गार के स्वतन्त्र रूप से सम्बन्धित अंश आर्यों की उस प्राचीनतम सभ्यता के द्योतक कहे जा सकते हैं जिसे कुछ इतिहास लेखकों ने देव सभ्यता का नाम दिया है।[४] ऋग्वेद में उल्लिखित देवों को प्रायः स्वर्गलोक की शक्तियों के रूप में समझे जाने की भूल होती रही है किन्तु इन्द्र के शारीरिक अंग प्रत्यंगों[५] का वर्णन तथा उसके भौतिक क्रिया कलापों का आख्यान जैसे शत्रु द्वारा चुराई हुई गायों को ढूँढ कर लाना,[६] असुरों की

---

१. संस्कृति के चार अध्याय—ले० दिनकर, पृष्ठ ३१।

२. यम यमी संवाद, ऋग्वेद मण्डल १०—सूक्त १०।

३. उर्वशी पुरुरवा संवाद ऋग्वेद मं० १०—सूक्त ९५।

४. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास—ले० डा० रांगेय राघव पृष्ठ ९६-१२३।

५. इन्द्र और इन्द्राणी के विभिन्न अंगों का वर्णन ऋग्वेद के इन पृष्ठों पर देखिए—उदर, (पृष्ठ ९।७) नासिका, (पृष्ठ ९।३) सुन्दर भुजाओं, अंगुलियों, जंघाओं आदि का वर्णन (पृष्ठ १३४७।८।९)।
(हिन्दी ऋग्वेद रूपान्तरकार रामगोपाल त्रिवेदी—संस्करण १९५४)

६. ऋग्वेद—मण्डल १।६।५।

नगरियों को नष्ट करना,[१] हड्डियों से वज्र तैयार करना,[२] सोम-पान करना[३] आदि—यह सिद्ध करता है कि वे कभी इस धरती के जीव रहे हैं। प्रत्येक जाति अपने पूर्वजों एवं ऐतिहासिक पुरुषों—जैसे राम, कृष्ण, महावीर, ईसामसीह, हजरतमुहम्मद आदि—को कालान्तर में दिव्य शक्तियों के रूप में पूजने लग जाती है, अतः इन्द्र के सम्बन्ध में भी ऐसा हुआ तो आश्चर्य की बात नही। डा० रांगेय राघव ने अपनी अनुसंधान द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित करते हुए देव सभ्यता का काल ५०००–३५०० ई० पूर्व माना है।[४] इस सभ्यता का विस्तृत परिचय देते हुए उक्त विद्वान ने लिखा है—इन्द्रयुग को देखने पर ज्ञात होता है कि उसका समाज कुछ इस प्रकार का था गण माताओं के नाम पर मिलते हैं। अवश्य ही यह मातृ-सत्तात्मक समाज की ओर इंगित करता है। मातृ-सत्ता पर पितृ सत्ता लादी हुई दिखाई देती है। एक प्रजापति है—उसकी अनेक पुत्रियाँ हैं, परन्तु उनको एक ही पति मिला। वास्तविक मातृ-सत्तात्मक समाज में पति का नाम याद नही रखा जाता था।"[५]

उपर्युक्त देव सभ्यता का ऋग्वेदीय अंशों से कितना सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में अभी और अनुसंधान की आवश्यकता है किन्तु इतना निश्चित है कि आर्य सभ्यता के इतिहास में एक युग ऐसा अवश्य रहा है जिसमें विवाह निरपेक्ष दाम्पत्य का प्रचार था। देवों से सम्बन्धित उर्वशी, मेनका आदि अप्सराओं के स्वतन्त्र आचरण विषयक विभिन्न पौराणिक आख्यानों में इस की प्रतिध्वनि मिलती है। महाभारतकार ने भी एक स्थान पर लिखा है कि पूर्व-युग में विवाह प्रथा का प्रचलन नही था, पहले पहल श्वेत केतु ने इस प्रथा का प्रचलन किया।[६] भारतवर्ष के कुछ प्रदेशों—उत्तरकुरू, महिष्मनी आदि

---

१. ऋग्वेद मण्डल १।५४।६, तथा ६।२०।१०। २. वही १।८४।१३।

३. वही १।१३७।१,२ ३ (हिन्दी ऋग्वेद पृष्ठ २१०)।

४. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास—ले० डा० रांगेय राघव पृ० १०३।

५. वही पृ० ९७।

६. अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने। कामाचार विहारिण्यः स्वतंत्राश्चारु हासिनि ॥४॥ श्वेतकेतुरिति ख्यातः पुत्रस्तस्या भवन्मुनिः मर्यादेय कृता तेन धर्म्या वै श्वेतकेतुता ॥१२॥ तदा प्रभृति मर्यादा स्थितेयमिति नः श्रुतम् व्युच्चरन्त्याः पति नायां अथ प्रभृति पातकम् ॥४४॥ (महाभारत १।१२८)

में महाभारतयुग तक विवाह प्रथा का प्रचार नहीं हो पाया था, उसका भी उल्लेख मिलता है।[1] संसार की कुछ अन्य सभ्य जातियों मे भी इस प्रथा का उन्मेष बहुत बाद में हुआ है। रोमन जाति के गणराज्य काल (५१० ई० पू० से २७ ई० पू०) की सभ्यता का परिचय देते हुए प्रो० रामेश्वर ने अपने ग्रंथ में लिखा है—समाज में विवाह का निम्न ढंग प्रचलित था। यदि पुरुष और स्त्री में विवाह के ख्याल से यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाता था तो स्त्री पुरुष के घर चली जाती थी और वे दोनों पति पत्नी की तरह मान्य होते थे। इस विवाह में किसी भी प्रकार की रस्म अदा करने की आवश्यकता नहीं थी। सम्बन्ध विच्छेद भी स्वतन्त्र था। पति या पत्नी में से कोई भी चाहे एक दूसरे का परित्याग कर सकते थे।[2] फिर भी ऋग्वेद के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि वैदिक युग के आरम्भ से ही आर्यो में विवाह प्रथा का उन्मेष हो गया था। सूर्य्या का विवाह सम्बन्धी विवरण इस बात का प्रमाण है। यम-यमी संवाद और उर्वशी पुरुरवा-प्रसंग में जिस विवाह निरपेक्ष दाम्पत्य का उल्लेख मिलता है, उसका सम्बन्ध ऋग्वेद की रचनाकाल से भी शताब्दियो पूर्व के समाज से समझना चाहिए।[3] संभवतः ऋग्वेद के आरम्भिक रचयिता ने प्राचीन अनुश्रुतियो के आधार पर इन प्रसंगो की रचना की हो।

वैदिक युगीन विवाह पद्धति की दो विशेषताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक तो विवाह से पूर्व युवक-युवतियों को एक दूसरे से परिचित होने का अवसर दिया जाता था। पति का चुनाव मुख्यतः कन्या की पसन्द के आधार पर होता था—स्वयम्बर प्रथा इसी का विकसित रूप थी। दूसरी

१. **स्वैरिण्यस्तत्र नार्यां हि यथेष्टं त्रिचरन्त्युत। (महा० २।३२।४०)**

२. **मानव की कहानी—लेखक डा० रामेश्वर गुप्ता पृष्ठ ४४०–४१।**

3. "Being of hoary antiquity Hindu Literature has naturally preserved some traces of promiscuity existing in prehistoric times.....The traces of promiscuity that we get in the epic have to be referred to prevedic times; for we find the institution of marriage well established in the Rigved". The Position of Women in Hindu Civilization—by Dr. A. S. Altaker. (Edition 1938) p. 35–36.

विवाह परिपक्वावस्था में ही होते थे।[1] इसलिये विवाह प्रथा के प्रचलित हो जाने पर भी वैदिक युगीन जीवन मे युवक युवतियों को विवाह से पूर्व स्वतन्त्र प्रेम के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते थे।[2] प्रसिद्ध इतिहासकार श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के शब्दों में कहा जा सकता है कि "वैदिक समाज में कुमारों और कुमारियों को परस्पर मिलने, अध्ययन, अभिमनन (पीछे पड़ना, मनाना, रिझाना) करने और प्रेम में फंसने के भरपूर अवसर मिलते थे। सभाओं विदर्थो और ग्राम जीवन के अन्य समागमों आदि के अतिरिक्त बसन्त ऋतु में समन नाम के उत्सव होते थे। जिनमें नाच, गान, घुड़-दौड़ और क्रीड़ायें ही मुख्य होती थीं। योषायें उन समनों में सजधज कर पहुँचती थीं। अनेक बार वे समन रात-रात जुटे रहते और उषा ही आकर उनका विसर्जन करती थी। उन समनों में प्रायः कुमारियाँ अपने लिए वर पा जातीं। माता पिता भाई बन्धु अपनी बेटियों और बहनों को सिंगारने-संवारने और अनुकूल वर खोजने में न केवल पूरी स्वन्त्रता प्रत्युत सहायता भी देते थे।[3]

आगे चलकर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव-स्वरूप विवाह की उपर्युक्त विशेषताओं का ह्रास हो गया जिससे शृङ्गार का स्वतंत्र रूप लुप्त हो गया। विवाह पद्धति के स्वरूप परिवर्तन का तत्कालीन पुरुष और नारी के सम्बन्धों एवं साहित्य के शृङ्गार चित्रण को किस प्रकार और कितना प्रभावित किया इसकी विवेचना आगे प्रसंगानुसार की जावेगी।

---

१. **वैदिक काल में युवक युवतियों के विवाह परिपक्व आयु में होते थे। युवक युवतियों को अपना जीवन संगी चुनने की काफी स्वतन्त्रता थी।**
—भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास, ले० हरिदत्तवेदालंकार पृ० ५०-५१।

2. The vedic literature does not refer to parents controlling the marriages of their sons and daughters—on the other hand we have references to beautiful brides selecting their own husband. References in Vedic literature te lovers yearning for each other, moving in each others company, exchanging mutual presents, using spells for ensuring reciprocal affection have been already given."
The Position of Women in Hindu Civilization—
(By Dr. A. S. Altaker Edition 1938 page 77—79).

३. **भारतवर्ष के इतिहास की रूप-रेखा—प्रथम भाग लेखक श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, द्वितीय संस्करण पृ० २५०।**

(ख) शृङ्गार निरूपण

१—कामुकता

काम के प्रति दृष्टिकोण—कोई भी जाति किसी नये प्रदेश में पहुँचते ही अपनी पूर्व परम्पराओं एवं जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को परिवर्तित नहीं कर लेती—नये प्रदेशों की नई जातियों के संपर्क से उसकी धारा में परिवर्तन आता है किन्तु इसमें कई शताब्दियों का समय लग जाता है। अस्तु, वैदिक युगीन आर्यों की काम सम्बन्धी चर्चाओं में उनके पूर्वजों के दृष्टिकोण का परिचय मिल सकता है। वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर काम क्रिया का स्पष्ट रूप में उल्लेख मिलता है।[1] नव विवाहित दम्पत्ति को संभोग विधि समझाते समय वैदिक ऋषि ने किसी प्रकार का संकोच नही किया है।[2] संभोग कार्य में स्त्री की कामोत्तेजना के लिए ईश्वर से सहायता की प्रार्थना की गई है[3] तथा संभोग कर्ता पर सवितादेवी के प्रसन्न होने की कल्पना की

---

१. देवाअग्रे न्यपद्यन्त पत्नी समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः
सूर्येक नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती प्रत्या सं भवेह। ३२
तां पूषं छिवतमामरेयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न उरू उशती विश्रयति यस्यामुशंतः प्रहरेम शेपः। ३८

अर्थात् हे स्त्री! विद्वान लोग सदा से ही अपनी पत्नियों को प्राप्त कर लेने के अनन्तर उनके शरीर में अपने शरीर को पूरी तरह मिलाते आये हैं अतः हे ऐश्वर्यशालिनी! हे सन्तान चाहने वाली! तू भी अपने पति से मिल (३२) हे परमेश्वर आज मुझे अपनी पत्नी में बीज वपन करना है उसको प्रेरित कीजिए जिससे वह मेरी कामना करती हुई अपने नितम्बों को फैलावे और मैं गुप्तेन्द्रिय को प्रविष्ट करूँ। (३८)

—अथर्ववेद १४।२।३२, ३८

२. आरोहोरुभुय घत्स्व हस्त परिष्यजस्व जायां सुमनस्यमानः। प्रजां कृण्वा थामिह मोदमानौ दीर्घ वामायु सविना कृणोतु॥—अथर्ववेद १४।२। ३६

अर्थात् हे पुरुष तू नितम्बों पर आ जा। हाथ का सहारा दे। प्रसन्न चित्त होकर पत्नी को चिपकाले और हर्ष मानते हुए तुम दोनों संतान उत्पन्न करो जिससे सविता देव भी तुम दोनों की आयु बढ़ावे।

३. देखिये उपर्युक्त टिप्पणी सं० १।

गई है[1] जिससे पता चलता है कि प्राचीन आर्य इस क्रिया को अपवित्र या अश्लील नहीं समझते थे, अपितु इसे वे एक धार्मिक कृत्य जितना महत्व देते थे।

कामुकता का चित्रण--जैसा कि पीछे कहा गया है ऋग्वेद के यम-यमी संवाद[2] में सभ्यता के उस रूप की झलक मिलती है जबकि नारी अपनी प्रकृत वासनाओं से प्रेरित होकर पुरुष के पास जाती थी। उपर्युक्त संवाद कामुकता से ओत प्रोत है किन्तु उसमें अनुभूतियों की ऐसी स्वाभाविक अभिव्यंजना मिलती है कि उसे हम काव्यत्व से शून्य नही कह सकते। यौवन विभोर बाला यमी यम से शारीरिक मिलन का प्रस्ताव अत्यन्त उत्तेजित शब्दों में करती हुई कहती है—आओ, रथ के दो पहियों की भाँति हम एक दूसरे से मिल जाँय[3]—जिस प्रकार लता वृक्ष के चारों ओर लिपट जाती है, उसी प्रकार मैं भी[4]—यमी की उक्तियों में विभिन्न संचारी भावों का चित्रण भी अनुभूतिपूर्ण है। वह दैन्य से ओत प्रोत शब्दों में उपालम्भ देती है--भला वह युवक (भाई) हो क्या हुआ जिसके होते हुए मै अनाथिनी की भाँति भटक रही हूँ। हाय! मैं कैसी बहिन हूं जो भाई के होते हुए भी संताप भोग रही हूँ।'[5] अन्त में वह निराश होकर अपना क्षोभ व्यंजित करती है—आह! यम तू बड़ा डरपोक निकला, मै नहीं जानती थी कि तुम इतने कठोर हृदय हो।[6]

उपर्युक्त प्रसंग की कुछ बातें विशेष उल्लेखनीय हैं--एक तो इसमें काम क्रिया के लिए किसी एक शब्द के स्थान पर दोनों ही—यम-यमी, लम्बे वाक्य का प्रयोग करते हैं, जिससे लगता है इस क्रिया का नामकरण अभी तक नहीं हुआ था। दूसरे, इसमें आलिंगन आदि चेष्टाओं का उल्लेख दोनों ने निःसंकोच भाव से किया है, संभवतः इसे अभी अश्लील नहीं समझा जाता था। तीसरे, इस समय भाई बहिन के संसर्ग पर प्रतिबन्ध तो लग चुका था

---

१. देखिये–उपर्युक्त टिप्पणी संख्या २।
२. ऋग्वेद, मण्डल १० : सूक्त १०।
३. जायेव पत्ये, तन्वंरिरिच्यां विचिहहेवरथ्येव चक्रा। (ऋ० वे० १०।१०।७)
४. परिष्वजाते लिबुजेववृक्षम् (वही १०।१०।१३)
५. कि भ्राता सद्यदनाथं भवाति किमुस्वसायं निऋति निंगच्छात्।
(वही १०।१०।११)
६. बतोबतासि कम नेव ते मनोहृदयं चा विदाम। (१०।१०।१३)

किन्तु अभी इसका संस्कार इतना गहरा नहीं पड़ा था कि जिससे यमी को ऐसा प्रस्ताव करने में संकोच होता। चौथे, यह प्रतिबन्ध सामाजिक न होकर धार्मिक दृष्टिकोण से था क्योंकि यम-यमी के प्रस्ताव को स्वीकार करने में यही आपत्ति प्रकट करता है कि देवताओं के दूत सर्वत्र विचरण करते हैं, वे देख लेंगे।[1] कुछ भारतीय विद्वानों ने इस प्रसंग को आर्यजाति के लिए कलंक समझकर यम-यमी को पति पत्नी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[2] किन्तु इसमें भ्राता और स्वसा शब्द का उल्लेख इतना स्पष्ट है कि हम उन्हें पति पत्नी नही मान सकते।[3] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ अन्य अंशों में भी कामुकता का शुष्क चित्रण मिलता है जिसका काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्व नही है।

सौन्दर्य—वैदिक साहित्य का दृष्टिकोण शिवम् परक ही है फिर भी उसमें सौन्दर्य चित्रणों का नितान्त अभाव है। संहिताओं के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि उनमें देवताओं के चित्रण रूप में पुरुष सौन्दर्य को भी उतना ही महत्व मिला है जितना नारी सौन्दर्य को। इन्द्र के प्रशस्त ललाट, विवृत ओष्ठों एवं भारी उदर का वर्णन बार-बार हुआ है। मंडूक सूक्त में हम प्रकृति के स्वतन्त्र निरीक्षण का परिचय पाते हैं जहाँ वर्षाकाल में मंडूकों की लीला का सजीव चित्रण किया गया है—मेह की बूँदों से प्रसन्न होकर क्रीड़ा मग्न मेंढक एक दूसरे को बधाई सी देते प्रतीत होते हैं, चितकबरे रंग वाला मेंढक पीले मेंढक के साथ उछल कर उसके स्वर में अपना स्वर मिलाता है—एक मेंढक दूसरे मेंढक की टर्राहट को इस तरह दोहराते हैं मानो गुरु के शब्दों को शिष्य दोहराता हो।[4]

ऋग्वेद में यत्र-तत्र नारी सौन्दर्य का भी चित्रण मिलता है। उर्वशी को आकाश में चमकती हुई विद्युत के समान बताया गया है।[5] कन्याओं के वस्त्राभूषणों द्वारा सुसज्जित होकर पति के पास जाने का उल्लेख भी कई

---

१. देवानां स्पर्श इह ये चरन्ति। वही १०।१०।८

२. स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत वैदिक भाष्य।

३. किन्तु भ्राता सद्यदनाथं भवति किमु स्वसायं निकृति निगच्छात्।
(ऋ० वे० १०।१०।११)

४. ऋग्वेद, मंडूक सूक्त, मण्डल ७।१०३, ३–५।

५. ऋग्वेद—हिन्दी अनुवाद—रामगोपाल त्रिवेदी पृ० १२७०।१०

स्थानों पर मिलता है।[१] इन्द्राणी के प्रसंग में उसकी सुन्दर भुजाओं, सुन्दर अंगुलियों, लम्बे केशों और स्थूल नितम्बों का वर्णन किया गया है।[२] फिर भी यह उल्लेखनीय है कि नारी की बाह्य अलंकृति एवं उसके सामूहिक रूप वैभव का जितना विस्तृत वर्णन ऋग्वेद में मिलता है उतना शारीरिक सौन्दर्य का सूक्ष्म विश्लेषण नहीं मिलता। फिर भी आगे चलकर शतपथ ब्राह्मण में वेदी की रचना के लिये नारी शरीर को आदर्श बताते हुए उसके स्थूल नितम्बों, विशाल वक्ष प्रदेश एवं सूक्ष्म कटि का उल्लेख मिलता है।[३] अतः यह कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिक युग तक नारी के शारीरिक सौन्दर्य का स्थूल विश्लेषण हो चुका था।

साहित्यिक प्रेमाख्यान--ऋग्वेद के एक सूक्त[४] में उर्वशी और पुरुरवा प्रणय संवाद भी वर्णित है जो मार्मिकता की दृष्टि से विश्व के किसी भी प्रेम काव्य की तुलना में रखा जा सकता है। राजा पुरुरवा की प्रेयसी उर्वशी किसी बात पर रुष्ट होकर उसे छोड़ कर चली जाती है। पुरुरवा उसके विरह में पागलों की तरह उन्मत्त होकर उसे ढूँढ़ता हुआ मानसरोवर के तट पर पहुँचता है जहाँ उर्वशी अपनी सखियो के साथ आमोद प्रमोद में व्यस्त मिलती है।[५] "हे निष्ठुर! ठहर! ठहर!" इन शब्दों से अपनी बात आरम्भ करता हुआ पुरुरवा अपने विरह व्यथित हृदय की दशा अत्यन्त करुणोत्पादक शब्दों में वर्णन करता है,[६] पर निष्ठुर, अल्हड़, मद-विभोर सुन्दरी उर्वशी पर इस का कोई प्रभाव नही पड़ता। वह गर्व और तिरस्कार से ओत-प्रोत शब्दों में उत्तर देती हुई कहती है--पुरुरवा! क्या रक्खा है तुम्हारी

---

१. वही पृ०—९९९।३३, १११२।२, १२७२।१४।

२. वही पृ०—१३४७।८।

३. एवमिह यह योषं प्रशसन्ति पृथु श्रोणिमृष्टान्तरा सा मध्ये संग्राह्योति।
—शत० १।२।५।१६

४. ऋग्वेद १०।९५।

५. ऋग्वेद में केवल पुरुरवा और उर्वशी का सम्वाद मिलता है। उनके प्रेम सम्बन्धी पूरे इतिवृत पर ऋग्वेद के व्याख्याता सायणाचार्य ने प्रकाश डाला है।

६. हये जाये! मनसा तिष्ठ घोरे वंचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नो मंत्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे च नाह्न।
—ऋ० वे० १०।९५।१

बातों में। जिस प्रकार सूर्य सदा उषा के पीछे पीछे दौड़ता रहता है, उसी प्रकार तुम भी सदा मेरे पीछे पड़े रहते हो पर मै वायु के समान हूँ, मुझे कौन वश में कर सकता है।"[1]

जब विभिन्न अनुनय, विनय एवं दैन्यपूर्ण युक्तियों से भी पुरुरवा को कोई सफलता नहीं मिलती तो अन्त में निराश होकर वह अपने शरीर को सिंह भेड़ियों के सम्मुख डालकर सदा के लिए नष्ट कर देने की बात कहता है।[2] पर उर्वशी पर इसका कोई प्रभाव नही पड़ता। वह उसे आँसू बहाता छोड़ कर वहाँ से विदा हो जाती है। जाने से पूर्व वह अपने प्रेम की वास्तविकता इन शब्दों में प्रकट कर जाती है—"न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, साला वृकाणां हृदयान्येता" (स्त्रियों का प्रेम सच्चा नही होता उनका हृदय जंगली भेड़ियों के हृदय के तुल्य होता है)।[3]

प्रवृत्तियाँ और विशेषताएं—उपर्युक्त प्रेमाख्यान भारत का ही नहीं विश्व साहित्य के उपलब्ध प्रेमाख्यानों में सबसे प्राचीन कहा जा सकता है जो कि स्वच्छन्द प्रेम की मुक्त कल्पनाओं, विरह वेदना की सघन अनुभूतियों एवं निष्ठुर नायिका की गर्वोक्तियों से भरपूर है।[4] प्रकृति और प्रवृतियों की दृष्टि से यह भारतीय प्रेम की सामान्य पद्धति से कई बातों के सर्वथा भिन्न है। पुरुरवा–उर्वशी का प्रेम एक स्वतन्त्र प्रेम है जो विवाह के चिर बन्धन को स्वीकार नहीं करता; दूसरे इस में प्रेम एक देशीय है; तीसरे, इस में नायिका नायक से अधिक उच्च कुल एवं अधिक गौरव शालिनी है; चौथे नायिका नायक को छोड़कर जाती है तथा विरह वेदना का अनुभव नायिका न करके नायक करता है; और पाँचवे यह कहानी दुःखान्त है। आगे चलकर जिस प्रेम पद्धति का भारत में विकास हुआ उसमें ये बातें सर्वथा विरोधी रूप में मिलती हैं। कालिदास ने अपने नाटक विक्रमोर्वशी में इसी प्रेमाख्यान को

---

१. **किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसा सग्रियेव।**
पुरुरवा ! पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि॥
—ऋ० १०।९५।२

२. **सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।**
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं, वृकारभसासो अद्युः।
—वही १०।९५।१४

३. ऋग्वेद १०।९५।१५।

४. ऋग्वेद—सूर्य का विवाह, १०।८५

लिया है, किन्तु उपर्युक्त पाँचों तथ्यों को उन्होंने सर्वथा बदल कर इसे अपने युग की प्रवृत्तियों के अनुकूल बना लिया है।

(ग) स्वतन्त्र रूप का ह्रास और उसके कारण

ऋग्वेद के अन्य अंशों के अध्ययन से स्पष्ट है कि आगे चलकर उन्मुक्त प्रेम का स्थान विवाह प्रथा ने ले लिया था,[1] किन्तु फिर भी विवाह का आधार एवं उद्देश्य स्त्री पुरुष का प्रेममय जीवन होने के कारण उनका दाम्पत्य जीवन रूढ़ि मात्र नहीं बन गया था। अब भी पत्नी, दासी न बनकर प्रेयसी के स्थान पर आसीन थी। ऋग्वेद की एक ऋचा से—"जो दम्पती एक मन होकर उत्तम कार्यों के लिये साथ-साथ दौड़ते हैं—वे देवता हैं[2] से तत्कालीन जीवन में नारी की उच्च स्थिति का आभास मिलता है। दाम्पत्य जीवन का लक्ष्य यहाँ शारीरिक मिलन मात्र नहीं हृदय का भावात्मक मिलन है,[3] नारी यहाँ पुरुष की अनुचरी न होकर हर क्षेत्र में उसकी सहचरी है।

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि आर्यों के दाम्पत्य जीवन के इस उच्च आदर्श का आगे चलकर पतन होने लगा। अथर्ववेद एवं उत्तरकालीन उपनिषद् ग्रंथों मे ऐसे पर्याप्त उदाहरण मिलते है जिनसे तत्कालीन दाम्पत्य जीवन की कटुता एवं अशान्ति का पता चलता है। अथर्ववेद में इस प्रकार के अनेक तंत्र मन्त्रादि का विवरण मिलता है जिनसे स्त्री अपने पति को सपत्नी के आकर्षण से मुक्त करके अपना वशवती बना सके।[4] दूसरी ओर बृहदारण्यकोपनिषद् में अपनी पत्नी के जार को नष्ट करने की विधियों का उल्लेख

---

१. ऋग्वेद—सूर्य का विवाह—१०।८५

२. या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः
देवासो नित्ययाशिरा। —ऋग्वेद ८।३१।५

३. ऋग्वेद में विवाह के अनन्तर वर वधू प्रार्थना करते हैं—सारे देवता! हम दोनों के हृदयों को मिला दे। जल वायु सरस्वती हम दोनों को संयुक्त करें। —ऋग्वेद हिन्दी अनुवाद—१०।८५।४७ पृष्ठ १३४६

४. उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय।
अग्न उन्मादय त्वमसौ मामनु शोचतु। —अथर्व० ६।१३०।४

अर्थात् हे मरुत! हे अग्नि आदि देवताओ! उसे (मेरे पति को) ऐसा पागल बना दो कि वह सदैव मेरे ही ध्यान में मग्न रहे।

है।[1] इससे स्पष्ट है कि आर्यों के जीवन में व्यभिचार की मात्रा बढ़ने लग गई थी।

अस्तु, वैदिक युग के अन्त तक आर्य जीवन की उन सभी विशिष्टताओं का क्रमशः लोप हो गया जिन से उनका दाम्पत्य जीवन माधुर्य एवं प्रेम से ओत-प्रोत था।[2] नारी स्वतन्त्रता पर पुरुष की स्वेच्छाचारिता का अंकुश निरन्तर बढ़ने लगा, वह सहचरी के स्थान पर अनुचरी बन गई। जहाँ पुरुषों में बहु विवाह का प्रचलन होने लगा वहाँ विधवा-विवाह का निषेध होने लगा। विवाह भी युवक और युवती के प्रेम के आधार पर न होकर माता पिता की इच्छा के आधार पर होने लगा।

कारण – उपर्युक्त दृष्टिकोण में इस परिवर्तन के कई कारण हैं, पहला तो आर्य लोग अपने जिस उच्च आदर्श को लेकर प्रतिष्ठित हुए थे, वह तत्कालीन भारतीय वातावरण के अनुकूल न था। उस समय भारत में शहरों में निवास करने वाले अत्यन्त विलासी द्रविड़ों की सभ्यता का प्रचार था जिसमें संभवतः नारी—पुरुष की शारीरिक तृप्ति का साधन मात्र थी। अतः उस वातावरण का आर्यों पर भी प्रभाव अपरोक्ष रूप से पड़ा होगा। दूसरे, ज्यों-ज्यों आर्य भारत में शक्ति सम्पन्न होते गये त्यों-त्यों उनमें विलासिता का प्रवेश होने लगा। तीसरे, दार्शनिक क्षेत्र में इस मान्यता का विकास हुआ कि पुत्र ही परलोक में मोक्षदाता है, अतः कन्याओं का महत्व घटने लगा। चौथे, आर्य अनार्य कन्याओं से विवाह करने लगे, जो शिक्षा दीक्षा की दृष्टि से हीन रही होगी फलतः पत्नी का महत्व घटने लगा।

---

१. **यदि स्त्री का कोई जार हो और उस जार के साथ उसका पति द्वेष करना चाहे तो एक मिट्टी के कच्चे बर्तन में अग्नि को रखकर पारिस्तणादि कर्म को उल्टा करे और सिरकियों को उल्टी बिछा कर बर्तन में रक्खी हुई अग्नि में घी और इन सिरकियों का हवन करें—साथ में इस मंत्र का उच्चारण करे—अरे दुष्ट ! तूने मेरी प्रदीप्त योषाग्नि में होम किया है, इसलिए मैं तेरे प्राण हर लेता हूँ।**

—वृहदाश्यकोपनिषद्–हिन्दी अनुवाद सहित अध्याय ६।४।१२

2 "In brief it can be said, the picture of woman-hood given in the hymns of the Rig-veda is far different from what we find in later literature.

—Women in the Vedic Age
By Shri Shakuntala Rao Shastri Page. 37-38

इस प्रकार भारतीय वातावरण में जिस दाम्पत्य जीवन एवं विवाह पद्धति का विकास हुआ उसमें स्वतन्त्र प्रेम के विकास की संभावनाएँ बहुत कम रह गई। स्वतन्त्र प्रेम जन्य विकसित दाम्पत्य को भी आगे चलकर गान्धर्व विवाह की सज्ञा देते हुए उसे विभिन्न मर्यादाओं से नियन्त्रित कर दिया गया। यही कारण है कि परवर्ती भारतीय साहित्य में हमें शृङ्गार का स्वतन्त्र रूप कहीं उपलब्ध नही होता। आगे हिन्दी काव्य की रीतिमुक्त शृङ्गार काव्य धारा मे अवश्य इसका पुनरोत्थान विशेष परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ, जिसका विवेचन हिन्दी शृङ्गार-परम्परा के अन्तर्गत आगे किया जायगा।

२. मर्यादा प्रधान शृङ्गार

(विकास काल लगभग २००० ई० पू०)

भारतीय शृङ्गार के मर्यादा प्रधान रूप का पूर्ण विकास सबसे पूर्व बाल्मीकीय रामायण में प्राप्त होता है जिसके रचना काल के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद मिलता है। पौराणिक वंश तालिका के अनुसार राम का आविर्भाव मनु की ६५वीं पीढ़ी में हुआ।[1] मनु का समय लगभग ३५०० ई० पू० माना जाता है[2]—अतः यदि प्रत्येक पीढ़ी का समय लगभग २०–२५ वर्ष माने तो रामायण का ऐतिहासिक इतिवृत्त लगभग २००० ई० पू० सिद्ध होता है।[3] अस्तु, भारत में स्थित होकर आर्य जाति ने धर्म, दर्शन, राजनीति और समाज के क्षेत्र में लगभग डेढ़ हजार वर्षो में जो उन्नति की उसी के परिणाम स्वरूप शृङ्गार के मर्यादा प्रधान रूप का विकास हुआ।

(क) बाह्य परिस्थितियाँ

प्राचीन वैदिक धर्म भावना और उपासना पर आधारित था, किन्तु ज्यों-ज्यों सामाजिक नियमों एवं विधि विधानों की वृद्धि होती गई धर्म का रूप भी कर्म काण्ड की जटिलता से ग्रस्त होता गया। तत्कालीन बाह्य-ग्रन्थों

---

१. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास—ले० डा० रांगेय राघव पृष्ठ संख्या·····१८५। (संलग्न तालिका)

२. वही : भूमिका—पृष्ठ ६।

३. कुछ पाश्चात्य विद्वान रामायण का काल १५०० ई० पू० के लगभग मानते है—संस्कृति के चार अध्याय, लेखक—दिनकर पृ० सं० ६७।

में दी हुई विभिन्न प्रकार के यज्ञों की विस्तृत विधियों से पता चलता है कि आर्यों के धार्मिक दृष्टिकोण में अब भावना का स्थान बाह्य मर्यादाओं ने ले लिया था। राजनीति के क्षेत्र में भी सत्ता के उपभोक्ताओं पर प्रजा की इच्छाओं, नियमों, एवं मर्यादाओं का अंकुश लगा हुआ था। "आरम्भिक वैदिक युग की भाँति राजा के नियमन के लिये सभा और समिति नामक संस्थाएँ इस युग में भी थी। राजा की समृद्धि के लिए राजा और समिति का सामंजस्य आवश्यक समझा जाता था। अत्याचारी राजाओं को राजा के कोप का शिकार होना पड़ता था।"[१] समाज के क्षेत्र में वर्ण-व्यवस्था अपने पूरे रंग में आ चुकी थी -- इसकी उपेक्षा करने वाले शम्बूक जैसे व्यक्ति को स्वयं राम दण्ड देते हैं। कुछ वर्णों में अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। क्षत्रियों की इसी प्रवृत्ति का दमन परशुराम ने भली प्रकार किया था फिर भी इसका लोप होना बिल्कुल सभव नही था। इसका प्रभाव विवाह पद्धति पर भी पड़ा। पहले कन्या किसी भी युवक को वरण करने में स्वतन्त्र थी, किन्तु अब क्षत्रिय लोग यह चाहते थे कि उनकी कन्या किसी अपनी जाति के युवक से ही विवाह करे, अतः स्वयंवर को नया रूप दिया गया जिसमें इच्छुक व्यक्तियों के क्षत्रियत्व की परीक्षा हो सके। सीता स्वयम्वर को स्वयंवर कहना उसका उपहास है—सीता की पसन्द का उसमें कोई प्रश्न नहीं था—जो धनुष तोड़ने में समर्थ होता उसे पिता की प्रतिज्ञा के अनुकूल स्वीकार करना पड़ता। विवाह के अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी नारी की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगने आरम्भ हो गये थे। कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों में स्त्रियों के लिये सभाओं में जाना निषिद्ध घोषित किया जाने लगा।[२] परलोक के अस्तित्व में विश्वास की वृद्धि एवं पुत्रों द्वारा पिण्ड दान की विधियों के विकास के साथ-साथ पुत्र की अपेक्षा कन्या का महत्व घटने लग गया था। जहाँ एक ओर पुत्रेष्टि यज्ञों का आयोजन होता था वहाँ ऐसे यज्ञों का भी आविष्कार हुआ जिससे कन्या उत्पन्न न हो।[3] पहली स्त्री से पुत्र उत्पन्न न होने पर दूसरा विवाह किया जाता था। जैसा कि दशरथ करते हैं—इससे बहु विवाह की प्रवृति को बल मिला जो नारी के ह्रास का कारण सिद्ध हुई। वस्तुतः रामायणकालीन समाज में जीवन के हर क्षेत्र में धर्म, राजनीति,

---

१. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, लेखक—हरिदत्त वेदालंकार पृष्ठ ५७।
२. वीमैन इन दी वैदिक एज—लेखिका शकुन्तला राव, (पृष्ठ ७४)
३. वही पृष्ठ ७१।

समाज (वर्ण-व्यवस्था और नारी की अवस्था) बाह्य पद्धतियों, नियमों और मर्यादाओं का अंकुश लगा हुआ था। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने जिन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में आर्य आदर्श को उच्चता की अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया था—बहु विवाह की इस कुलघातिनी प्रवृत्ति को नियंत्रित करने के लिये एक-पत्नी व्रत का आदर्श प्रतिष्ठित किया। दूसरी ओर उसके पूरक के रूप में जनक नन्दिनी ने पातिव्रत्य की भावना का विकास किया। इस प्रकार एक पत्नीव्रत एवं पातिव्रत्य भाव के समन्वय द्वारा शृङ्गार का वह रूप विकसित हुआ जिसे हम मर्यादा प्रधान कह सकते हैं। यद्यपि इस मर्यादित रूप में वैदिक युगीन दाम्पत्य की खोई हुई आभा, लुप्त प्रायः माधुर्य की पुनः उपलब्धि की थोड़ी संभावना थी किन्तु यह ध्यान रहे कि आर्यों के शृङ्गारिक जीवन की मूल प्रकृति से कई अंशों में यह सर्वथा भिन्न था। जहाँ पहले नारी पुरुष की सहचरी थी, पातिव्रत्य के इस नये आदर्श में वह 'छायेवानुगता सदा' अर्थात् छाया की भाँति अनुचरी बन गई। एक पत्नीव्रत का पालन करने वाले पुरुष के लिये यह आवश्यक नहीं रहा कि जीवन के हर क्षेत्र में वह प्रेयसी का साथ दे—किसी असभ्य नागरिक की साधारण उक्ति पर उसे अपने घर से विदा कर देने का अधिकार भी उसने अपने पास सुरक्षित रख लिया। वैदिक युगीन दाम्पत्य में सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की परिस्थितियाँ और समस्याएँ दाम्पत्य जीवन को भंग करने की क्षमता नहीं रखती थीं, किन्तु रामायण के आदर्श में वह बाह्य नियमों एवं मर्यादाओं से इतना अधिक नियंत्रित हो गया था कि आवश्यकता पड़ने पर पति रघुकुल की सुनहरी राज गद्दियों का सेवन करता हुआ, अपनी दिग्विजय का अश्व चारों ओर घुमाता हुआ, प्रेयसी की स्मृति को स्वर्ण की मूर्ति में अंकित करवा कर अपना समय बिता सकता था तो दूसरी ओर पत्नी—महलों में पली हुई राज-कुमारी, किसी वन्य प्रदेश की पल्लवों से आच्छादित कुटिया में अपने फूल से नवजात शिशुओं को वल्कल वस्त्रों में छिपाती हुई अपने शेष जीवन को अश्रु बिन्दुओं से तिल-तिल कर काटने के लिए विवश हो सकती थी। अतः इस आदर्श को हम वैदिक आदर्श के अनुसार, उसका स्थानापन्न, उसकी क्षति की पूर्ति में समर्थ तथा ह्रासोन्मुखी नारी के पुनरोत्थान में पूर्णतः समर्थ तो नहीं कह सकते किन्तु उस युग की परिवर्तित अवस्था के अनुरूप जितना सुधार संभव था, उसकी संभावनाएँ अवश्य इसमें विद्यमान थीं। एक ऐसा समाज जिसमें कर्तव्य की भावना से, आत्म सम्मान को पद-लोलुपता से, प्रतिज्ञा को प्राणों से और जाति को व्यक्ति से अधिक महत्व दिया जाता था उसमें

दाम्पत्य जीवन के इस नये आदर्श के अतिरिक्त और कोई रूप ठीक बैठ भी नहीं सकता था। अस्तु, उस मर्यादा प्रधान समाज के लिये शृङ्गार और दाम्पत्य के इस मर्यादित रूप का विकास करके राम ने उस युग की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस शृङ्गार के प्रतिनिधि काव्य के रूप में रामायण का अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जाता है।

(ख) बाल्मीकीय रामायण में शृङ्गार चित्रण

कामुकता—वैदिक साहित्य में काम क्रिया का वर्णन स्पष्ट रूप में मिलता है, किन्तु रामायण युग तक इसके प्रति अत्यन्त गुह्यता एवं अश्लीलता का भाव विकसित हो चुका था, अतः प्रसंग उपस्थित होने पर भी बाल्मीकि इसका केवल संकेत मात्र करके आगे बढ़ जाते हैं। कामुकता को मानवीय दुर्गुणों में सम्मिलित कर लिया गया था, इसका प्रमाण अयोध्या सम्बन्धी इस उक्ति—कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्[1]—से मिलता है। बाल काण्ड की कुछ प्रासगिक कहानियों में सुन्दर अप्सराओ द्वारा शृङ्ग ऋषि का कामोद्दीपन, इन्द्र का अहिल्या के साथ व्यभिचार, वायु का कुशनाभ की कन्याओं के साथ बलात्कार, आदि का निरूपण मिलता है किन्तु इन्हें हम रामायण की मूल प्रकृति से सम्बन्धित नही मान सकते। एक तो भाषा शैली की दृष्टि से बाल काण्ड के ये अंश प्रक्षिप्त माने जाते है, दूसरे इसने पात्र मुख्यतः ऋषि, देवी वायु आदि ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें सामान्य मानवीय समाज के प्रतिनिधि के रूप में गृहीत करना अनुचित होगा वस्तुतः रामायण के रचयिता की कामुकता के प्रति अरुचि एवं जुगुप्सा ही व्यंजित हुई है।

सौन्दर्य—रामायण कालीन समाज के दृष्टिकोण में सौन्दर्योन्मुखता का कितना अधिक विकास हो चुका था—इसका आभास हमें इन पंक्तियों में मिलता है—अयोध्या में कोई भी स्त्री या पुरुष ऐसा नही था जो सुन्दर न हो, जिसने कुण्डल मुकुट और माला न धारण कर रखी हो। किसी के भी पास भोग सामग्रियों का अभाव न था, सभी स्नान करते थे, सभी शरीर में सुगन्धित लेपों का प्रयोग करते थे।[2]

---

१. रामायण : बालकाण्ड। ६।८

२. सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शील वृत्ताभ्यां महर्ष य इवामलाः।
नाकुण्डली नामुकुटी नास्रग्वी नात्प भोगवान।
नामृष्टो न नलिप्तांगो नासुगन्धिश्च विद्यते॥
—रामायण, बालकाण्ड, ६।९, १०

वैदिक साहित्य का पुरुष स्त्री के कामोद्दीपन के लिए देवताओं की स्तुति करता है[1] किन्तु रामायण का कवि इसकी कोई आवश्यकता अनुभव नही करता। वह प्रकृति के कामोद्दीपक प्रभाव से परिचित है, अतः कौशिक जैसे ऋषि के द्रवण के लिए भी वह बाह्य सौन्दर्य का प्रयोग करता है। इन्द्र के शब्दों में—रम्भे डरो मत, तुम्हारा कोई अनिष्ट नही होगा, मेरी आज्ञा मानो। बसंत काल में किसी मनोहर वृक्ष पर सुन्दर कोकिल बन कर कामदेव के साथ मैं तुम्हारे समीप ही स्थित होऊँगा। तुम जरा अपने रूप को सजा कर उस तपस्वी के मन को अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करना।[2] कुश नाम की कन्याओं के सौन्दर्य का वर्णन करते समय भी कवि की कल्पना उपमानों के राशि राशि ढेर लगा देती है—रूप यौवन संपन्न वे कन्याएँ अलंकृत होकर उपवन में गई। वर्षा काल की विद्युत के समान वे प्रतीत हो रही थीं। सुन्दर आभूषणों से विभूषित वे कन्याएँ नृत्य-गान वाद्यादि से आह्लादित हो रही थी। अपने अपूर्व रूप में सजी हुई वे सर्वाङ्ग सुन्दरियाँ वाटिका में आकर ऐसी प्रतीत होती थी कि मानो मेघ से छिपी हुई तारिकाएँ हों। वे सभी गुणवती थी, सभी रूपवती थीं, और सभी युवती थीं।[3]

यह आश्चर्य की बात है कि सौन्दर्य के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरणों का

---

१. हे परमेश्वर ! आज मुझे अपनी पत्नी में बीज वपन करना है। उसको प्रेरित कीजिए जिससे वह मेरी कामना करती हुई, अपने नितम्बों को फैलावे और मैं····· —अथर्ववेद २४।२।३८

२. मा मैषी रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम्।
कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिर द्रुमे।
अहं कन्दर्प सहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः।
त्वंहि रूपं बहु गुणं कृत्वा परम भास्वरम्।
तमृषिं कौशिक भद्रे भेदयत्व तपस्विनम्।
—रामायण : बालकाण्ड ६४

३. तास्तुयौवन शालिन्यो रूपवत्यः स्वलंकृता। उद्यान भूमिमागम्य प्रवृषीव शतह्रदाः गायन्त्यो नृत्यमानाश्च वादयन्त्यस्तु राघव। आमादं परमं जग्मुर्वरामरण भूषिताः॥ अथ ताश्चारुसर्वांगयो रूपेणाप्रतिमा भुवि। उद्यान भूमिपागम्य तारा इव घनान्तरे॥ ताः सर्वागुण संपन्ना रूप यौवन संयुताः। दृष्टवा सर्वात्मको वायुरिदं वचनमब्रवीत्॥
—बालकाण्ड ३२।१२–१५

रचयिता कवि काव्य की नायिका—जनक नन्दिनी के रूप सौन्दर्य के सम्बन्ध में मौन है, जिस सीता के रूप वैभव के आकर्षण से दूर-दूर के नरेश स्वयंवर में आये थे, उसके सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक शब्द भी न कहना, कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। कदाचित् उपर्युक्त आख्यान प्रक्षिप्त हैं—अन्यथा कुशनाभ की कन्याओं को सौन्दर्य श्री से विभूषित कर देने वाला कवि सीता के प्रसंग में इतना मितव्य भी नहीं हो जाता।

प्रेम भावना—रामायण का समस्त वातावरण कर्तव्य की ठोस चट्टान पर आधारित है जिसमें भावनाओं के अंकुर प्रस्फुटित, पल्लवित एवं पुष्पित होने से पूर्व ही मुरझा जाते हैं। बाल्मीकि के पात्रों की महत्ता हृदय की कोमल कल्पनाओं में प्रवाहित हो जाने में नही है अपितु उनके वेग को मस्तिष्क की सुदृढ़ चहार-दीवारी में बाँध कर स्थिर कर देने में है। सीता और राम के दाम्पत्य जीवन का प्रादुर्भाव प्रेम की प्रेरणा से नहीं हुआ था। यह तो मिथिलेशकुमारी का सौभाग्य था कि धनुष तोड़ने में कौशल कुमार ही समर्थ हुए, किन्तु यदि उनके पूर्व अपने भाग्य की परीक्षा करने वाले नृपतियों में से किसी को सफलता मिल जाती तो सीता का जीवन प्रवाह किस ओर उन्मुख होता—इसे कौन नहीं जानता।

राम सीता के दाम्पत्य जीवन के प्रारम्भिक मधुर दृश्यों के चित्रण में भी कवि ने कोई रुचि नही दिखाई है। उनकी हृदयस्थ भावना की व्यंजना कम से कम शब्दों में करते हुए उन्होंने लिखा है—सीता के रूप गुणों के कारण राम का प्रेम सीता के प्रति दिनों दिन बढ़ रहा था और सीता का प्रेम भी दुगुने वेग से बढ़ रहा था। दोनों के हृदय स्थित प्रेम को दोनों का हृदय ही जान सकता था।[1] इसे प्रणय का चित्रण न कह कर उल्लेख कहना अधिक उचित होगा। आगे चल कर विभिन्न अवसरों पर जनक दुलारी के हृदयस्थ प्रेम की व्यंजना हुई है। वन गमन वेला में राम के द्वारा घर पर ही रहने का अनुरोध किये जाने पर वह विश्वासपूर्ण शब्दों में कहती है—हे राम

---

१. गुणाद्रप गुणाच्चपि प्रीतिर्भूयो त्रिवर्धते।
तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते।
अन्तर्गतमपि व्यक्तिमाख्याति हृदयं हृदा।
तस्य भूयो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा।

—बालकाण्ड ७७।२७-२८

आप भी कैसी तुच्छ बात कह रहे हैं, जिसे सुनकर मुझे हँसी आती है। हे आर्य माता-पिता, भाई आदि सब अपने पुण्य-कर्मो के अनुसार फल को भोगते हैं, किन्तु पत्नी ही ऐसी है जो पति का भाग्य बँटाती है, इसलिए बनवास आपको ही नही मुझे भी मिला है।[1] अधिक अनुरोध करने पर वह उत्तेजना-पूर्ण स्वर मे कह देती है—हे राघव ? आपके बिना स्वर्ग भी मिले तो मुझे पसन्द नही और यदि आप साथ न ले जायेंगे तो मैं जल, अग्नि या विष की शरण लेकर प्राण त्याग दूँगी।[2]

बन में जब राम ऋषियों के कष्टों को सुन कर राक्षसों के बध की प्रतिज्ञा करते हैं तो वह पति के भावी कष्टों की कल्पना मात्र से अपना मानसिक संतुलन खो बैठती है—आप अकारण ही—किन्ही ऋषि मुनियों के लिये राक्षसों को बध करने का विचार छोड़ दीजिए। कहाँ शस्त्र ! कहाँ वन ! कहाँ क्षत्रिय भाव और कहाँ तपस्या ! मुझे यह सब कुछ अनुचित लगता है।[3] अन्त में वह यहाँ तक कह देती हैं—आप व्यर्थ में ही ऋषियों के लिये अपने बाण क्यों खर्च करते हैं।[4] यद्यपि जनक नन्दिनी के इन विचारों मे गहरी संकीर्णता का परिचय मिलता है किन्तु ये उसके स्वभाव की स्थायी प्रकृति से सम्बन्धित नहीं हैं। वस्तुतः ये भावावेश में कहे गये उद्‌गार हैं जिनसे उसके हृदय की कोमलता एवं प्रेम की गहराई का पता चलता है। सच्चे प्रेमी के लिये जीवन का सबसे बड़ा सिद्धान्त प्रिय की हित कामना है। उसके अनिष्ट की आशंका मात्र से उसकी बुद्धि का सारा धैर्य,

---

१. किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम्। त्वया यद हास्यं मे श्रुत्वा नरवरात्मज ॥ भर्त्तु भाग्यं तु नार्ये का प्राप्नोति पुरुषर्षभ। अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥ —अयोध्याकाण्ड-सर्ग २७

२. स्वर्गे पि च बिना वासो भवितायदि राघव। त्वया बिना नरव्याघ्र नाहं तदापि रोचये। यदि मां दुःखितामेवं ने तुं न चेच्छसि। विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्यु कारणात्। —अयो०, सर्ग २७

३. अपराधं बिना हन्तुं लोको वीर न मस्यते।

\+ \+ \+

कच शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षत्रं तपः क्व च। व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम्।

४. दृष्टवा वनचरान्सर्वान् कच्चित् कुर्याः शर व्ययम्।

—अरण्य काण्ड, सग ९

ज्ञान का समस्त वैभव, एवं तर्क का सम्पूर्ण औचित्य चकनाचूर हो जाता है। मृग के अन्तिम शब्द सुनकर सीता लक्ष्मण से जिन शब्दों में बातचीत करती है, वे भी उसकी प्रणय जन्य विह्वलता के द्योतक हैं।

इस प्रकार रामायण की नायिका के हृदय में हम प्रणय का पूर्ण वेग पाते हैं किन्तु राम का हृदय कर्तव्य भावना से इस प्रकार अनुप्राणित है कि उसमें प्रणय का प्रस्फुटन ही नहीं हो पाता। राम सीता से प्रेम करते हैं इसलिये कि पत्नी से प्रेम करना कर्तव्य है, किन्तु यदि पत्नी भी कर्तव्य की सिद्धि में बाधक होती हो तो उसे भी छोड़ने के लिये वे सहर्ष प्रस्तुत हैं। वन में राम के राक्षसों के बध की प्रतिज्ञा करते समय सीता उन्हें व्यर्थ का झगड़ा मोल लेने से रोकती है। यद्यपि ऐसा वह अपने स्वाभाविक प्रेम के कारण ही करती है, किन्तु उसका मुँह तोड़ उत्तर देते हुए वे कहते हैं—हे सीता मै अपने प्राणों को त्याग सकता हूँ, तुम्हें और लक्ष्मण को भी त्याग सकता हूँ किन्तु जो प्रतिज्ञा मैंने करली है उसे कभी नहीं त्याग सकता।[1] राम केवल ऐसा कहते ही नहीं—आगे उत्तरकाण्ड में प्रजा की आवाज पर सीता को निर्वासित करके अपनी इस उक्ति की सत्यता भी दिला देते हैं।

भावना का विकास—अस्तु रामायण में राम और सीता जैसे आदर्श नायक नायिका के होते हुए भी वह प्रेम स्थायी भाव से शून्य है। राम और सीता का मिलन बाह्य कारणों से होता है, दोनों के व्यक्तिगत प्रयत्न के फलस्वरूप नहीं, किन्तु उनका वियोग अपनी इच्छा से होता है—ये दोनों ही परिस्थितियाँ प्रेम शून्य हैं। राम के हृदय में प्रेम का साक्षात्कार केवल एक बार सीताहरण के अवसर पर मिलता है, जिसे संचारीभाव कहना उपयुक्त होगा। रावण से किया गया युद्ध भी प्रेमिका की पुनः प्राप्ति की प्रेरणा से कम प्रेरित है, रघुकुल के गौरव को अक्षुण्य रखने की तथा अनार्य जातियों के दमन की भावना से अधिक अनुप्राणित है। वस्तुतः रामायण में प्रणयभाव एक संचारीभाव के रूप में—कर्तव्यभावना (उत्साह) के अंगीरूप में चित्रित हुआ है, अतः उसका पूर्ण विकास नहीं हो सका।

परवर्ती काव्य—परवर्ती भारतीय काव्य में शृङ्गार का यह रूप

---

१. अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते स लक्ष्मणम् :
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥
—अरण्य काण्ड, सर्ग १०

भवभूति के उत्तर रामचरित (७००–७५० ई०)[१] स्वयंभू की रामायण (अपभ्रंश–७९० ई०)[२] तथा तुलसीदास के रामचरित मानस (हिन्दी) आदि काव्यों में उपलब्ध होता है। जिनका मूल प्रेरणा स्रोत संभवतः बाल्मीकि का काव्य ही है। प्रायः सभी कवियों ने सीता निर्वासन की घटना को स्वीकार किया है अतः इन काव्यों में प्रणय की स्थूल विशेषतायें तो बाल्मीकि के अनुरूप ही रहीं – किन्तु भावना की सूक्ष्म दशाओं के चित्रण में भवभूति का उत्तर रामचरित इस वर्ग की रचनाओं में सबसे आगे बढ़ गया है।

३. शौर्य्य-प्रधान शृङ्गार

(क) बाह्य परिस्थितियाँ

शृंगार के शौर्य्य-प्रधान रूप का विकास सर्व-प्रथम हमें 'महाभारत' में उपलब्ध होता है। पौराणिक वंश-तालिकाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि राम और कृष्ण के समय में ३० पीढ़ियों का अन्तर है[३]। अतः हम रामायण कालीन समाज और महाभारत के समाज में लगभग ६-७ शताब्दियों का अन्तर मान सकते हैं। राम के अनन्तर भारतीय आर्य-सभ्यता में अत्यन्त तीव्रगति से विकास एवं परिवर्तन होने लगा। एक तो दक्षिण भारत की अनार्य-जातियों की शक्ति को राम ने सदा के लिये नष्ट कर दिया, दूसरे परशुराम जैसे क्षत्रिय विरोधी ब्राह्मण नेताओं को अपने चरित्रबल से प्रभावित करके क्षत्रियों मे आत्म गौरव का संचार किया। राम से पूर्व जहाँ आर्य एक ओर अनार्यों के आक्रमण से सशंकित रहते थे, वहाँ दूसरी ओर घर में ब्राह्मणों और ऋषियों के आदेशों से नियंत्रित रहते थे, किन्तु अब वे दोनों के प्रभाव से मुक्त थे। आध्यात्मिक सिद्धियों की अपेक्षा अब ऐहिक साधनों की प्राप्ति की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। वैदिक युग के सात्विक यज्ञों के स्थान पर राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों का प्रचार हुआ, जिनसे राज्य-वैभव में वृद्धि होती थी, तथा जिनकी सफलता के लिए शास्त्र ज्ञान की नही—शस्त्र-ज्ञान की आवश्यकता पड़ती थी। यह भी एक स्वाभाविक बात है कि जब कोई समाज पारलौकिकता

---

१. संस्कृत कवि दर्शन – डा० भोलाशंकर व्यास, पृष्ठ ३८४।
२. हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ २२।
३. देखिये—भारतीय इतिहास की रूप रेखा भाग १, पृष्ठ २६४
—जयचन्द्र विद्यालंकार

की ओर उन्मुख होता है तो शास्त्रों एवं उनके ज्ञाताओं के महत्व में वृद्धि होती है, जब कि ऐहिकता की ओर उन्मुख समाज में शक्ति और उसके साधकों का प्रभाव बढ़ता है। यही कारण है कि महाभारत के समाज में द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मण भी शस्त्र-ज्ञान की शिक्षा देकर ही जीविका उपार्जन कर पाते हैं। महाभारत के नेता शस्त्रधारी-कृष्ण, भीष्म, युधिष्ठिर, विदुर आदि हैं, इनके सम्मुख तत्कालीन ब्राह्मण-मुनियों को हम प्रभाव हीन पाते हैं।

क्षत्रियों की कामुकता—इस प्रकार हम देखते हैं कि बाहर के आक्रमणों की आशंका से एवं ब्राह्मणों के नियंत्रण से मुक्त होकर क्षत्रिय वर्ग अधिक से अधिक उच्छृंखल एवं भोग विलासग्रस्त होता गया। इस विलासिता की पूर्ति के लिये विवाह के अनेकानेक भेदों का प्रचार हुआ। महाभारत मे विवाह के आठ भेदों—आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच आदि का परिचय दिया गया है[१]। इसके अतिरिक्त महाभारतीय क्षत्री गन्धर्व,[२] नाग,[३] राक्षस,[४] आदि अनार्य-जातियों की तथा शूद्रवर्ण की[५] कन्याओं से भी विवाह करने मे कोई संकोच नहीं करते। पुरुष वर्ग की इस निरंकुश कामुकता के कारण नारी की स्थिति शोचनीय हो गई थी, एक ओर काम-लोलुप पुरुषों के कारण वे कौमार्यावस्था में ही बलात्कार की शिकार होती थी,[६] तो दूसरी ओर युवावस्था में उनके माता पिता चाहे जिसे सौप देते थे। गान्धारी को उसका पिता अन्धे व्यक्ति को सौंप देता है, माद्रिका का भाई शल्य कुछ धन लेकर उसका विवाह रोग-ग्रस्त पाण्डु से कर देता है और द्रौपदी को भी घर वालों की आज्ञा से पांच पति स्वीकार करने पड़ते हैं। कौशलराज की कन्याओं का अपहरण भीष्म अपने छोटे भाइयों के लिये करते है, दूसरी ओर कृष्ण के संकेत पर अर्जुन सुभद्रा का अपहरण करते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि इन दोनों स्थलों पर ही यह अपहरण

---

१. महाभारत। आदि पर्व, अध्याय १९३–१०४।
२. गान्धारी, चित्रांगदा आदि गान्धर्व-कन्याएँ मानी जाती हैं।
३. उलूपी नाग-कन्या थी जिससे अर्जुन ने विवाह किया।
—प्राचीन भारतीय इतिहास और परम्परा ले० रांगेय राघव, पृष्ठ २४३
४. हिडिम्बी-राक्षस कन्या थी जिससे भीम ने विवाह किया।
—महाभारत, आदि पर्व २५८
५. धींवर कन्या सत्यवती से भीष्म के पिता शान्तनु का विवाह।
६. सत्यवती के साथ पाराशर का, कुन्ती का कर्ण के पिता के साथ।

कन्याओं की इच्छा के विरुद्ध होता है फिर भी भीष्म[1] और कृष्ण[2] स्पष्ट शब्दों में क्षत्रियों के लिये नारी के अपहरण को उचित घोषित करते है। वस्तुतः महाभारतीय क्षत्रिय के लिये नैतिकता का माप दण्ड एक ही है--शक्ति अथवा शौर्य्य। सुन्दरियों के उपभोग का अधिकार केवल शूरवीर को ही है (Only the brave deserve the fair) की उक्ति पूरी तरह से इन पर लागू होती है। कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रवृत्ति की प्रमुखता के कारण ही इनकी काम प्रवृत्तियों को 'शौर्य्य-प्रधान शृंगार' नाम दिया गया है।

पूर्ववर्ती रूपों से तुलना—शृंगार के स्वतंत्र रूप और 'शौर्य्य-प्रधान रूप' मे स्थूल दृष्टि से गहरा साम्य दिखाई पड़ता है क्योंकि दोनों मे ही सामाजिक मर्यादाओं के अंकुश का अभाव है। किन्तु इन दोनों रूपों मे सूक्ष्म दृष्टि से गहरा अन्तर है। स्वतंत्र शृंगार मे नारी और पुरुष दोनों की इच्छाओं से सम्बन्ध स्थापित होता 'है जबकि शौर्य्य प्रधान में नारी पुरुष के स्वेच्छाचारिता की शिकार है। दूसरे, स्वतंत्र शृंगार में सम्बन्ध-विच्छेद भी हो सकता है किन्तु इसमे पत्नी सदा के लिये पुरुष की दासी हो जाती है। तीसरे, स्वतंत्र शृङ्गार मे बहु पत्नीत्व या बहु पतित्व का निर्वाह नही हो पाता—जिससे प्रेम एकोन्मुखी रहता है, परन्तु महाभारतीय समाज में दोनों (बहु पतित्व और बहु पत्नीत्व) के ही उदाहरण उपलब्ध होते है। अस्तु, महाभारत के इस शौर्य्य-प्रधान शृंगार में कामुकता का उन्नयन प्रणय के रूप में नही हो पाता।

मर्यादा-प्रधान शृङ्गार की भाँति शौर्य्य प्रधान शृङ्गार में भी नारी को पातिव्रत्य का पाठ पढाया जाता है, किन्तु इसके साथ एक पत्नीव्रत के आदर्श की कोई आवश्यकता नही समझी जाती। यही नही, अब पत्नी को पति की इच्छा के अनुसार विपरीत आचरण के लिये भी बाध्य होना पड़ता है[3]

---

१. आदि पर्व १०२।१६–१७

२. प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
विवाह हेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः। अर्थात्—कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं—शूर वीरों के लिये बल पूर्वक अपहरण करना भी विवाह का अच्छा कारण है। यह सभी धर्म के मानने वाले जानते हैं।
—महाभारत, आदि पर्व २२१।२१–२३

३. जैसे कि पाण्डु की आज्ञा से कुन्ती को तीन पुरुषों से सन्तानोत्पत्ति के लिये नियोग सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। पाण्डु कहते हैं—"हे यशस्विनी! मैं तो शाप के कारण सन्तानोत्पति में असमर्थ हूँ पर तू प्रसन्नतापूर्वक किसी अपने सदृश उत्तम पुरुष से संतान उत्पन्न कर।"
—महाभारत, आदि० १२०।३८

वस्तुतः ऐसी परिस्थिति में प्रणय के विकास की कल्पना नही की जा सकती।

परवर्ती काव्य—आगे चलकर शृङ्गार का यह रूप प्राकृत और अपभ्रंश के मुक्तक काव्य (प्राकृत-व्याकरण-हेमचन्द्र) में तथा हिन्दी की राजस्थानी काव्य-परम्परा मे उपलब्ध होता है, जिनकी विवेचना प्रसंगानुसार की जायगी।

(ख) महाभारत में शृङ्गार-निरूपण

सौन्दर्य चित्रण—महा भारत के सौन्दर्य चित्रणों में हम रामायण की अपेक्षा पर्याप्त विकास पाते हैं। रामायण-युग के अनन्तर निश्चिन्तता के वातावरण मे कामुकता एवं भोग विलास की वृद्धि के साथ-साथ विभिन्न कलाओं और सौन्दर्य के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई। महाभारतीय समाज में सौन्दर्य का कितना महत्व था इसका पता हमे अगस्त्य ऋषि के उस आख्यान से चलता है जिसमें उनकी नव विवाहिता पत्नी लोपा-मुद्रा भी सुन्दर महल, सुशोभित शैय्या एवं कमनीय वस्त्राभूषणों के अभाव में उनके साथ संसर्ग करना अस्वीकार कर देती है[1]।

महा भारत में वन, उपवन एवं आश्रमों के वर्णन में प्रकृति सौन्दर्य के संश्लिष्ट चित्र उपलब्ध होते है। विभिन्न नारी पात्रों—अम्बिका, अम्बालिका, उर्वशी, मेनका, शकुन्तला, दमयन्ती, तिलोत्तमा आदि—के चित्रण मे कवि ने सौन्दर्य का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उदाहरण के लिये अर्जुन के पास जाती हुई उर्वशी के सौन्दर्य की एक झलक देखिये—"वह भ्रकुटियों से कटाक्ष करती हुई, प्रेमालाप करती हुई सी, सौम्यता एवं कान्ति से सुशोभित

---

१. सा तदा प्रणयं वाक्यं भगवन्तमथा ब्रवीत्। यथा पितृगृहे विप्र प्रासादे शयनं मम। तथा विधे त्वं शयने मामुपैतुमिहार्हसि। इच्छामि त्वां स्रग्विनश्च भूषणैश्च विभूषितम्। उपसत्तुं यथाकामं दिव्याभरण भूषिता। —वही, वनपर्व—९७।१५–१७

अर्थात् लोपा मुद्रा ने प्रेम पूर्ण शब्दों में कहा—"हे मुने! यदि आप मुझसे संसर्ग करना चाहते हैं तो जैसे पिता के घर पर महलों में उत्तम शैय्या पर सोती थी, वैसे ही सुन्दर महल में सुशोभित शैय्या पर आप मेरे साथ संसर्ग कर सकते हैं। मैं विभिन्न आभूषणों से भूषित होकर ही तथा आप के विभूषित होने पर ही आलिंगन करना चाहती हूँ।"

सी, अपने मुख-चन्द्र के सौन्दर्य से चन्द्र-ज्योत्स्ना की स्पर्द्धा करती हुई सी जा रही थी। उसके चलते समय अंगराग, चन्दन-लेप एवं मुक्ताहारों से आवृत स्तन धीरे-धीरे हिल रहे थे। पुष्ट स्तनों के भार से, अपूर्व त्रिवली एवं क्षीण कटि वाली वह सुन्दरी पद पद पर लचक जाती थी। उसके अधोभाग में सुवर्ण-मेखला से सुशोभित, पार्वतीय देश की भाँति पुष्ट, उच्च एवं विशाल नितम्बों में मानों कामदेव विश्राम ले रहा था। झीने वस्त्रों से आवृत उसका यह सुन्दर नितम्ब प्रदेश दिव्य ऋषियों के मन को भी विचलित कर देता था"[१]।

वस्तुतः महा भारत के सौन्दर्य चित्रण में हम पहली बार नारी अंगों का सूक्ष्म विश्लेषण पाते है। रामायण का कवि जहाँ सौन्दर्य के प्रति निरपेक्ष दृष्टि से देखता है वहाँ महाभारतकार सौन्दर्यानुभूति से रसासिक्त हो जाता है। सौन्दर्य के प्रभाव की वृद्धि के लिये महाभारत मे विभिन्न अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिश्योक्ति आदि का भी सहज स्वाभाविक रूप में प्रयोग हुआ है।

प्रेम चित्रण—महाभारत में अनेक नायिकायें है सबसे पूर्व सत्यवती है जिस ने यौवन-काल मे पाराशर ऋषि से संसर्ग हो जाने के कारण पहले वेद व्यास को जन्म दिया तथा फिर शान्तनु से विवाह होने के बाद वह चित्र, विचित्र की माता बनी। इन राजकुमारों की पत्नियों के रूप में कौशल राज की कन्याओं—अम्बा और अम्बालिका के दर्शन होते हैं, जो स्वयंवर में किसी और को वरमाला डालना चाहती थी, किन्तु भीष्म ने बलपूर्वक अपहरण करके इन्हें चित्र, विचित्र से विवाह करने को बाध्य कर दिया[२]। ये जब अल्पावस्था मे ही विधवा हो गईं तो पति की मृत्यु के अनन्तर वेदव्यास से नियोग सम्बन्ध स्थापित करके इन्होंने क्रमशः धृतराष्ट्र और पाण्डु को जन्म दिया[३]। पाण्डु के दो पत्नियाँ थीं—एक कुन्ती जिसे स्वयंवर में प्राप्त किया था और दूसरी माद्री जिसे शल्य को धन देकर खरीदा गया था[४]। कुन्ती को अपने जीवन में पाँच पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा—एक कर्ण का पिता, दूसरा पाण्डु और शेष तीन व्यक्ति वे जिन्हे पाण्डु की आज्ञा से संकोचपूर्वक स्वीकार किया गया[५]। वैसे, कुन्ती के

---

१. **वन-पर्व, अध्याय ४३।७–११।**
२. **आदि पर्व, अध्याय १०३**
३. **आदि पर्व, अध्याय १०७**
४. **आदि पर्व, अध्याय ११४**
५. **आदि पर्व, अध्याय १२३**

हृदय में पति के प्रति बहुत प्रेम था, क्योंकि जब पाण्डु चौथे पुत्र की उत्पत्ति की बात कहते है तो वह स्पष्ट उत्तर देती हुई कहती है कि यदि मैं अब ऐसा करूँगी तो वेश्या मे और मुझ में कोई अन्तर नहीं रह जायगा[1] । इसके अतिरिक्त कुन्ती प्रगतिशील विचारों की भी थी, जब उसके पाँचों पुत्रों ने द्रौपदी के साथ विवाह करने की आज्ञा माँगी तो उसने बिना किसी संकोच उनकी बात मान ली[2] । पाँचों पतियों मे से द्रौपदी का किससे अधिक प्रेम था, इसका निर्णय करना कठिन है । कुछ लोग भीम और अर्जुन का नाम लेते है, किन्तु उनके दूसरी पत्नियाँ हिडिम्बी, चित्रांगदा, उलूपी, सुभद्रा आदि भी थी, अतः इस सम्बन्ध में कुछ नही कहा जा सकता । अस्तु, महाभारत के मूल कथानक के ऐसे विचित्र दाम्पत्य जीवन में प्रणय-भावना का विकास ढूँढना—उसका उपहास करना होगा । फिर भी कच-देवयानी,[3] तप्ता-संवरण,[4] नल-दमयन्ती[5] आदि उपाख्यानों के अन्तर्गत हम प्रेम का चित्रण पाते हैं । कच-देवयानी का आख्यान एकांगी प्रेम से सम्बन्धित एवं दुःखान्त होते हुए भी मर्म-स्पर्शी है । कच छलपूर्वक शुक्र के पास विद्या प्राप्त करने के लिए जाता है जहाँ शुक्र की युवती कन्या देवयानी उससे प्रेम करने लगती है । वह अनेक अवसरों पर उसे मृत्यु के मुँह से निकाल कर बचाती है तथा अपने पिता से विशेष अनुरोध करके उसे संजीवनी विद्या दिलवाती है । इस तरह से देवयानी का प्रेम वर्षो के सान्निध्य से धीरे-धीरे विकसित होता है । किन्तु कच का प्रेम कृत्रिम था, केवल संजीवनी विद्या की प्राप्ति के उद्देश्य से था । अतः स्वार्थ-साधन के अनन्तर वह निर्मम की भाँति चल देता है । कच के जाते समय देवयानी अत्यन्त मार्मिक शब्दों में अपने हृदय की प्रणय वेदना को व्यक्त करती हुई विवाह का प्रस्ताव करती है,[6] किन्तु कच उस पर कोई ध्यान नही देता ।

१. नातश्चतुर्थ प्रसवमापत्स्यपि वदन्त्युत । अतः परं स्वैरिणी स्याद्धन्धकी पंचमी भवेत् ।। —आदि पर्व १२३।७८

२. आदि पर्व, १९३ ३. आदि पर्व, ७६

४. वन पर्व, १७४ ५. वन पर्व, ५४

६. सौहार्दं चानुरागे च वेत्थ मे भक्तिमुत्तमाम् । न मामर्हसि धर्मज्ञ त्युक्तं भक्तामनागम् ।। आ० ७७ । ११

अर्थात्, मैं तुमसे कितना प्रेम करती हूँ इस पर ध्यान दीजिये । हे धर्मात्मन् ! मुझ निरपराध को जो कि तुम्हारे प्रेम में वशीभूत हो रही हूँ, परित्याग करना उचित नहीं ।

दूसरे आख्यान में राजा संवरण एवं कुमारी तप्ता के प्रणय का चित्रण किया गया है। एकान्त वन में राजकुमारी के अतुल्य सौन्दर्य-वैभव को देखकर संवरण मुग्ध हो जाता है, किन्तु दूसरे ही क्षण राजकुमारी बादलों में विद्युत की भाँति अदृश्य हो जाती है। संवरण उसे पागलों की भाँति ढूँढ़ता हुआ अचेत होकर गिर पड़ता है, अन्त में दीर्घ तपस्या से उसे प्राप्त करता है। संवरण का आत्म-निवेदन एवं उसकी विरह उक्तियाँ विवशता, दैन्य एवं वेदना से ओत-प्रोत है। वस्तुतः इस आख्यान में प्रणय-जन्य वेदना की सफल अभिव्यक्ति मिलती है।

महा भारत के प्रणयाख्यानों में सर्व श्रेष्ठ आख्यान नल-दमयन्ती का है जो नारी-पुरुष के मधुर-प्रेम की कोमल कल्पनाओं एवं अनुभूतियों से परिपूर्ण है। पूर्वानुराग, संयोग, वियोग एवं पुनर्मिलन—प्रेम की इन चारों परिस्थितियों का इसमें सुन्दर समावेश है। आदि से लेकर अन्त तक यह आख्यान कामुकता की पंकिल भूमि से असंपृक्त रहता है उसमें शारीरिक चंचलता के कहीं भी दर्शन नहीं होते। प्रेमी और प्रेमिका का हृदयस्थ प्रेम परिस्थितियों की कठोरता एवं दुर्भाग्य की आंच में तप कर, निखर कर, अपने विशुद्धतम रूप को प्राप्त कर लेता है। आँसुओं से भरी हुई यह प्रेम कहानी पाठक के हृदय को करुणार्द्र करने में पूर्णतः समर्थ है। परवर्ती कवियों ने भी इसी आख्यान को अपनाया किन्तु वे अलंकारिकता के चक्कर में पड़कर इसकी भावात्मकता को सुरक्षित नही रख सके।

उपर्युक्त आख्यान मूल कथानक से सुसम्बद्ध नहीं है तथा इनके प्रक्षिप्त होने की संभावना भी की जाती है। अतः इन्हें महाभारतीय समाज की मूल प्रवृत्तियों से भिन्न समझना चाहिये। वस्तुतः महाभारत का मूल कथानक पुरुष वर्ग की अतिकामुकता, उच्छृंखलता एवं रसिकता के कारण प्रणय-भावना से शून्य है। समाज की इसी अधोगति को देखते हुए राष्ट्र को एक नई क्रान्ति, एक नये नेता और एक नये संदेश की आवश्यकता थी—महाभारत की क्रान्ति, योगिराज कृष्ण का नेतृत्व एवं गीता का संदेश, संभवतः इसी आवश्यकता की पूर्ति थे।

४. रसिकता प्रधान शृङ्गार

शृंगार का रसिकता-प्रधान रूप भारतीय साहित्य में सर्व प्रथम हमें कालिदास की रचनाओं में उपलब्ध होता है। कालिदास के आविर्भाव काल

के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद मिलता है। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार उनका समय प्रथम शती ई० पू० माना जाता है जबकि आधुनिक युग के कुछ विद्वान उन्हें परवर्ती युग का कवि मानते हैं[१] किन्तु हम कुछ कारणों से प्राचीन मत को ही स्वीकार करना उचित समझते हैं—एक तो प्राचीन अनुश्रुति के विभिन्न विरोधी विद्वान कोई एक मत स्थिर नहीं कर पाये, कोई कालिदास को चौथी शताब्दी का कवि बताता है,[२] कोई पाँचवी[३] का और कोई छटवीं का[४]। दूसरे कुछ आधुनिक युग के विद्वानों ने भी प्राचीन मत का सप्रमाण समर्थन किया है[५] और तीसरे, कालिदास की रचनाओं मे हमें ऐसे साक्ष्य उपलब्ध हुए है जो ईसा पूर्व युग से सम्बन्ध रखते है[६]। अस्तु, जब तक पूर्व अनुसन्धान से कोई एक मत स्थिर नही हो जाता, हम प्राचीन अनुश्रुति का ही समर्थन करना उचित समझते है।

---

१. "संस्कृत-कवि-दर्शन—डा० भोला शंकर व्यास, प्रथम संस्करण पृ० ७८-७९

२. डा० कीथ का मत—'संस्कृत ड्रामा' ले०—ए० बी० कीथ

३. श्री सुधीर कुमार गुप्त—'मेघदूत' की भूमिका, पृष्ठ १२

४. श्री फर्ग्युसन, डा० हार्नली आदि का मत—'संस्कृत-कवि-दर्शन' पृ० ७७

५. श्री बलदेव उपाध्याय (संस्कृत साहित्य का इतिहास), श्री इन्दु विद्यावाचस्पति, श्री जी० सी० झाला (Kalidas a Study) के. जी. शंकर आदि।

६. कालिदास की रचनाओं में निम्नांकित अन्तर्साक्ष्य मिलते हैं :—

(क) ई० पू० १४९ में शृङ्ग-वंशीय नरेश अग्निमित्र पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा कालिदास ने अपने नाटक मालविकाग्निमित्रम् में उसे नायक के रूप में स्थान दिया है। अग्निमित्र इतना प्रसिद्ध सम्राट नहीं था कि कोई गुप्त साम्राज्य युग का कवि उसे इतना ऊँचा स्थान प्रदान करता।

(ख) मेघदूत (श्लोक ३२-३४) में कवि ने अवन्ति देश का परिचय देते हुए लिखा है कि 'वहाँ' के वृद्ध लोग तुम्हें बतायेंगे कि अमुक स्थान पर उदयन ने वासवदत्ता का अपहरण किया था, अमुक स्थान पर वासवदत्ता के पिता प्रद्योत का ताड़ों का जंगल था। इस उल्लेख से

(क) बाह्य-परिस्थितियाँ

महाभारत के अनन्तर भारतीय जीवन में कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। राजनीति के क्षेत्र में सबसे बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि अब क्षत्रिय-शक्ति का उन्मुक्त, उच्छृंखल, एवं अनियंत्रित-ज्वार-पारस्परिक युद्धों एवं गृह कलह के कारण शान्त हो गया। कौरव और पाण्डवों के महायुद्ध, युधिष्ठिर के परवर्ती

प्रतीत होता है कि कालिदास के युग तक उदयन वासवदत्ता की ऐतिहासिक घटना बहुत पुरानी नहीं पड़ी थी। यह घटना कम से कम १५० ई० पू० से भी पहले की थी क्योंकि भास (१५० ई० पू०) ने इसी के आधार पर स्वप्न वासवदत्ता की रचना की थी।

(ग) मौर्य युग के ग्रंथों—अर्थ-शास्त्र (३।२।६), बौधायन का धर्म-सूत्र (१।११।१३), वात्स्यायन का काम सूत्र (३।१।८)—में गान्धर्व-विवाह का समर्थन मिलता है जबकि मनु ने इसे केवल क्षत्रियों तक सीमित कर दिया (मनु-स्मृति, ३।२६) किन्तु परवर्ती स्मृतिकारों ने गान्धर्व विवाह का घोर विरोध किया है।

(The Position of Women—By Dr. Altaker, page 50)

कालिदास ने अपने शाकुन्तलम् में गान्धर्व विवाह का चित्रण निःसंकोच रूप में किया है। यदि वे परवर्ती युग के कवि होते तो जिस प्रकार उन्होंने 'विक्रमोर्वशी' के स्वतन्त्र प्रेम की प्रवृत्तियों को अपने युग के अनुरूप बदल लिया उसी प्रकार इस गान्धर्व विवाह को भी दूसरा रूप दे सकते थे।

(घ) कालिदास की नायिकाएँ अपने पति के वरण में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। शकुन्तला अपने संरक्षक कण्व के लौटने की भी प्रतीक्षा नहीं करती तथा उनका विवाह परिपक्वावस्था में होता है। नारी की यह अवस्था इसी पूर्वी युग की द्योतक है क्योंकि परवर्ती युग में बाल विवाह के प्रचार के कारण नारी की स्थिति का पर्याप्त ह्रास हो गया था।

(ङ) ईस्वी प्रथम शती में साहित्य के क्षेत्र में रस-सिद्धान्त (भरत का नाट्यशास्त्र) प्रतिष्ठित था जब कि परवर्ती युग में आगे अलंकार-संप्रदाय प्रतिष्ठित हो गया जिससे साहित्य शैली में अलंकारिकता एवं चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति का विकास हुआ। कालिदास की रचनायें प्रथम युग के अनुकूल पड़ती हैं।

अश्वमेध-यज्ञ सम्बन्धी युद्धों एवं पश्चिम में यादवों के पारस्परिक संघर्ष के कारण भारतीय क्षत्री इतने निर्बल हो गये थे कि अब उत्तर पश्चिम से विदेशी जातियाँ भी आक्रमण करने का साहस करने लग गई थीं—ऐसा ही एक आक्रमण अर्जुन पर हुआ था जबकि वे यादवों के नाश के अनन्तर उनकी स्त्रियों को लेकर लौट रहे थे। इन आक्रमणकारियो ने न केवल अर्जुन को परास्त किया अपितु उनके देखते देखते यादव स्त्रियों को भी उठा ले गये। अपनी शक्ति-हीनता को देख कर स्वयं पाण्डव चकित हो गये और इसे कलियुग का प्रभाव बता कर हिमालय की ओर चले गये। इनके पश्चात् तो भारत के धन-ऐश्वर्य और सौन्दर्य की प्रशंसा सुन कर दूर-दूर से यूनानी, शक, इण्डो-पार्थियन, हूण, आभीर आदि अनेक जातियो के लोग यहाँ आये, कुछ लूटपाट करके चले गये, कुछ ने अपने उपनिवेश स्थापित किये और सदा के लिये यहाँ बस गये[१]।

धर्म के क्षेत्र में बड़ी-बड़ी क्रान्तियां जैन और बौद्ध धर्म के विकास के रूप मे हुईं। इसने भारत की समस्त जनता के हृदय मे स्थायी स्थान ग्रहण किया हो या नही—पर एक प्रभाव उसका स्पष्ट रूप से पड़ा प्राचीन आदर्शो, विचारों एवं रीति रिवाजों पर एक प्रश्न वाचक चिह्न लग गया। लोग प्रत्येक बात को नये दृष्टिकोण से सोचने लग गये—फलस्वरूप नये युग मे स्वयं हिन्दूधर्म को भी अपना रूप परिवर्तित करना पड़ा—वैदिक कर्म-काण्ड-प्रधान एवं उपनिषदों के ज्ञान-प्रधान धर्म के स्थान पर भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म का उदय हुआ[२]। हिन्दू और बौद्ध धर्मो मे पुनः बाह्य क्रियाओं एवं कृत्रिम मर्यादाओं के स्थान पर भावना की पवित्रता को महत्व मिला।

बौद्ध-धर्म के विदेशों में प्रसार के साथ-साथ भारतीय लोगों ने अपने देश की सीमाओं को पार करके नये नये प्रदेशों—चीन, जापान, तिब्बत, कोरिया, फूनान, चम्पा (बीतनाम), मलाया, जावा, बालि, बोर्नियों आदि को देखा और उनसे राजनीतिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये[३]। दूसरी ओर भारतीय जनता का सम्पर्क यूरोपीय संस्कृति के प्रतिनिधि यूनानी

---

१. महाभारत—मौसल पर्व, अ० ७

२. भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालंकार, पृ० ८७

३. संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर, पृष्ठ १८१-१८७

विजेताओं[1] से हुआ। फलस्वरूप भारतीय समाज के दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन हुआ।

उपर्युक्त परिस्थितियों का प्रभाव तत्कालीन समाज की काम प्रवृत्तियों, विवाह सम्बन्धी प्रथाओं, नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं दाम्पत्य के आदर्शों पर पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा। महाभारतीय समाज मे कामुकता एवं उच्छृंखलता का जो वेग आया था वह शक्ति क्षीण होने के साथ-साथ स्वतः शान्त होने लगा। बौद्ध विचार-धारा ने समस्त मनुष्यों की समानता का प्रतिपादन करते हुए नारी को भी पुरुष के समान अधिकार दिये जाने का समर्थन किया। फलस्वरूप पातिव्रत्य का वह एकांगी आदर्श—जिसमें पुरुष कैसा ही दुराचारी क्यों न हो, स्त्री उसकी पूजा करती रहे—पतित होने लगा। महाभारत के आदर्श के विपरीत कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र मे लिखते है—कोई भी स्त्री नीच, परदेश में गये हुए राज दण्ड भोक्ता, आत्मघाती, पतित या नपुंसक पति को छोड़ सकती है[2]। यही नही वे चारो वर्णों की स्त्रियों को पति की जीवितावस्था में भी विशेष परिस्थितियों में दूसरा विवाह करने की अनुमति प्रदान करते है[3]। ऐसी परिस्थितियों मे वैवाहिक सम्बन्ध के लिये बल प्रयोग की अपेक्षा हृदय के अनुराग को अधिक महत्व दिया जाने लगा। कौटिल्य विवाह के पूर्ववर्ती आठों भेदों का उल्लेख करते हुए लिखते है—इन सारे विवाहों मे वर और कन्या की प्रीति की बड़ी आवश्यकता है, यदि बल पूर्वक किए हुए विवाह के अनन्तर वर या कन्या प्रसन्न न हों तो विवाह नहीं माना जा सकता[4]। यहाँ विवाह से पूर्व किंचित् बल-प्रयोग को अवश्य स्वीकार कर

१. सिकन्दर, डिमिट्रियस मैनेंडर आदि।
—ए न्यू हिस्ट्री आफ इण्डिया—डा० ईश्वरी प्रसाद, पृष्ठ ४४-६३

२. नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्बिषी।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लो बाऽपि वा पतिः।
—अर्थशास्त्र ; ३।२।५६

३. थोड़े समय को बाहर गये हुए शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणों की स्त्रियाँ एक संवत्सर तक अपने पतियों के आने की प्रतीक्षा करें। यदि उनके पति अन्न का प्रबन्ध करके विदेश गये हों तो दो वर्ष तक प्रतीक्षा करें। इसके अनन्तर दूसरा विवाह करने के लिये स्वतन्त्र हैं।
—हिन्दी अनुवाद वही ३।४।२६-२६

४. सर्वेषां प्रीत्यारोपणम् प्रतिषिद्धम्। —वही ३।२।१५

कर लिया गया है, किन्तु आगे चल कर वात्स्यायन मुनि इसका सर्वथा निषेध करते हुए लिखते हैं—"जिसमें मन और आँखें अनुरक्त न हों अर्थात् प्रेम न हो उससे कदापि विवाह न करे[१] ।" विवाह के अनन्तर भी काम सूत्रकार का मत है कि पति को पत्नी के साथ बलपूर्वक संसर्ग नही करना चाहिए। विवाह के प्रारम्भिक तीन दिनों में नारी का विश्वास और प्रेम प्राप्त करने के अनन्तर ही पुरुष की शारीरिक क्रिया में प्रवृत होना चाहिए[२]। इसके अतिरिक्त वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ मे प्रेम सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है—"जैसे पत्नी का प्रेम प्राप्त करने के लिये किस प्रकार की स्त्री से विवाह करना चाहिए ? विवाह से पूर्व उसके प्रेम का पता किस प्रकार लगाना चाहिये ? विवाह के अनन्तर उससे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, जिससे उसके प्रेम का विकास होता रहे ? कौन-कौन सी ऐसी बातें है, जिनका ध्यान न रखने पर स्त्री का प्रेम-भाव नष्ट हो सकता है, आदि। इससे पता चलता है कि उस युग में दाम्पत्य जीवन का लक्ष्य कोरी कामुकता या केवल सन्तानोत्पत्ति मात्र नही रह गया था, अपितु पति-पत्नी के बीच पारस्परिक प्रेम द्वारा एक मधुर आनन्द की सृष्टि करना हो गया था।

अस्तु, नारी को अब केवल वासना-पूर्त्ति का एक स्थूल यंत्र, शौर्य्यशक्ति के प्रदर्शन का सजीव प्रमाण-पत्र, शस्त्राभ्यास निपुणता-प्रदर्शन का सुन्दर पुरस्कार अथवा जूआ में जीती हुई चल सम्पत्ति मात्र नही समझा जाता था—उसके हृदय में भी इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं भावनाओं का एक सूक्ष्म सागर लहरा रहा है, इस सत्य को भली प्रकार हृदयंगम किया जाने लगा। फलतः पुरुरवा, दुष्यन्त, और अग्निमित्र जैसे सम्राट भी किसी अप्सरा, ऋषि कन्या या दासी पुत्री तक पर अधिकार पाने के लिये धन बल का प्रयोग न करके, उसके हृदय को जीतने का प्रयत्न करते है। अब नारी के केवल अंग विशेष की पृथुलता एवं उन्नतता तक ही पुरुष का आकर्षण सीमित नही रहा—उसके संपूर्ण व्यक्तित्व—अंग-प्रत्यंगों, हाव-भावों, चेष्टाओं, मनोवृत्तियों भावनाओं आदि में—वह अपूर्व सौन्दर्य का साक्षात्कार करने लगा। इस युग की रचनाएँ—'काम-सूत्र' और 'नाट्य-शास्त्र', प्रमाण स्वरूप देखी जा सकती है। किन्तु इस नवीन दृष्टिकोण मे एक बात अवश्य खटकने योग्य मिलती है। समाज में

---

१. वात्स्यायन : काम-सूत्र—३।१।८

२. वही, ३।२।४-५।

सौन्दर्य-प्रियता की प्रवृत्ति का विकास इतना अधिक हुआ कि उसने सौन्दर्य-लोलुपता या अति रसिकता का रूप धारण कर लिया। सौन्दर्य के आगे सत्यं और शिवं दोनों को ठुकराया जाने लगा। वात्स्यायन मुनि ने स्वीकार किया कि सौन्दर्य अथवा आनन्द प्राप्ति के लिये परकीया से भी प्रेम करना अनुचित नही है[1]। कुलटाओं और वैश्याओं को भी उन्हें इतना ही अधिक सम्मान मिलने लगा—जितना सद्गृहिणियों को मिलता है। भास ने अपने 'चारुदत' में वैश्या को नायिका का पद दिया तो दूसरी ओर काम-सूत्रकार ने भी इनका विवेचन सम्मानपूर्वक करते हुए बताया है कि एक सज्जन व्यक्ति को इन्हें किस प्रकार आदर की दृष्टि से देखना चाहिए[2]। ऐसे रसिकतापूर्ण समाज में प्रेम एकोन्मुखी न रह कर अनेकोन्मुखी हो गया। कालिदास की रचनायें शृंगार के इसी रसिकता प्रधान रूप को प्रस्तुत करती है।

(ख) कालिदास के साहित्य में शृंगार-चित्रण

कविता कामिनी के मनोहर शृंगार कवि-कुल-शिरोमणी कालिदास की रचनाएँ रस-राज की अक्षय निधि से भरपूर है। उनकी प्रमुख रचनाएँ 'कुमार-संभव', 'रघुवंश', 'मेघदूत,' 'ऋतु-संहार', 'मालविकाग्निमित्र', 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' और 'विक्रमोर्वशीय' है—जिनमे प्रथम चार काव्य है और शेष तीन नाटक। इनमे 'रघुवंश' के अतिरिक्त शेष सभी में शृंगार रस की प्रधानता है।

प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण—कालिदास का ऋतु संहार तो प्रकृति के ऐश्वर्य पूर्ण चित्रों से सुसज्जित है ही किन्तु उनकी अन्य रचनाओं में भी वन-उपवन, नदी, पर्वतादि के रम्य दृश्यों का वैभव पूर्ण रूप में अंकन हुआ है। इस प्रकृति चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि अपनी कल्पना शक्ति के योग से इन्हें हर स्थिति में शृंगारोद्दीपन के योग्य बना देता है।

---

१. **वैश्याओं और विधवाओं में सुख प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होना निषिद्ध नहीं है। दूसरे पुरुष की स्त्री से भी यदि वह पतिवृता नहीं है तो दोष नहीं है, क्योंकि उसका सतीत्व बहुत से अन्य पुरुषों ने पहले ही भ्रष्ट कर दिया होगा, अतः चाहे वह अपने से उत्तम वर्ण की भी हो तो उसके साथ सम्बन्ध करना वैश्या के समान धर्म विरुद्ध नहीं होगा।**

—काम-सूत्र हिन्दी अनुवाद सहित, अधिकरण १।५।३-७

२. **वही**—१।४

हिमालय की दुर्गम घाटियों एवं बर्फीली चोटियों के दृश्यों को उद्दीपक बनाने के लिये किन्नर सुन्दरियों के मादक सौन्दर्य का मिश्रण किया गया है तो दूसरी ओर शिव के पावन तपोवन में शृंगारिकता के संचार के लिये नव विकसित लताओं को तरुणियों के रूप में चित्रित करते हुए लिखा गया है—"ढेर के ढेर प्रसूनों के गुच्छे जो स्तनों के समान थे और जो नवांकुर रूपी अधरों से मनोहर हो उठी थी ऐसी लता वधुओं ने भी अपने विनम्र भुज-बन्धन तरुओं के कंठों में डाल रक्खे थे।"[१] अपनी इसी मानवीकरण की कला के कारण कवि मेघ के रास्ते में पड़ने वाले पर्वतों को पृथ्वी के उन्नत स्तनों के रूप में,[२] बल खाती हुई तरंगित सरिताओं को कटाक्षपात करती हुई मद विह्वल रमणियों के रूप में चित्रित करता हुआ,[३] प्राकृतिक दृश्यों को कामोत्तेजक बना देता है।

(ख) नारी सौन्दर्य का चित्रण—नारी सौन्दर्य का चित्रण कालिदास का सबसे अधिक प्रिय विषय है। भिन्न-भिन्न नारी पात्रों के विभिन्न अवस्थाओं के एक से एक बढ़कर चित्र उनके साहित्य मे उपलब्ध है। राजकुमारी मालविका[४], तथा अलका-वासिनी यक्ष-प्रिया[५] की शारीरिक शोभा का अंकन करते समय उन्होने अनेक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किये है। कालिदास की कला केवल राजकुमारियों के सौन्दर्य मे ही रुचि नही रखती, बल्कल धारिणी, स्वच्छ, सरल, शकुन्तला व तपस्या मग्न पार्वती की मुद्राओं का अंकन भी उसने पूर्ण तन्मयता से किया है। कालिदास की सूक्ष्म दृष्टि नारी के स्थूल अंगों को ही नही देखती वह उसकी सूक्ष्म गति-विधियों का भी गहराई से अध्ययन करती है। यौवनागमन से होने वाले परिवर्तनों को दिखाते हुए वे नेत्रों की चंचलता, अधरों की स्मित, स्तनों की प्रफुल्लता, नितम्बों की स्थूलता एवं गति की मंदता को अपनी चित्रण शक्ति के बल पर प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित कर देते है। युवतियों की

---

१. कुमार-संभव (विराज) सर्ग तृतीय, पृष्ठ ५७
२. मेघदूत, श्लोक १८
३. मेघदूत, श्लोक २५
४. दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयो :
संक्षिप्तं निबिडांन्नतस्तनभुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
—मालविकाग्निमित्रम् २।३।
५. मेघदूत, श्लोक ८८

लज्जा मिश्रित मुद्राओं एवं अनुरागजन्य चेष्टाओं—हावों आदि का अत्यन्त स्वाभाविक रूप में चित्रण हुआ है।

यौवन एवं सौन्दर्य की अक्षय निधि से कालिदास के काव्य भरपूर है, किन्तु उनमें एक दोष भी है। कालिदास की अति रसिकता कई बार कुरुचि-सम्पन्न होकर अश्लील एवं नग्न दृश्यों में लीन हो जाती है। वे बरात देखती हुई पुर वधुओं के हाथ के कंगन के प्रकाश मे नाभि को देखने की चेष्टा करने लगते है,[१] नारियों के अंग-विशेष को अनावृत रूप में देखने के लिये उनके कटिबन्ध के टूटने की कल्पना करते है,[२] या गंभीरा नदी को एक विवृतजघना बाला के रूप में उपस्थित करने लगते है[३] तो पाठक उनकी इस अतिरसिकता पर चकित होने लगता है।

प्रेम भाव का उत्कर्ष—यद्यपि कालिदास के ग्रन्थ सौन्दर्य के ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, उनमे शृंगार के विभिन्न अवयवों का एकत्र समन्वय है, पर फिर भी प्रेम के उत्कर्ष की दृष्टि से हमें निराश होना पड़ता है। उनका समस्त शृंगार वर्णन कामुकता एवं रसिकतापूर्ण दृष्टि से इतना अधिक समन्वित है कि उसमे भावना का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर नही होता। आलोचकों ने कालिदास के प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा उनके 'कुमार-संभव' को आदर्श प्रेम का उदाहरण बताया है, क्योंकि वहाँ शिव-पार्वती का प्रेम पूर्णावस्था को पहुँचने से पूर्व काम को जला देता है। पर हमें यहाँ यह न भूल जाना चाहिए कि काम-दाह का प्रसंग कालिदास का कल्पित नही है, इसका श्रेय पूर्व पौराणिकों को है। साथ ही, सातवें सर्ग में विवाह के तुरन्त बाद ही कामदेव पुनर्जीवित हो जाते है और नव दम्पति को शताब्दियों तक अपने प्रभाव में उलझाये रखते है। अतः हमें तो 'कुमार-संभव' में आदि से अन्त तक—चाहे वह हिमालय पर्वत पर यक्ष और किन्नरों की संभोग-क्रीड़ा का दृश्य हो, चाहे काम प्रभाव से रति-क्रीड़ा में मग्न वृक्ष-लताओं से युक्त शिव का आश्रम हो, चाहे पार्वती के यौवनागमन, तपस्या एवं नव वधू रूप वर्णन सम्बन्धी प्रसंग हो या शिव की बारात प्रवेश का वह दृश्य हो जहाँ आतुर कामिनियों के कटिबन्ध खुल जाते है—सर्वत्र ही कामुकता-पूर्ण दृष्टि का ही चमत्कार दिखाई पड़ता है। जिस शिव

---

१. **कुमार संभव—सर्ग ७ शिव बारात प्रवेश प्रसंग।**
२. **वही।**
३. **मेघदूत ४४-४५**

को किसी पौराणिक ने काम विजेता का रूप प्रदान किया था वे अन्ततः इस काव्य में काम के अधीन हो जाते हैं।

मालविकाग्नि मित्र—'मालविकाग्निमित्र' के नायक-नायिका के जिस पारस्परिक सम्बन्ध को प्रेम का नाम दिया गया है वह भी कामुकता से अधिक कुछ नही है। दो रानियों का पति अग्निमित्र अपनी रानी की एक सखी पर अनुरक्त हो जाता है। इस अनुरक्ति के मूल में वासना की प्रेरणा कितनी अधिक है यह अग्निमित्र की इस उक्ति में द्रष्टव्य है, "अहा ! यह स्थूल नितम्ब, कृश-कटि पीन पयोधर एवं विशाल लोचनों वाली हमारी प्राण इधर आ रही है।"[१] एकान्त मे अवसर मिलने पर वे उससे गुप्त-क्रिया आरम्भ करते है कि रानी इरावती अचानक उपस्थित होकर रंग मे भंग कर देती है। राजा को इस बात का बहुत खेद है कि उसकी पहली रानी रात्रि की भाँति इन दो नये चकवे-चकवियों के सुख में बाधक हो रही है। पर आगे चल कर यह बाधा स्वतः दूर हो जाती है और दोनों का विवाह हो जाता है। वस्तुतः इस नाटक मे प्रेम-भावना का विकास नही मिलता, इसे एक कामी नरेश की काम-क्रीड़ाओं का इतिवृत्त कहना अधिक उपयुक्त होगा।

अभिज्ञान शाकुन्तल—यौवन के मादक दृश्यों एवं सौन्दर्य के सजीव चित्रों के कारण "अभिज्ञान शाकुन्तल" पाठकों को बहुत प्रिय रहा है, पर उच्च कोटि के प्रेम का उसमे भी अभाव है। इस का नायक दुष्यन्त यह जानते हुए भी कि कण्व ऋषि बाहर गये हुए है शकुन्तला के दर्शन के निमित्त आश्रम में जाते है। वे ठीक उस समय पहुँचते है जबकि वाटिका में शकुन्तला अपने उरोजों की प्रफुल्लता के कारण तंग हुई चोली के कस अपनी सखी से ढीले करवा रही थी[२]। सम्राट दुष्यन्त ऋषि कन्याओं के इस गोपनीय कार्य को चुपचाप देखते हुए सोचते है—"इस युवती के उन्नत स्तन-युगल जितने सुन्दर अनावृतावस्था मे लगते है, उतने वल्कल वस्त्र से आच्छादित होकर नही लगते। इससे इनका सौन्दर्य उसी प्रकार नष्ट हो रहा जैसे कमल के कोमल पुष्प को किसी पुराने

---

१. **विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः**
अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति ॥ —मा० ३।७

२. **हला अनसूये ! अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया दृढं पीडितास्मि, तत् शिथिलय तावदेनत्।** —अभि० शा० अंक १

पत्ते से ढक देने पर उसकी शोभा नष्ट हो जाती है[१] ।" अस्तु वे बार-बार उसके रूप-सौन्दर्य का पान अपने नेत्रों द्वारा करते हैं जिससे उनका हृदय भोग-लालसा से पूर्णतः उद्दीप्त हो जाता है । वे कहते हैं—"उसका सौन्दर्य एक ऐसे फूल जैसा है जिसे किसी ने सूंघा नही, एक ऐसे किसलय जैसा है जिस पर किसी ने नाखून नही मारा, एक ऐसे ताजा मधु जैसा है जिसका स्वाद किसी ने नहीं चखा । न जाने विधाता ऐसा अखंडित सौन्दर्य किस सौभाग्यशाली को भोगने के लिये देगा[२] ।"

आश्चर्य तो यह है कि दुष्यन्त की यह आरम्भिक भोग-लालसा अन्त तक बनी रहती है । जब विवाह के अनन्तर शकुन्तला दरबार में उपस्थित होती है तो भी उसके सोचने का दृष्टिकोण है—'इस सौन्दर्य मुखी का मै उपभोग करूं या नही ।' आगे अंगूठी मिल जाने पर वे दुःखी अवश्य होते हैं किन्तु इस दुःख का कारण शकुन्तला का अपमान नहीं अपितु एक अनुपम सुन्दरी को खो देना है । वियोग की घड़ियों मे भी उनकी कामुकता सजग रहती है । वे मन बहलाने के लिये शकुन्तला का चित्र मंगवाते है, पर यहाँ भी उनकी दृष्टि काम अंगों पर ही केन्द्रित है । वे कहते है—"चित्र की सतह समतल होने पर भी इस शकुन्तला के स्तन बहुत ऊँचे, नाभि गहरी सी और त्रिबली विपम एवं उभरी हुई सी दिखलाई पड़ती है ।"[३] इस प्रकार वे शरीर-सौन्दर्य का उपभोग कर ही रहे थे कि रानी वसुमती के आ जाने के कारण वे चित्र को छिपा देते है । यहाँ दुष्यन्त ने जिस कायरता का परिचय दिया वह व्यभिचारियों मे ही मिल सकती है, सच्चे प्रेमियों में नहीं ।

अन्त में जब दुष्यन्त को शाप सम्बन्धी वृत का पता चलता है तो वे कहते हैं कि "संतोष है कि मैं अपवाद से बच गया ।" यहाँ भी दुष्यन्त को प्रिया के

---

१. **इदमुपहित सूक्ष्म ग्रन्थिना स्कन्ध देशे स्तन युग परिणाहाऽऽच्छादिना वल्कलेन । वपुरभिनवमस्या : पुष्पति स्वां न शोभां कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्त्रोदरेण ।। १।१६**

२. **अनाघ्रातं पुष्पं, किसलयमलूनं कररुहै, रनाविद्धं रत्नं, मधु नवमना स्वादित रसम् । अखण्ड पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं, न जाने मौक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधि : ।। २।११**

३. **अभि० शा० अंक ६।१७**

अपमान, दुःख एवं दीर्घ वियोग के खेद की अपेक्षा अपने अपवाद से बचने की प्रसन्नता अधिक है।[१]

वस्तुतः दुष्यन्त का दृष्टिकोण अन्त तक स्वार्थपरता, कामुकता एवं रसिकता से ओत-प्रोत रहता है, उसमें स्वच्छ प्रेम का विकास नहीं होता।

मेघदूत—शृंगार के वियोग-पक्ष को लेकर चलने के कारण 'मेघदूत' में प्रेम का उत्कर्ष दिखाने के लिये पर्याप्त क्षेत्र था, पर खेद है कि कवि की अति रसिकता ने यहाँ भी बाधा उपस्थित कर दी। वह मेघ को मार्ग बताने एवं अलका नगरी का परिचय देने के बहाने ऐसी-ऐसी संभोग-क्रीड़ाओं की कल्पना करता है, जिन्हें पढ़ते समय हम भूल जाते है किसी वियोगी का सन्देश पढ़ रहे है। नारी अंगों से कवि को इतना मोह है कि वह रास्ते में पड़ने वाले पर्वतों को उन्नत स्तनों के रूप में[२] और सरिताओं को विवृत जघनाओं के रूप मे चित्रित करता है।[३] स्वयं कवि ने यह कह कर कि "ज्ञातास्वादो विवृत जघनां को विहातुं समर्थः"[४] (विवृत जघनाओं के स्वाद से परिचित होकर कौन उन्हें छोड़ सकता है) अपनी काम-लोलुपता को स्वीकार कर लिया है।

लगभग सवा सौ श्लोकों के काव्य में सन्देश को जो कि इसका मूल विषय था केवल दश श्लोकों में ही वर्णन करना—शेष में प्रकृति-वर्णन एवं नारी-सौन्दर्य का चित्रण करना—ही कालिदास की वियोगानुभूतियों की दरिद्रता घोषित कर देता है, और यदि हम उन दस श्लोकों का भी विश्लेषण करें तो वहाँ प्रणय-वेदना के स्थान पर संभोग-आकांक्षा के ही दर्शन होते है। यदि यक्ष के शब्दों पर विश्वास किया जाय तो उसकी प्रिया भी काम-संतप्ता ही सिद्ध होती है। कहाँ प्रेमियों की यह उक्ति कि—"रात ना सुहात, ना सुहात प्रभात आली, जब मन लागि जात, काहू निर्मोही सों!" और कहाँ यक्ष का यह कथन कि—"मेरे विचार में दिन में तो वह काम में लगी रहती होगी, इसलिये उसे विशेष दुःख नही होता होगा, पर रात में मनोरंजन का साधन न

---

१. 'एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।' अभि० शा० अंक ७, पृष्ठ ५२३

२. मेघदूत—श्लोक १८

३. वही—श्लोक ४५

४. प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः

—मेघदूत ४५

होने से वह बहुत दुःखी रहती होगी।"[१] या पहले मेरे साथ इच्छापूर्वक रति-क्रीड़ा में उसकी रात क्षणमात्र में बीत जाती थी, परन्तु अब तो वे विरह-वेदना में लम्बी हो गई होगी।"[२]

अन्त में यक्ष का विश्वास दिलाने के लिये यह सन्देश उसी का है, प्रमाण-स्वरूप एक घटना का उल्लेख करता है—"एक बार तुम मेरे गले से लिपट कर सोई थी, तब तुम एक दम रोती हुई जाग पड़ी, मेरे बहुत पूछने पर तुमने उत्तर दिया था—'धूर्त ! मैने स्वप्न में तुम्हें किसी अन्य से रति-क्रीड़ा मे मग्न देखा।"[३] यह साक्ष्य आलोचकों के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगा। जहाँ प्रेमिकाएं स्वप्न मे भी अपने प्रियतम की धूर्तता देखकर चौका करती है, वहाँ प्रेम की सच्चाई या भावना का उत्कर्ष ढूँढना व्यर्थ है।

मेघदूत मे थोड़ी मात्रा मे वेदना, पीड़ा और आंसुओं की आर्द्रता है पर वह सब कुछ काम-क्षुधा से पीड़ित हृदय की प्रीति क्रिया के रूप मे है। खेद है कि वियोग की आँच मे भी वासना का कर्दम नही जल सका, जिससे कि प्रेम को स्वच्छ स्वरूप प्राप्त होता।

विक्रमोर्वशी—कालिदास की समस्त रचनाओं में "विक्रमोर्वशी" अवश्य एक ऐसी है जो प्रेम के उत्कृष्ट स्वरूप को उपस्थित करती है। संभोगदृश्यों का इसमें सर्वथा अभाव है। कवि की दृष्टि स्थूल-वर्णनों की अपेक्षा प्रेमी-प्रेमिका की हृदय-गत भावनाओं के उद्घाटन की ओर अधिक है। इसमें प्रेम का आरम्भ, विकास, मिलन एवं वियोग तथा पुनर्मिलन आदि सभी परिस्थितियों का चित्रण इस स्वच्छता से किया गया है कि उसमें कामुकता की गन्ध नही मिलती है। सर्वत्र हम दो प्रणय-विभोर हृदयों को एक दूसरे के लिये आत्म-त्याग करते हुए पाते है। एक यदि प्रेमी के लिये स्वर्ग की तिलांजलि दे देती है तो दूसरा अपने सम्राट-पद को भूलकर प्रेमिका के लिये जंगलों में भटकता फिरता है। वेदना की आँच मे पिघल कर पुरुरवा का हृदय इतना कोमल हो गया कि वह पशु-पक्षियों तक के लिये सहानुभूति-शील हो उठता है। वे वन में अकेले हाथी को देख कर कहते है—"हाय ! प्रियतमा के ध्यान मे अपने हृदय को खोये हुए, नेत्रों में आँसू छिपाये हुए उदास मुँह यह दुःखी गजराज जंगल

---

१. **सव्यापारामहनि न तथा पीडयेद् विप्रयोगः शंके रात्रौ गुरुतर शुचं निर्विनोदां सखीं ते।** —मेघदूत ९४

२. **मेघदूत श्लोक ९५**

३. **दृष्टः स्वप्ने कितव रसयन् कामपि त्वं मयेति।** —मेघदूत ११७

में भटक रहा है।"[१] एक अन्य गज-दम्पति को देख कर वे आत्मीयता पूर्ण शब्दों मे कहते है—"जैसे, तुम्हारी यह प्यारी हस्तिनी सभी हथिनियों में अलबेली है वैसे ही मेरी भी प्रिया सभी सुन्दरियों में श्रेष्ठ थी ! तुम्हारी सभी बातें मुझसे मिलती हैं—किन्तु हाय ! भगवान् तुम्हें मेरी तरह प्रिया-विरह का क्लेश न दे !"[२] सचमुच यहाँ कालिदास ने प्रेम के उस उच्च स्वरूप का चित्रण किया है जिसमें पशुओं के उदास मुँह को देखकर ही मनुष्य का हृदय कातर हो उठता है—उनके भावी वियोग की आशंका मात्र से मानवीय हृदय दुःखी, त्रस्त और शंकाकुल हो उठता है ! काश ! भावना का यह चरमोत्कर्ष उनकी अन्य रचनाओं में भी उपलब्ध होता ।

वे लोग जो सौन्दर्य के मादक चित्रों के प्रेमी हैं—भले ही इस रचना से संतुष्ट न हों, किन्तु जहाँ तक प्रणय भावना के उत्कर्ष का सम्बन्ध है, यह निस्संदेह कालिदास की सर्वश्रेष्ठ कृति है ।

असफलता के कारण—अस्तु, कालिदास की अधिकांश कृतियाँ प्रेम की पूर्णता की दृष्टि से असफल कही जा सकती है । इस असफलता के बहुत से कारण है । कालिदास की रुचि में कामुकता एवं रसिकता का अत्यधिक समावेश था । उनके पास प्रतिभा और कल्पना का तो अक्षय भण्डार था किन्तु लगता है, उन वियोगानुभूतियों से जो कि प्रेम को निखार कर स्वच्छ बना देती है, उनका काम नही पड़ा था । दूसरे उनके काव्यों की पृष्ठभूमि मे तत्कालीन विलासी राजाओं के अन्तःपुरों का वह वातावरण है जहाँ नरेश विदूषक, नर्म-सचिव आदि की सहायता से अनेक रमणियों का उपभोग करते हुए अपनी इस क्रीड़ा को प्रेम की संज्ञा से विभूषित करते थे । 'मालविकाग्निमित्र' इस वातावरण को प्रत्यक्ष रूप में हमारे सामने उपस्थित करता है । तीसरे, उनके शृंगार चित्रणों पर काम शास्त्रों का गहरा प्रभाव है जिससे नायिकाओं के हाव-भाव चित्रण में तो वृद्धि हुई किन्तु प्रेम के स्थान पर रसिकता प्रतिष्ठित हो गई । चौथे, उनके शृंगार के क्षेत्र मे अन्य रानियों की अप्रसन्नता से बढ़कर और कोई बड़ी बाधा उपस्थित नही होती, जो सहज ही दूर हो जाती है । फलतः प्रेमियों को साहस, त्याग एवं बलिदान का अवसर नही मिलता । इसके

१. **विक्रमोर्वशी ४।६२**

२. **स्त्री रत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा यूथे तवेयं वशा ।**
सर्वं मामनु ते प्रिया विरहजां त्वं तु व्यथां माऽनुभूः ।
—विक्रमोर्वशी ४।४७

अतिरिक्त कालिदास वियोग वर्णन के समय भी नारी के अंग विशेषों का चित्रण एवं संभोगदृश्यों का आयोजन करने लगते है, जिससे उनका वर्णन करुणोत्पादक न बन कर कामोत्तेजक बन जाता है। वे यदि स्थूल दृश्यों से ध्यान हटा कर वियोगियों की अन्तर्वृत्तियों का निरूपण करने की चेष्टा करते तो उन्हें अधिक सफलता मिलती, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। कालिदास यह जानते हुए भी कि वियोग से प्रेम भावना में विकास आ जाता है, अपने वियोग वर्णनों से उक्त लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहे।

परम्परा का विकास—यद्यपि प्रेम की दृष्टि से कालिदास का काव्य बहुत उच्चकोटि का सिद्ध नही होता, किन्तु फिर भी अपने नारी-सौन्दर्य के वैभव के कारण रसिकता प्रधान समाज मे उनका काव्य बहुत लोक-प्रिय हुआ। फलतः परवर्ती युग के अनेक संस्कृत कवियों—माघ, हर्ष, श्री हर्ष आदि ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया। आगे चल कर प्राकृत की नाटिकाओं—कर्पूरमंजरी, रंभामंजरी, शृंगार मंजरी, आनन्द सुन्दरी, विलासवती आदि मे शृंगार के इसी रूप का विकास मिलता है।[1] हिन्दी के शृंगारी कवियों में—बिहारी को तो कालिदास इतने प्रिय रहे हैं कि उन्होंने उनके अनेक श्लोकों, उक्तियों एवं उपमाओं का उपभोग अपने काव्य में किया है।[2]

५. परकीयोन्मुख शृङ्गार

(क) बाह्य-परिस्थितियाँ

रसिकता प्रधान शृंगार का विवेचन करते हुए पीछे स्पष्ट किया गया है कि विभिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप मौर्य-युगीन तथा परवर्ती समाज मे किस प्रकार का सौन्दर्योन्मुखता और रसिकता का विकास हो चुका था। साथ ही अर्थशास्त्रकार और काम-सूत्रकार के उद्धरणों से यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि उस युग में प्रणय-जन्य विवाहों को भी पर्याप्त महत्त्व दिया जाने लगा था। ऐसी परिस्थिति में युवक और युवतियाँ विवाह से पूर्व ही परस्पर संपर्क बढ़ाने, एवं प्रेम करने में संलग्न होने लग गये, जिससे समाज में कन्याओं के

---

१. **इन रचनाओं के विस्तृत परिचय के लिये देखिये—प्राकृत और उसका साहित्य—लेखक डा० हरदेव बाहरी।**

२. **देखिए—इसी प्रबन्ध में आगे बिहारी की तुलना कालिदास से।**

विवाह पूर्व गर्भवती होने की घटनाएँ घटित होने लगीं। इसके प्रमाण-स्वरूप अमेरिका जैसे देशों के समाज, जहाँ कि रसिकता और प्रणय-जन्य विवाह दोनों का प्रचार है—की वर्तमान अवस्था को देखा जा सकता है।[1] हाल ही में वहाँ की शृंगार-प्रवृत्तियों का अध्ययन करने वाली एक संस्था ने अपने निष्कर्ष प्रकाशित करते हुए बताया है कि—"अमेरिका की दस प्रतिशत स्त्रियाँ विवाह से पूर्व ही गर्भवती हो जाती है। इनमें ८९ प्रतिशत युवतियाँ गर्भ के तुरन्त बाद विवाह न हो सकने के कारण भ्रूण-हत्या को विवश होती है, ५ प्रतिशत शीघ्रता में अनमेल विवाह कर लेती है और शेष ६ प्रतिशत अवैध सन्तानों को जन्म देती है।"[2] इसके अतिरिक्त तत्कालीन स्मृतिकारों ने दाय-विभाग[3] की चर्चा करते हुए पुत्र के विभिन्न भेदों मे कानीन,[4] (कन्या के गर्भ से उत्पन्न) सहोढ[5] (विवाह के पूर्व गर्भवती हुई कन्या से तुरन्त विवाह के बाद उत्पन्न) गूढज[6] (जिसका पिता अज्ञात हो) उसका उल्लेख किया है जिससे पता चलता है कि प्रारम्भ मे इस प्रकार के पुत्रों को वैध ही समझा जाता था। किन्तु जब इस प्रकार के उदाहरणों में वृद्धि होने लगी तो स्मृतिकारों ने कन्या का विवाह ऋतुकाल के तुरन्त बाद कर दिये जाने का नियम बनाया जिससे उसे गर्भवती होने का अवसर न मिले। प्रारम्भ मे वशिष्ठ[7] और बोधायन[8] ने इसका उल्लेख किया पर साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि उपयुक्त वर न मिले तो ऋतुकाल के बाद भी तीन वर्ष तक रोका जा सकता है। आगे चलकर गौतम और विष्णु ने तीन वर्ष की अवधि को तीन महीने मे सीमित कर दिया। जब इससे भी स्थिति में सुधार नही हुआ तो दूसरी शताब्दी के बाद याज्ञवल्क्य और यम ने

1. The Kinsey Institute of Sex Research.
2. "That one American woman in ten becomes pregnant before she marries—these pre-martial pregnancies that do not result in hurried marriage, 89 percent end in abortions, 5% in miscarriages and 6% in illegitimate births."
   —"Pregnancy-Birth-Abrotion" The third Report.

३. अर्थशास्त्र ४।६०
४. मनु-स्मृति ९।१७२
५. मनु-स्मृति ९।१७३
६. वही—९।१७०
७. कुमारी ऋतुमती त्रीणि वर्षाण्यु दीक्षित—वाशिष्ठ-धर्म-सूत्र। १७।५९
८. त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमारी ऋतुमती सती-बोधायन-धर्म-सूत्र ४।१।१४

ऋतुकाल से पूर्व ही विवाह करने का नियम बनाया—और इसी तरह घटाते-घटाते परवर्ती स्मृतिकारों ने कन्या के विवाह की आयु ८ से १० वर्ष तक निश्चित कर दी।[1]

बाल-विवाह की प्रथा के प्रचार स्वरूप भारतीय नारी का पुनः पतन होने लगा। अब न तो उन्हे विवाह से पूर्व शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता था और न ही उपयुक्त पति के वरण की क्षमता का विकास उनमें हो पाता था। स्वयंवर-प्रथा और गान्धर्व-विवाह की प्रथा का लोप हो गया। विवाह लड़के-लड़की की पसन्द के स्थान पर माता-पिता की इच्छा के अनुसार होने लगे। अल्प-वयस्का बधुओं की देख भाल के रूप में उन पर सास-श्वसुर का अनुशासन अधिक से अधिक कड़ा होता गया। बसन्त का आगमन होने से पूर्व ही अर्द्ध-स्फुटित कलियाँ मातृत्व के बोझ से लद कर मुरझाने लगी।

इस प्रकार धीरे-धीरे भारतीय नारी स्वास्थ्य, सौन्दर्य, शिक्षा, सम्मान एवं स्वतन्त्रता से वंचित हो गई। ऐसी जीवन संगिनी से पुरुष को पूर्ण संतोष कैसे हो सकता था। यह भी आवश्यक नही था कि अबोधावस्था मे माता-पिता द्वारा विवाहित पति-पत्नियों का हृदय और मन भी मिले। फलस्वरूप पुरुष वर्ग अपने हृदय की तृप्ति अन्यत्र ढूँढने लगा। उस समाज में अविवाहित युवतियाँ तो मिलनी संभव नही थी—उपेक्षित परकीयाओं से ही वह गुप्त सम्बन्ध स्थापित करने लगा। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की अनेक मुक्तक रचनाओं—गाथासप्तशती, वज्जालग्ग, अरुण-शतक, शृंगार-शतक, आर्यासप्त-शती आदि में समाज की इसी यथार्थ परिस्थिति—नायक और परकीयाओं के प्रच्छन्न प्रेम—का चित्रण किया गया है। आगे चल कर हिन्दी के शृंगारी कवियों—बिहारी, मतिराम, रसनिधि, रामसहाय, विक्रम आदि सतसई रचयिताओं ने[2] उपर्युक्त रचनाओं का अनुसरण करते हुए काव्य-रचना की। हिन्दी के इन परवर्ती कवियों ने इस काव्य की सभी प्रवृत्तियों—परकीय प्रेम

१. **अष्ट वर्षा भवेद् गौरी, नव वर्षा तु रोहिणी।**
दश वर्षा भवेत्कन्या तत्त ऊर्ध्वम् रजस्वला॥
प्राप्ते तु दशमे वर्षे यस्तु कन्यां न यच्छति।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम्॥

—बृहदयम ३।२१-२२

२. **इन सतसई कारों का परिचय देखिये—सतसई-सप्तक—ले० श्याम-सुन्दर दास**

का चित्रण, ग्राहस्थ-जीवन की यथार्थ झांकी, दो पंक्तियों का छन्द, मुक्तक शैली, काव्य का नामकरण छंदों की संख्या के आधार पर आदि को तो सुरक्षित रखा ही है, साथ ही उन्होंने इन रचनाओं के अनेक भावों का भी उपयोग अपने काव्य में किया है। इस सम्बन्ध में आगे हिन्दी की रीति-बद्ध काव्य धारा का विवेचन करते हुए विस्तार से चर्चा की जायगी।

(ख) यथार्थोन्मुख शृङ्गार

(अ) प्राकृत का मुक्तक काव्य

अब तक जिस साहित्य का परिचय दिया गया है उसका सम्बन्ध तत्कालीन समाज के उच्च वर्ग से है, उसमे जन-साधारण के भावों का प्रतिबम्ब नहीं मिलता, किन्तु प्राकृत के मुक्तक काव्य के सम्बन्ध में ऐसी बात नही कही जा सकती। इस काव्य के रचयिताओं ने सर्व साधारण के जीवन की यथार्थ अनुभूतियों का चित्रण करते हुए सच्चे अर्थों मे लोक-काव्य की रचना की है। इस वर्ग की रचनाओं में गाथासप्तशती और वज्जालग्ग ही उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ रचनाओं के उद्धरण शृंगार-प्रकाश, सरस्वती-कंठाभरण, काव्य-प्रकाश आदि शास्त्रीय ग्रन्थों में मिलते हैं।

सौन्दर्य चित्रण—उपर्युक्त रचनाओं के रचयिताओं में संस्कृत कवियों की सी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि का अभाव है, अतः उनके काव्य में नारी-सौन्दर्य का संश्लिष्ट चित्रण नही मिलता। नारी के कुछ अंग विशेषों का चित्रण अवश्य कुछ पद्यों में इधर-उधर मिलता है। नारी की चेष्टाओं एवं मुद्राओं का अंकन कहीं-कहीं अत्यन्त रसिकता पूर्ण दृष्टि से किया गया है जैसे—"यद्यपि वह मन्द-मन्द गति से चल रही है, फिर भी पग-पग पर वेदना से मुँह को सिकोड़ती है, ऐसा क्यों ? अवश्य ही उसकी नितम्बों में कोई (प्रेमी द्वारा किया हुआ) नख-क्षत है, जो मेखला के स्पर्श से पीड़ा देने लगता है !"[१] एक अन्य गाथा में पुरुष-सौन्दर्य की व्यंजना एक युवती के मुख से करवाई गई है—"हे राही ! जिन्होंने तुम्हें देखा है और जिन्होंने नही देखा, वे दोनों ठगी गईं—उनका हृदय छिन गया, इनका जन्म निष्फल गया।"[२] इस पद्य में सौन्दर्य का विश्लेषण नहीं मिलता केवल सौन्दर्यानुभूति की ही अभिव्यक्ति प्रभावोत्पादक शब्दों में की गई है।

---

१. गाथा सप्तसतीः ५।६३

२. वज्जालग्ग, गा० ५५३

मनोभावों का चित्रण—प्रेमी-प्रेमिकाओं के मनोभावों के चित्रण की दृष्टि से गाथा-काव्य बहुत ही संपन्न है। एक मुग्धा बाला जो अपनी मौसी के यहाँ आई हुई है, किस प्रकार एक युवक की ओर आकर्षित होती है, यह देखिये—

"उसी की कथायें होती हैं, विकसती हैं, फिर उसी तक समाप्त होती हैं। क्या मैं यह समझ लूं, हे मौसी ! कि वही एक युवक है इस गाँव में[1] !!

प्रेमोदय के अनन्तर प्रिय के दर्शनों की लालसा से विकल नायिका की दशा का चित्रण करते हुए गाथा-सप्तशतीकार ने लिखा है—यद्यपि वह सुन्दर युवकों से घिरी रहती है, फिर भी तुम्हारे दर्शनों के लिये उस बेचारी की दृष्टि चारों ओर इस प्रकार देखती रहती है मानो वह किसी सूने वन में बैठी हो।[2]

सपत्नियों के कारण उत्पन्न ईर्ष्या, मान आदि का चित्रण भी कहीं-कहीं बहुत स्वभाविक रूप मे हुआ है। एक नायक जब अपनी प्रेयसी की प्रशंसा अपनी ही पत्नी के सामने करता है तो वह दुःखी होकर कहती है—"सचमुच ही वह सुन्दर, रूप-गुणशील है, और यह भी मानती हूँ कि हम में कोई भी गुण नही। पर क्या वह जो उसके समान सुन्दर नही उसे मर ही जाना चाहिए।"[3] एक अन्य पद्य में उपेक्षिता पत्नी की वेदना पूर्ण अनुभूतियों की व्यंजना थोड़े से शब्दों में कर दी गई है। यह पूछने पर कि तुम किन का चिन्तन कर रही हो उसने उत्तर दिया—"कौन है जिसका मै चिन्तन करूँ !" और साथ ही उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।[4]

पत्नी के रूप में ही नहीं, प्रेयसी के रूप में भी नारी को पुरुष की वंचकता का आघात सहन करना पड़ता है। प्रायः रसिक जन जो कि प्रेम के आरम्भ में बहुत उत्साह दिखाते हैं, कुछ दिनों के रस-पान के अनन्तर ही प्रेयसी से विमुख हो जाते है, तथा किसी और में अनुरक्त हो जाते है। एक ऐसे ही नायक को लक्ष्य करके एक दुःखिनी बाला कहती है—"लोग क्या कहते है, इसे छोड़ो ! तुम्हारा दिल ही तुम्हें बता देगा कि अब तुम इतने उदासीन हो गये हो कि तुम्हें उपालम्भ देना भी उचित नही समझती।"[5] कहना न होगा कि इन शब्दों में नायिका के हृदय का गहरा अनुताप छिपा हुआ है।

---

१. गाथा सप्तसती ७।४८ का अनुवाद ॥
२. गा० सं० ५।९२ ३. गा० स० ६।११
४. गा० प० ४।८९ ५. गा० स० ३।१

विरह वर्णन—नायिका की विरह जनित वेदना का वर्णन भी इन कवियों ने पूर्ण सहानुभूति के साथ किया है। विरहिणी की बाह्य दशा का चित्रण करते हुए एक स्थान पर लिखा है—"भला वह कैसे भुलाई जाय—वह जिसका शरीर निःश्वासों के कारण सूख गया है। उसे आश्वासन तो देना ही चाहिए, जब तक उसके श्वास समाप्त नही हो जाते।"[१]

वियोगिनियों के दुःख की चरम सीमा तो यह है कि वे स्वप्न मे भी अपने प्रिय को नही देख पातीं, क्योंकि जब उन्हे नीद ही नही आती तो स्वप्न कहाँ से देखें।[२] इस विरह वेदना की कठोरता का कोई पार नही—"क्षण में ताप, क्षण मे पसीना, क्षण में ठिठुरन, क्षण मे रोमाच ! हाय यह प्रिय विरह सन्निपात रोग की तरह दुस्सह्य है।"[३]

कहीं कही विरह-वेदना की अतिशयता दिखाने के लिये अस्वभाविक उक्तियों का भी प्रयोग किया गया है : जैसे—"हे पथिक, इस तालाब का पानी मत पीओ, इसमें प्रोषित-भर्तृका वधू ने स्नान किया है, उसकी विरहाग्नि से इसका पानी तप गया है।[४] फिर भी ऐसी उक्तियों की संख्या बहुत थोड़ी है, अतः यह कहा जा सकता है कि गाथाकार कवियों का लक्ष्य चमत्कार प्रदर्शन का नही, भावोत्पादन का ही रहा है।

प्रेम का विकास—इन मुक्तक संग्रहों मे शृंगार रस के सभी अंगों का पूर्ण समावेश नही मिलता—विशेषतः आलम्बन के स्थूल सौन्दर्य का चित्रण तो बहुत कम हुआ है—तथा कोई शृंखलाबद्ध प्रेम की कहानी भी इनमें नही मिलती। इस काव्य में चित्रित नायक का प्रेम रसिकता के स्तर का है जबकि नायिकाओं के प्रेम में भावना का उत्कर्ष मिलता है। पुरुष वर्ग की रस-लोलुपता के कारण प्रेयसी या पत्नी—दोनों को ही अन्त में वंचकता, निराशा और शोक का सामना करना पड़ता है। फलतः इनमें प्रेम का पूर्ण विकास नहीं हो पाता, किन्तु फिर भी इस काव्य का महत्व कम नहीं है। पहली बात तो यह कि इनमें हम उच्च-वर्ग की कृत्रिम एवं आडम्बरपूर्ण काम लीला के स्थान पर जन-साधारण का ऐसा प्रेम व्यवहार पाते हैं जो स्वाभाविक है, स्पष्ट है और

---

१. वज्जालग्ग ४०२
२. गाथा सप्तशती ४-६७
३. वज्जालग्ग ३८३।
४. वज्जालग्ग ४४१

सरल है। दूसरे इसमें बाह्य चेष्टाओं की अपेक्षा नायक-नायिकाओं की मानसिक अवस्थाओं का चित्रण अधिक हुआ है। ललनाओं के हृदय की कोमल अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में गाथाकार कवियों ने असाधारण सफलता प्राप्त की है। तीसरे, इनमें प्रेम के सुखद पक्ष की अपेक्षा उसके वेदना पूर्ण रूप को अधिक प्रधानता मिली है। इसके अतिरिक्त गाथा साहित्य का महत्व इस बात से सिद्ध है कि आगे चल कर संस्कृत और हिन्दी के अनेक कवियों—अमरुक, भर्तृहरि गोवर्धन, बिहारी, पद्माकर, रामसहाय, विक्रम आदि ने इस काव्य का अनुसरण किया है।

६. संघर्ष पूर्ण शृङ्गार

बाह्य परिस्थितियाँ

भारतीय साहित्य मे शृंगार के संघर्ष पूर्ण रूप का विकास भी लगभग उसी युग (पहली शती ई० से ८वी शती) में हुआ जिसमे परकीयोन्मुख शृंगार का हुआ। इस युग की बाह्य परिस्थितियों का विवेचन करते हुए पीछे बताया जा चुका है कि किस प्रकार बाल-विवाह प्रथा के विकास के साथ-साथ भारतीय नारी के व्यक्तित्व एवं दाम्पत्य जीवन के माधुर्य का ह्रास होना आरम्भ हुआ। कुछ कवि जो इस स्थिति से संतुष्ट थे—यथार्थ को ही काव्य का रंगीन आवरण पहनाते रहे, किन्तु सभी साहित्यकार ऐसा नही कर सकते थे। उनकी आत्मा प्रणय के मधुर स्वप्नों के लिये छटपटा रही थी—अतः उन्होंने वास्तविकता से आँख मूंद कर कल्पना के एक ऐसे लोक का निर्माण किया, जहाँ जीवन में सौन्दर्य और प्रेम के अतिरिक्त कुछ नही था, जहाँ प्रेम के द्वारा मृत्यु पर भी विजय पाई जा सकती थी। अस्तु, इस युग में एक ओर काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे रस-सिद्धान्त की प्रतिस्पर्द्धा में अलंकार और रीति सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हुए—जो कि स्वाभाविकता से अलंकारिकता की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति के द्योतक है—दूसरी ओर यथार्थोन्मुख काव्य की तुलना में काल्पनिक इतिवृत्त के आधार पर रचित नाटकों और गद्य आख्यानों का विकास हुआ। जैसा कि पीछे उल्लेख किया गया है इन प्रेम कथानकों में संघर्ष की प्रधानता है जिसके तीन प्रमुख भेद किये जा सकते हैं—(१) प्रतिनायक से संघर्ष—भारतीय साहित्य में प्रेम के क्षेत्र में प्रतिनायक से संघर्ष की प्रवृत्ति प्रायः नहीं मिलती। इस युग की रचनाओं में प्रथम बार इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं—संभवतः यूनानी नाटक के प्रभाव से इस प्रवृत्ति का विकास हुआ हो। (२) लौकिक परिस्थितियों से संघर्ष। (३) दैवी परिस्थितियों से संघर्ष।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत शूद्रक का 'मृच्छकटिक' एवं भवभूति का 'मालती-माधव' नाटक आता है। दूसरे में दण्डी का दशकुमार चरित और तीसरे मे बाण-भट्ट की कादम्बरी को रख सकते हैं। इन तीनों वर्गो की रचनाओं में प्रेम सम्बन्धी आदर्शों एवं प्रवृत्तियों की दृष्टि से परस्पर गहरा भेद मिलता है। अतः प्रत्येक रचना का अलग-अलग अध्ययन करना उचित होगा।

संस्कृत की इस संघर्ष प्रधान प्रेमाख्यान परम्परा को प्राकृत और अपभ्रंश के जैन कवियों ने आगे बढ़ाते हुए अनेक सुन्दर काव्यों की—समरादित्य कथा (हरिभद्रसूरि—७००-८००), धूर्ताख्यान (वही), कथाकोश (जिनेश्वर—९५१ ई०), तरंगवती (पादलिप्त), सुर-सुन्दरी (धनेश्वर—१०३८ ई०), भुवन सुन्दरी (विजयसिंह—९१७ ई०), मलय सुन्दरी (अज्ञात), यशोधर चरित (पुष्पदंत १०वीं) आदि की रचना की। इन कवियों ने संस्कृत काव्य की अनेक प्रवृत्तियों को सुरक्षित रक्खा है—जैसे ग्रन्थ का नाम नायक या नायिका के आधार पर करना, काल्पनिक इतिवृत्त, संघर्ष पूर्ण प्रेम का चित्रण, आदि—किन्तु कुछ नये तत्त्व भी मिलाये है। एक तो इन्होंने धार्मिक सिद्धान्तों का मिश्रण बीच-बीच मे किया तथा दूसरे इन्होंने गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग किया है। आगे चल कर यह परम्परा हिन्दी के प्रेमाख्यानक कवियों—ईश्वरदास, कुतुबन, मंझन, जायसी, नूरमोहम्मद आदि के द्वारा विकसित हुई।

(क) प्रतिद्वन्द्वात्मक—संघर्ष पूर्ण शृंगार

१—मृच्छ-कटिक

संस्कृत कवियों मे संभवतः 'मृच्छकटिक' का लेखक ही पहला व्यक्ति है जिसने समाज के निम्न उपेक्षित एवं घृणित वर्गों के प्रति अपनी सहानुभूति दिखाते हुए उन्हें अपनी रचना मे उच्च स्थान प्रदान किया है। इस रचना का नाम "मिट्टी की गाड़ी"—ही सूचित करता है कि इसके पात्र वैभव और ऐश्वर्य में पलने वाले व्यक्तियों की दुनिया से भिन्न है। इन पात्रों मे वेश्या-पुत्रियाँ है, और हैं उनके प्रेमी जो कि निर्धन है, चोर है, जुआरी है। वे बाहर से कलुषित है किन्तु उनका हृदय स्वच्छ, निर्मल एवं पवित्र है। जहाँ उच्च-वर्गीय-समाज के लिये प्रेम एक मनोरंजन और मनोविनोद की सामग्री है, वहाँ इन लोगों के लिये वह जीवन और मृत्यु का प्रश्न बन कर आता है।

कथा-वस्तु—इस नाटक की मुख्य कथा वेश्या-पुत्री बसन्तसेना और उसी शहर के एक निर्धन व्यक्ति चारुदत के पारस्परिक प्रणय से सम्बन्ध रखती है। यद्यपि बसन्तसेना प्रथम-दर्शन से ही चारुदत की

ओर आकर्षित हो जाती है, किन्तु उसके प्रणय का क्रमिक विकास दिखाने के लिये कई-घटनाओं का आयोजन किया गया है जो लेखक की मनोवैज्ञानिकता की परिचायक है। चारुदत्त के प्रतिद्वन्द्वी—के रूप में राज-श्यालक को प्रस्तुत किया गया है जो अपने बल, वैभव एवं षड़यन्त्रों के द्वारा बसन्तसेना को प्राप्त करने का असफल यत्न करता है। राज-श्यालक की प्रतिद्वन्द्वता के कारण नायक-नायिका का प्रेम अनेक विकट परिस्थितियों मे से गुजरता हुआ, साहस, त्याग एवं आत्म-बलिदान के गुणों से समन्वित हो जाता है और अपने उत्कृष्ट-तम स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः इस रचना में कथा-वस्तु का संगठन इस ढंग से किया गया है कि जिससे प्रेम का गंभीरतम स्वरूप प्रदान किया जा सके।

भाव व्यंजना—बसन्तसेना के प्रणय की निःस्वार्थता, एकान्तता, गंभीरता एवं दृढ़ता की व्यंजना नाटककार ने अनेक स्थलों पर की है। जब उसकी सखी मदनिका चारुदत्त की निर्धनता का उल्लेख करती हुई पूछती है—"आर्य ! क्या कुसुम रहित रसाल पादप को मधुकरियाँ प्यार करती है[1] ?" तो उसका उत्तर है कि "मैं मधुलोभ मे भटकने वाली मधुकरी नही हूँ।" माता के राजश्यालक की सेवा मे जाने का आग्रह किये जाने पर उसका एक टूक उत्तर है—'यदि आप मुझे जीवित देखना चाहती है तो ऐसी आज्ञा फिर कभी न दें[2] !" और स्वयं राजश्यालक के आग्रह किये जाने पर उसका सीधा सा जवाब है—"प्रेम बलात् उत्पन्न नही किया जा सकता[3] ।" इसी प्रकार जब प्रिय समागम के लिये जाते समय वर्षा उसके पथ को अवरुद्ध करने लगती है तो उसकी चुनौती है—"चाहे मेघ गरजें या बरसें और चाहे बज्र ही क्यों न गिरने लगें, परन्तु प्रियतम-मिलन के लिए उत्कंठित प्रेमिकायें इन्हें कुछ नही समझती[4] ।" बसन्तसेना के प्रेम की सबसे कड़ी परीक्षा तो तब होती है जब

---

१. आर्ये ! किं हीन कुसुमं सहकार पादपं मधुकर्य पुनः सेवन्ते।
—मृच्छकटिक ; अङ्क २ पृष्ठ ९९

२. यदि मां जीवन्ती मिच्छसि तदैव न पुनरहं मात्राऽऽज्ञापायितव्या।
—वही—अङ्क ४ पृष्ठ १९८

३. गुणः खलु अनुरागस्य कारणम्, न पुनर्बलात्कारः –वही अङ्क १ पृष्ठ ४८

४. गर्ज वा वर्ष वा शक ! मुंच वा शतशोऽशनिम्
न शक्या हि स्त्रियो रोदधुं प्रस्थिता दयितं प्रति ॥
—वही ५।३१

कि राजश्यालक के गला घोंटने की चेष्टा करने पर भी वह उसका प्रस्ताव स्वीकार नही करती तथा काँपते हुए अधरों से प्रेमी का नाम लेती हुई मूर्छित हो जाती है। दूसरी ओर चारुदत्त का त्याग और बलिदान भी कुछ कम नहीं है। बसन्तसेना की हत्या का मिथ्या अपराध आरोपित होने पर भी वह यह सोचकर कि 'बसन्तसेना से रहित जीवन से अब क्या लाभ!' न्यायालय में अपने बचाव का कोई प्रयत्न नही करता। फांसीघर के निकट पहुँच कर भी उसका हृदय शूल की तीखी नोक की अपेक्षा प्रेमिका की स्मृति से ही अधिक व्यथित है।

निष्कर्ष—इस प्रकार बसन्तसेना और चारुदत्त की प्रणय भावना का पूर्ण विकास दिखाने मे लेखक को पूरी सफलता मिली है। साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि लेखक ने इस प्रणय गाथा को शोक एवं वेदना की चरमसीमा तक ले जा कर इसकी परिणति अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से सुखान्त मे की है जिससे भारतीय परम्परा का निर्वाह हुआ है। वस्तुतः प्रेम का जो उच्च स्वरूप हमे कालिदास के देवी-देवताओं, यक्षों, अप्सराओं, कुलीन राजपुत्रों एवं आश्रमवासिनी तपस्विनियों मे ढूढने से भी प्राप्त नही होता, भावना की जिस गंभीरता के लिए पाठक कालिदास के व्यापक काव्य-सागर मे अन्त तक भटकता रहता है, उसकी प्राप्ति शूद्रक की इस छोटी सी काव्य-वापिका में अनायास ही हो जाती है।

२—मालती-माधव

प्रेम सम्बन्धी आदर्शो की दृष्टि से भवभूति शूद्रक की श्रेणी में आते हैं। उनका 'मालती-माधव'[1] शृङ्गार के सम्पूर्ण अवयवों से परिपूर्ण है। मृच्छकटिक की भाँति इसकी भी नायिका मालती एक कामलोलुप सम्राट को ठुकरा कर एक मध्यवर्गीय युवक माधव से प्रेम करती है। दोनों के प्रेम का आरम्भ पारस्परिक दर्शन से होता है, किन्तु उसके विकास के लिये यथेष्ट घटनाओं का आयोजन किया गया है। प्रतिद्वन्द्वी नरेश के कारण नायक नायिका को पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, यहाँ तक कि मालती के प्राणान्त तक का षड़यन्त्र होता है किन्तु माधव अपनी चातुरी एवं वीरता के

१. **कुछ विद्वान 'उत्तररामचरित' को श्रेष्ठ मानते हैं, किन्तु उसमें शृङ्गार की सब परिस्थितियाँ नहीं मिलतीं, अतः हमने यहाँ 'मालती-माधव' का अध्ययन करना अधिक उचित समझा है।**

बल पर उसकी रक्षा करता है। इस प्रकार प्रेम का पूर्ण विकास होने पर दोनों का विवाह हो जाता है।

यद्यपि प्रेम के आरम्भ, विकास एवं उत्कर्ष की दृष्टि से मालती-माधव एवं मृच्छकटिक में पर्याप्त साम्य है, पर फिर भी 'मालती-माधव' की अपनी विशेषतायें हैं। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त निर्धनता के कारण पाठक की करुणा का पात्र बनता है जब कि माधव अपने वीर कृत्यों से श्रद्धा का। 'मृच्छकटिक' का प्रतिनायक मूर्खता के करण जगह जगह हास्य का सर्जन करता है, जबकि मालती में अनुरक्त वृद्ध नरेश हमारी घृणा का पात्र बनता हैं। इसी पात्र भेद के कारण 'मृच्छकटिक' में हास्य एवं करुणा तथा 'मालती-माधव' में वीर और वीभत्स का चित्रण अंगी रसों के रूप में हुआ है।

नायक-नायिका की बाह्य प्रेमपूर्ण चेष्टाओं एवं अन्तर्दशाओं के चित्रण की दृष्टि से भवभूति निश्चित ही शूद्रक से आगे है। प्रेमी के दर्शनों के लिये उत्कंठित, आतुर, विह्वल मालती की चंचल दशा, प्रेमी की उपस्थिति में उसकी प्रणय-विभोर बेसुध अवस्था उसके वियोग में बिच्छू दंश सदृश निरन्तर बढ़ती हुई वेदना, धूमरहित अग्नि की भाँति हृदय का भीतर ही भीतर धधकना एवं विषम ज्वर की भाँति अंग-प्रत्यंगों का पीड़ित होना अत्यन्त ही मार्मिक विधि से व्यंजित किया गया है। यह विह्वल दशा सुकुमारी बालाओं की ही नहीं, सिंह का भी सामना कर सकने मे समर्थ शूरवीर नायक माधव की भी हो जाती है। मालती की स्नेहसिक्त दृष्टि के प्रथम वार से ही आहत माधव अपनी दशा बताता हुआ कहता है—"वह लज्जा के कारण अपने नेत्रों को कुछ झुकाती थी, पर दूसरे ही क्षण मुझे देखने की इच्छा से उन्हें फिर घुमा लेती थी, उसके विकसित नेत्र स्नेहपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। उसकी पुतलियों से हृदय का आनन्द टपक रहा था। हाय! उस चितवन ने मेरे अभागे हृदय को चुरा लिया, तोड़ दिया, पी लिया, और इतना ही नहीं—वह निकाल कर अपने साथ भी ले गई।[1]

वस्तुतः यह सारा काव्य ही प्रेमपूर्ण मधुर उक्तियों से परिपूर्ण है। उनसे प्रेमियों के हृदय की कोमलता, भावुकता एवं गंभीरता व्यक्त होती है।

---

१. **अलसवलित मुग्ध स्निग्ध निस्पन्द मन्दै—**
रधिक विकस दन्तर्विस्मयस्मेरतारैः।
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै—
र पहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितं च॥ —मलती-माधव। १।२९

स्थायीभाव के विकास की दृष्टि से भी यह रचना मृच्छकटिक के स्तर की है। कामुकता और विलासिता का 'मृच्छकटिक' और 'मालती माधव'—दोनों में ही अभाव है। विभाव पक्ष के ऐश्वर्यपूर्ण चित्रण की दृष्टि से कालिदास अधिक वैभवशाली हैं, किन्तु हृदयस्थ भावों की व्यंजना एवं प्रेम के उज्ज्वल रूप की दृष्टि से शूद्रक और भवभूति उनसे बहुत आगे है।

(ख) लौकिक संघर्षपूर्ण शृङ्गार

दशकुमार चरित

दशकुमार चरित में राजकुमार राजवाहन और उसके सात साथियों की अत्यन्त सरल एवं रोमांचक यात्राओं का वर्णन है। यद्यपि ये सभी राजकुमार घर से एक साथ विदा हुये थे किन्तु कारणवश रास्ते में सभी एक दूसरे से विछुड़ कर अज्ञात प्रदेशों में पहुँच जाते हैं, जहाँ प्रत्येक का किसी अनुपम सुन्दरी से प्रणय हो जाता है, उसकी प्राप्ति में किसी प्रतिद्वन्द्वी द्वारा भारी बाधा उपस्थित होती है, किन्तु अपने कपट कौशल एवं साहस के बल पर वे अन्त में सफलता प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार ये प्रेम कहानियाँ साहस एवं चातुर्यपूर्ण कृत्यों से ओत-प्रोत हैं।

सौन्दर्य चित्रण—दशकुमार चरित एक गद्य रचना होते हुये भी उसकी शैली काव्यमय है। उसमें शृंगार रस के सभी अवयवों का अत्यन्त विस्तृत रूप में चित्रण हुआ है। शृंगारोद्दीपन के लिये वन, उपवन, वाटिका, निर्जन एकान्त, चान्दनी रात, एवं राजमहलों के ऐसे सुसज्जित वातावरण का चित्रण किया गया है जो मादकता से भरपूर है। नारी सौन्दर्य के अंकन में भी दण्डी ने अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है। सुन्दरियों के अंग-प्रत्यंगों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं का भी उल्लेख कवि ने बड़ी निपुणता से किया है। युवतियों की अनेकानेक मुद्राओं एवं रूप दशाओं का चित्रण रुचिपूर्वक किया गया है। कहीं पूर्णमासी की मध्य निशा में सफेद उज्ज्वल कपड़ों में अस्तव्यस्त दशा में सुषुप्त राजकुमारियों का चित्रण है, कहीं यौवन-विभोर क्रीड़ामग्न चपलबालाओं की उच्छृंखल दशा का निरूपण है, और कहीं लज्जाशील षोड़शियों की कोमल मधुर चेष्टाओं का अंकन है। प्रमदाओं के हाव-भाव का चित्रण तो कई स्थानों पर आवश्यकता से अधिक उत्तेजक बन गया है।

विभाव पक्ष के चित्रणों की दृष्टि से यह रचना जितनी ऐश्वर्यपूर्ण है, आश्रय की प्रेमानुभूतियों की अभिव्यंजना की दृष्टि से उतनी ही मार्मिक भी है।

प्रथम-दर्शन से उत्पन्न औत्सुक्य से लेकर प्रेम के चरम विकास तक की अनन्त दशाओं का वर्णन स्वाभाविकता से किया गया है। अतः इसमे कोई सन्देह नही कि शृंगार के अवयवों की दृष्टि से यह रचना अपने पूर्ववर्ती साहित्य से बहुत आगे है। सौन्दर्य के सूक्ष्म-विश्लेषण एवं अलंकृत-चित्रण की दृष्टि से यह संस्कृत साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात करती है। संभवतः इस युग में चित्रकला एवं मूर्ति कला का पर्याप्त विकास हो चुका था, जिसका प्रभाव काव्य-क्षेत्र पर भी पड़ा।

प्रेम का विकास—प्रेम के उत्कर्ष की दृष्टि से भी दंडी अपने पूर्ववर्ती कवियों से पीछे नहीं है। उनके नायक कामुक नरेश या रसिक गन्धर्व नहीं है—राज्य वंचित, साधन हीन राजकुमार है। वे किसी सुन्दरी के केवल उन्नत यौवन को देख कर ही काम-पीड़ित नही हो जाते अपितु उनका प्रणय किसी चन्द्रानना की अपूर्व सौन्दर्य-छटा, उसकी अर्द्ध-विकसित मधुर मुस्कान, उसकी प्रेम भरी चितवन या उसकी ललित-कला विशारदता के अद्‌भुत गुण के प्रभाव से क्रमशः विकसित होता है। उनके मार्ग की बाधक सपत्नियाँ नही अपितु वे प्रतिद्वन्द्वी नरेश है जिन से संघर्ष करते समय उन्हे अपने प्राणों का भी मोह त्यागना पड़ता है। वस्तुतः इनका प्रेम साहस, त्याग और बलिदान से समन्वित होकर अपने उत्कृष्ट स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

इन प्रेम कहानियों मे वियोग-वेदनाओं का भी चित्रण है, पर वे पूर्व-राग के रूप मे है। जहाँ संयोग के अनन्तर आने वाला वियोग पूर्व दृश्यों की स्मृति से करुणा पूर्ण होता है, वहाँ पूर्वराग एक अपूर्व नवीन सुख की आकांक्षा के कारण उत्साहपूर्ण होता है। यही कारण है कि इन राजकुमारों का वियोग आँसुओं और उच्छ्वासों से शून्य है। फिर भी दण्डी की इन प्रेम कहानियों मे कुछ न्यूनताएँ एवं दोष भी है। उनकी सभी नायिकायें सुन्दर कठपुतलियाँ है, उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नही हो पाया। राजकुमार उनके लिये प्रतिक्षण सक्रिय, प्रयत्नशील एवं संघर्ष-निरत है किन्तु वे पत्थर की मौन मूर्तियों की भाँति चुपचाप सारे दृश्यों को देखती रहती है, उनके सहयोग के लिये वे एक क्षण भी अपनी जगह से नही हिलती। वेश्या पुत्री काम मंजरी अवश्य इनमें एक सजीव पात्र है किन्तु उसे नायिका बनने का सौभाग्य ही प्राप्त नही होता। दूसरे, इनके नायक अपने उद्देश्य-पूर्ति के लिये कहीं ऐसी कुटिलता, एवं निष्ठुरता का परिचय देते है कि जिससे पाठक का हृदय स्तंभित हो जाता है। प्रेम के राज्य में क्रूर दृश्यों की योजना, रस सृष्टि में बाधक सिद्ध होती है। इन साधा-

रण दोषों के होते हुये भी यह रचना संस्कृत के समस्त शृंगारी साहित्य में अपनी एक विशिष्टता रखती है, प्रेम का ऐसा रोमांचक चित्रण अन्यत्र सुलभ नहीं।

(ग) दैवी संघर्ष-पूर्ण शृङ्गार

कादम्बरी

'कादम्बरी' में दो प्रेम कथानकों को गूंथ कर एक साथ उपस्थित किया गया है। पहले की नायिका है—महाश्वेता और दूसरे की कादम्बरी। दोनों के नायक क्रमशः पुंडरीक और चन्द्रापीड़ हैं जो पूर्वानुराग की असह्य वेदना से छटपटाकर प्राण त्याग देते हैं, पर दोनों नायिकायें अपने अपूर्व धैर्य एवं तपस्या के बल पर उनके पुनर्जन्म की प्रतीक्षा करती हुई उन्हें पुनः प्राप्त कर लेती हैं। कादम्बरी के ये प्रेमाख्यान संस्कृत के समस्त प्रेमाख्यानों से विचित्र हैं। पहली बार इनमें प्रेम को जन्म-जन्मान्तर तक चलने वाला आदर्श एवं अलौकिक रूप प्रदान किया गया है। इनमें पूर्व कवियों की प्रवृत्ति के विपरीत संयोग दृश्यों की अपेक्षा वियोग वेदना की अभिव्यक्ति को प्रधानता दी गई है, प्रणय-वेदना से प्राणान्त हो जाने की घटना भी संस्कृत साहित्य मे पहली बार यही मिलती है।

सौन्दर्य चित्रण—बाणभट्ट का यह प्रेम उच्च आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त करता हुआ भी लौकिकता से असंपृक्त नही है। शृङ्गार के भौतिक अवयवों, प्रकृति के उत्तेजक दृश्यों एवं नारी सौन्दर्य के चित्रों की निधि से भी यह भरपूर है। प्रकृति के नयनाभिराम दृश्यों के रंगीन चित्रण एवं पत्रलेखा, मदलेखा, कादम्बरी और महाश्वेता आदि के सौन्दर्य के सजीव अंकन के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसमें कवि की लेखनी चित्रकार की तूलिका को बहुत पीछे छोड़ गई है। जिस अलंकृत शैली का आरम्भ दण्डी ने किया था उसका चरम विकास बाणभट्ट में मिलता है।

पूर्ववर्ती कवियों से बाण के सौन्दर्य चित्रण की पहली विशेषता यह है कि नारी अंगों को विवृत दशा में उपस्थित नहीं करते, वस्त्राभूषणों की चमक-दमक के बीच ही देखना उन्हें पसन्द है। दूसरे, वे उपमेय के साथ-साथ उपमान का भी पूरा व्याख्यान करते चलते हैं। तीसरे, वे सौन्दर्य को निरपेक्ष दृष्टि से नहीं देखते, अपनी अनुभूतियों के योग से वे उसके प्रभाव की भी पूर्ण व्यंजन करते है। चौथे, नारी-अंगों की स्थूल विशेषताओं की अपेक्षा वे उसके सूक्ष्मा

गुणों—हास्य, लावण्य कान्ति, सुकुमारता, निर्मलता आदि के साकार चित्रण में अधिक रुचि लेते हैं। वस्तुतः कवि का ध्यान आलम्बन के मूलरूप की अपेक्षा उसकी अलंकृति और प्रभाव-व्यंजना पर अधिक है।

प्रेम का विकास—अस्तु, सौन्दर्य के चित्रण एवं भावना की कोमलता की दृष्टि से कादम्बरी बेजोड़ है, फिर भी इसके इतिवृत्त की अस्वाभाविकता एवं अविश्वसनीयता रस सृष्टि में बहुत कुछ बाधक सिद्ध होती है। कवि का लक्ष्य भी संभवतः रस-सृष्टि न होकर अपनी कला का चमत्कार दिखाना मात्र है। यदि 'दशकुमार चरित' से इसकी तुलना की जाये तो दोनों में बहुत वैषम्य है। दशकुमार चरित अति यथार्थोन्मुख है जब कि कादम्बरी आवश्यकता से अधिक आदर्शोन्मुख। दण्डी के लिये प्रेम मन का एक विकार मात्र है, जब कि बाण के लिये वह अटूट अलौकिक सम्बन्ध। दण्डी के नायक वीर और संघर्ष-परायण हैं, उनकी नायिकायें स्वर्ण की मौन मूर्तियाँ हैं, इसके विपरीत कादम्बरीकार के नायक मौम के पुतले हैं जो प्रेम की पहली आँच में पिघल कर जीवन से हाथ धो बैठते हैं जबकि उनकी नायिकाएँ दीप-शिखा की भाँति जलती हुई युगों तक मौन प्रतीक्षा करने का सामर्थ्य रखती हैं। दण्डी के प्रेमी-प्रेमिकाओं का मिलन मानवी प्रयत्नों का परिणाम है जबकि बाण का समस्त क्रिया-कलाप दैवी इच्छाओं पर आश्रित है। फिर भी एक बात में दोनों समान हैं—दोनों मे ही प्रिय की प्राप्ति जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है—दोनों ही के पात्र प्रणय के रंगीन स्वप्नों का मूल्य प्राणों से चुकाने को प्रस्तुत हैं। दोनों ही जिस प्रेम लोक का सृजन करते हैं वह वास्तविक दुनियाँ से दूर हैं। वस्तुतः कल्पना प्रधान प्रेमाख्यानों में ये दोनों रचनायें बहुत ऊँचा स्थान रखती हैं।

७. धार्मिकता समन्वित शृङ्गार

(क) भारतीय धर्म-साधना में शृङ्गारिकता का प्रवेश

हमारा प्राचीन साहित्य-वैदिक, पौराणिक, महाकाव्य, रामायण आदि, दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्ष की कहानी से ओत-प्रोत है। एक है दैवी और दूसरी है आसुरी। संभवतः पहले दैवी और आसुरी सभ्यता का संघर्ष भारत से बाहर असीरिया, सुमेर, बेबीलोन आदि प्रदेशों में होता रहा[1]।

---

१. **अति प्राचीन काल में (३०००-६००० ई० पू०) में मध्य और दक्षिण ईराक तथा दक्षिण पश्चिमी ईरान और सुमेरी, एलामी, बाबुली—आसुरी सभ्यता के केन्द्र थे।**
—विश्व साहित्य की रूपरेखा—डा० भगवतशरण उपाध्याय; पृष्ठ ११७

उनके आगे चल कर जब देवों ने असुरों को पराजित करके नगरों पर अधिकार कर लिया तो असुरों के कुछ दल उत्तरी-पश्चिमी भारत में आकर बस गये। यहाँ आकर संभवतः वे द्रविड़ कहलाये। उधर कुछ शताब्दियों के पश्चात् जल-प्लावन के कारण देवों के प्रदेश भी जलमग्न हो गये,[1] अतः उन्हें भी अपना प्रदेश-जो सात नदियों (सप्त-सिन्धु) से घिरा हुआ था, छोड़कर भारत की ओर आना पड़ा। मनु के नेतृत्व में जो दल यहाँ पहुँचा उसी को यहाँ के लोगों ने संभवतः आर्य नाम दिया। द्रविड़ लोगों से जो कि पहले से आकर यहाँ बस गये थे, आर्यों का संघर्ष हुआ और अन्त में द्रविड़ों को दक्षिण भारत की ओर भागना पड़ा।

पौराणिक इतिवृत्त के अध्ययन से स्पष्ट है कि देव विष्णु की पूजा करते थे और असुर शिव की। यह ध्यान रहे प्रारम्भ में विष्णु सूर्य का पर्याय-वाची था।[2] आगे चलकर आर्य और द्रविड़ जातियाँ क्रमशः सूर्य और शिव की पूजा करती रहीं। द्रविड़ों का प्रतापी नरेश-रावण, शिव का ही भक्त था। मोहन जोदडों और हरप्पा की सभ्यता में—जिसे कि विद्वानों ने द्रविड़-सभ्यता के रूप में स्वीकार किया है—शिव-पूजा के पर्याप्त प्रमाण मिले है। इन स्थानों की खुदाई में शिव की मूर्तियाँ और शिव-लिंग प्राप्त हुए हैं। श्री रामकृष्ण भंडारकर ने गहरी अनुसंधान के बाद सिद्ध किया है कि शिव अनार्य देवता थे[3]। जहाँ देवों और आर्यों की धर्मोपासना में सदाचार, संयम, और सूक्ष्म आत्म-तत्त्व की प्रधानता थी वहाँ असुरों और द्रविड़ों के धर्म में दुराचार, भोग और स्थूल शारीरिकता की प्रधानता रही और यही कारण है कि दोनों जातियाँ एक दूसरे के धर्म को घृणा की दृष्टि से देखती हुईं उसे नष्ट करने का प्रयत्न करती रहीं। असुरों के इस भोगवादी दृष्टिकोण का एक प्रमाण यह भी है कि उन्होंने अपने आराध्य की पूजा के लिये उसके लिंग को चुना।

अस्तु, रामायण-काल तक इन दो भिन्न संस्कृतियों और धर्मों का संघर्ष चलता रहा। यद्यपि द्रविड़ हार कर दक्षिण में चले गये थे, फिर भी कभी-कभी जब उनमें रावण जैसा प्रतापी नेता का आविर्भाव हो जाता तो वे आर्यों की

---

१. वह जल-प्रलय सुमेर में ई० पू० ३५०० के लगभग हुआ।
—वही, पृष्ठ ११७

२. व्यापनशील होने से विष्णु सूर्य के क्रियाशील रूप के प्रतिनिधि हैं।
—वैदिक साहित्य संस्कृति—श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ४६७

३. भारत का सांस्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालंकार प्र० सं०, पृष्ठ ८६

नाक में दम करने से भी नहीं चूकते। इस संघर्ष की इति-श्री पुरुषोत्तम रामचन्द्र के हाथों हुई। राजनीतिक दृष्टि से उन्होंने रावण की शक्ति को नष्ट करके तथा धार्मिक दृष्टि से उन्होंने रामेश्वरम् मे शिव की पूजा करके इस विरोध को शान्त किया। बस, यही से आर्य-धर्म में अनार्य-धर्म की विशिष्टताओं का प्रवेश होना आरम्भ हुआ। आगे चलकर महाभारत-युग मे क्षत्री अनार्य कन्याओं से विवाह करने लगे—जैसे कि भीम हिडिम्बी से करता है[1]। फल-स्वरूप अनार्य पत्नियों के द्वारा आर्य घरों में शिव-पूजा की प्रतिष्ठा हो गई[2]। स्कन्द पुराण, लिंग-पुराण, वामन पुराण, कूर्म-पुराण, शिव पुराण और पद्म-पुराण से पता चलता है कि प्रारम्भ में आर्य-पति अपनी पत्नियों की शिव-पूजा का विरोध करते रहे—वे शिव के लिंग को तोड़ देते थे, उसे अपशब्द कहते थे और शाप देते थे[3]—पर आगे चल कर बौद्ध-धर्म की प्रतिस्पर्द्धा मे जब पौराणिक धर्मो के उदय के फल-स्वरूप नये-नये देवताओं की पूजा का प्रचार हुआ तो उसमे शिव को भी आर्य-देवता के रूप मे स्वीकार कर लिया गया।

उधर दक्षिणी भारत में भी शैव-धर्म की उपासना का प्रचार उत्तरोत्तर अधिक होता रहा, जिसके फल-स्वरूप इसके कई संप्रदायों—लाकुल, पाशुपत, शैव, कापालिक, कालमुख, वीर शैव, कौल, लिंगायत आदि—का उदय हुआ।[4] इन सम्प्रदायों में स्थूल दृष्टि से भले ही परस्पर कितना ही भेद क्यों न हो, किन्तु कुछ बातें सब मे समान रूप से मिलती है। इन सभी मे शिव के कुत्सित, विलासी एवं व्यभिचारी रूप की कल्पना की गई है, प्रायः इन सभी मे वैदिक विधि निषेधों का विरोध करते हुए वामाचारों की किसी न किसी रूप मे प्रतिष्ठा की गई है। उधर बौद्ध-धर्म भी भारतीय समाज मे प्रभाव-शून्य तथा विलासिता-ग्रस्त होने लगा तो इसके अन्तर्गत भी कुछ ऐसी शाखाओं का विकास हुआ जो शैवों के मार्ग का अनुकरण करने लगी। पहले एक शाखा महायान के रूप में प्रस्फुटित हुई, जिसने मंत्र और योगाचारों को धर्म मे स्थान दिया। यही शाखा आगे क्रमशः मंत्र-यान, वज्र-यान या सहज-यान मे परिवर्तित हो गई। मंत्र-यान की प्रसिद्ध पुस्तक मंजु श्री-कल्प और वज्र-यान के शास्त्र-ग्रन्थ

---

१. महाभारत। आदि पर्व—अध्याय १५८
२. संस्कृति-संगम, आचार्य क्षिति मोहन सेनः द्वि० सं०, पृष्ठ ६३
३. संस्कृति के चार अध्याय, दिनकर प्र० सं० पृष्ठ ५४
४. भारत का सांस्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालंकार, पृष्ठ १०२-१०५

'गुह्य-समाज तंत्र' में धर्म नाम पर दूषित एवं घृणित आचरणों का प्रतिपादन मिलता है[1] । इस युग की जनता जो कि लोक भावनाओं के विकास के कारण संस्कृत के ज्ञान से शून्य हो चुकी थी बौद्ध और हिन्दू धर्मो की पारस्परिक कलह के कारण दोनों का ही विश्वास खो चुकी थी, जो उच्चवर्ग के सांख्य, योग, अद्वैतादि के सूक्ष्म दर्शन को समझने में असमर्थ थी और जो नये-नये देवताओं—विष्णु, शिव, गणपति, दुर्गा आदि से सम्बन्धित विभिन्न पुराणों को सुन-सुन कर अन्ध-विश्वासों को मानने की अभ्यस्त हो चुकी थी—मंत्रयानियों, बज्रयानियो ओर सहजयानियों के इस धर्म के नये रूप की और—जिसमें धर्म के साथ-साथ शृङ्गार, साधना के साथ-साथ मनोरंजन और मोक्ष के साथ-साथ भोग भी था—आकर्षित होने लगी। इस स्थिति का आभास तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं से भी मिलता है। इसी वर्ग के एक संन्यासी महोदय की गर्वोक्ति है—"कुलटाओं को दीक्षित कर हम धर्म-पत्नी बना लेते हैं—मद्य पीते हैं—मास खाते हैं—हमारा ऐसा धर्म किसे रमणीय प्रतीत नही होता[2]।" आश्चर्य की बात तो यह है कि ये उक्तियाँ राजाओं के दरबार में भी कही जाती है किन्तु वे भी इन पर अंकुश लगाने में असमर्थ थे[3]।

इधर जब जैन और वैष्णव धर्म के उन्नायकों ने जनता को बौद्धों, सिद्धों और शैवो के धर्म के इस नये रूप की ओर आकर्षित होते देखा तो वे चुप कैसे बैठ सकते थे। जैनियों ने श्रावकों के वृतान्त के रूप में ऐसे-ऐसे आख्यानों और चरित काव्यों-की रचना की जो आदि से लेकर अन्त तक नारी के सौन्दर्य और प्रणय की मधुरिमा से परिपूर्ण थे। किन्तु वे बीच-बीच में जैन-धर्म के सिद्धान्तों को गुम्फित करते हुए अन्त मे नायक-नायिका को इसी धर्म मे दीक्षित कर देते है। दूसरी ओर हिन्दू धर्म के संरक्षकों ने महाभागवत

१. संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर प्र० संस्करण, पृष्ठ १९१

२. रंडा चंडा दिक्खिदा धम्मदारा,
मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा,
कोलो धम्मो कस्स णो भादि रम्मो ।

—कर्पूर-मंजरी १।२३

३. कर्पूर मंजरी—प्रथम अंक ।

पुराण[1] के रूप में कृष्ण के उस स्वरूप की अवतारणा की जिसमें भोग, योग और मोक्ष तीनों का समन्वय है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किस प्रकार अनार्य जातियों—असुर, राक्षस, द्रविड़ आदि की धर्म-साधनाओं के प्रभाव से नवीं शताब्दी तक भारत के सभी धर्म-संप्रदायों—शैव, बौद्ध, जैन, हिन्दू आदि में शृङ्गारिकता का प्रवेश हो गया। इनके प्रभाव से भारतीय साहित्य में मुख्यतः तीन धाराओं का विकास हुआ—(१) **व्रजयानी सिद्धों**—सरहपा (७९० ई०), शबरपा (७८०ई०) लुईपा (८३० ई०) विरूपा (८३० ई०) डोम्बिपा (८४० ई०) गुंडरिपा (८४० ई०) कण्हपा ८४० ई०) तिलोपा (९५० ई०) शान्तिपा (१००० ई०) आदि[2] —के द्वारा पद-शैली में रचित काव्य-धारा (२) **जैनमुनियों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों**—समारादित्य कथा (हरिभद्रसूरि—७००-८०० ई०) धूर्ताख्यान (लेखक-वही) कथाकोश(जिनेश्वर-९५१ ई०) तरंगवती(पादलिप्त सूरि) सूर-सुन्दरी (धनेश्वर-१०३८ ई०) भुवन-सुन्दरी (विजय–९१७ ई०) मलय सुन्दरी (लेखक अज्ञात) श्री श्रीपाल कथा (रत्नशेखर सूरि१४वीं) रत्न-शेखर कथा (अज्ञात) यशोधर-चरित (पुष्पदंत—१० वीं सदी) करकंडउ-चरित (कनकामरमुनि १०३५ ई०) भविस्सयत कथा (धनपाल—१० वीं शदी) आदि[3] की काव्य परम्परा। (३) **वैष्णव कवियों**—भागवतकार, क्षेमेन्द्र, जयदेव आदि—द्वारा रचित कृष्ण-चरित सम्बन्धी गीतों की परम्परा। आगे चलकर वज्रयानी सिद्धों की काव्य धारा नाथपंथियों में होती हुई हिन्दी के संत कवियों—कबीर, दादू, मलूकदास आदि के पास पहुँची, जिन्होंने इसके गन्दे पानी के स्थान पर कुछ नया जल मिश्रित करके—लौकिक शृङ्गार के स्थान पर आध्यात्मिक प्रणय की प्रतिष्ठा करके—इसको नई गति प्रदान की। जैन मुनियों के प्रेमाख्यानों की

---

१. भागवत पुराण का रचनाकाल ७वीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक माना जाता है। —स्टडीज इन एपिकस एण्ड पुरानाज : ले० ए० डी० पुसाल्कर, पृष्ठ २१४।

२. सिद्धों का विस्तृत परिचय देखिये—हिन्दी काव्य धारा। —राहुल सांकृत्यायन

३. इन कवियों का विस्तृत परिचय देखिये—प्राकृत और उसका साहित्य डा० हरदेव बाहरी और हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग। —नामवरसिंह

धारा को अवधी भाषा के प्रेमाख्यानक कवियों—ईश्वर दास, मंझन, कुतुबन, जायसी, दुःखहरण दास आदि ने सुरक्षित रक्खा। जिन लोगों को हिन्दी की प्रेमाख्यान परम्परा के इस पूर्व रूप का पता नहीं है, वे अनेक भ्रान्तियों में उलझ गये हैं—जिनका निराकरण आगे प्रसंगानुसार किया जायगा [1]। कथानक की रूढियाँ, प्रेमतत्व के निरूपण, प्रबन्ध-शैली एवं छन्दों की दृष्टि से जैन मुनियों की काव्य परम्परा और हिन्दी की प्रेमाख्यान परम्परा में कितनी एकता है इस पर भी आगे विस्तार से प्रकाश डाला गया है[2]। भागवत की कृष्ण-चरित गान की परम्परा भी जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास में होती हुई हिन्दी के कृष्ण भक्ति काव्यधारा के कवियों—सूरदास, परमानन्द दास, कुंभन दास, नन्ददास आदि के पास पहुँची। वस्तुतः पन्द्रहवीं-सोलहवी शताब्दी में हिन्दी मे धर्म-समन्वित शृङ्गार का जो वटवृक्ष पनपा उसकी मूल जड़ें मध्यकाल की उपर्युक्त तीन धाराओं में निहित हे।

(ख) सिद्ध-साहित्य में शृङ्गार-चित्रण

सामान्य परिचय—बौद्ध धर्म की महायान-शाखा तंत्र-मंत्र व अन्य गुह्य व अनैतिक साधना पद्धतियों को अपनाती हुई ईसा की ८ वीं शदी के अन्त में अत्यन्त विकृत होकर एक नये संप्रदाय के रूप में परिवर्तित हो गई जिसे वज्रयान कहा जाता है। 'वज्र' शब्द की कतिपय विद्वानों ने दार्शनिक व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वास्तव में यह पुरुषेन्द्रिय का प्रतीक मात्र है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक सरहपाद ने कमल-कुलिश साधना का प्रचार करते हुए इसके विषय में जो कुछ लिखा है उससे सिद्ध हो जाता है कि कमल स्त्री के गुप्तांग का व कुलिश पुरुषेन्द्रिय का प्रतीक है[3]। परवर्ती सिद्धों ने भी कमल

---

१. २. देखिये—इसी प्रबन्ध का—"हिन्दी-प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा" शीर्षक अध्याय।

३. कमल कुलिस बे बि मज्झ ठिउ, जो सो सुरंग्र-विलास।
को न रमइ णह निहुग्रण हि, कस्स णपूरइ ग्रास॥
रवण-उबाग्र सुह ग्रहवा, ग्रहवा वेण्णि बि सोवि।
गुरु पपसाएं पुराण जइ, विरला जाणइ कोनि॥
—हि० का० धारा, पष्ठ १४

अर्थात् कमल कुलिश को मध्य में स्थित करके सुरत का जो आनन्द लिया जाता है, त्रिभुवन में कौन उससे वंचित रह सकता है—उस क्षण भर के आनन्द को वे दोनों ही जान सकते हैं, अन्य कोई नहीं।

के लिये 'पद्म' और कुलिश के लिये 'वज्र' जैसे पर्यायवाची शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया है, जिसके फलस्वरूप इसे वज्रयान कहा जाने लगा। इस संप्रदाय के प्रवर्तक सरहपाद का परिचय देते हुए राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि "सरहपाद किसी वक्त नालन्दा के एक बडे प्रतिष्ठित पण्डित थे, मगर जब उन्हें वहाँ का जीवन दमघोटू लगने लगा तो उन्होंने सब कुछ को लात मारा, भिक्षुओं का बाना छोडा, अपनी नही किसी दूसरी छोटी जाति की तरुणी को लेकर खुल्लमखुल्ला सहजयान का रास्ता पकड़ा[1]।" उन्होंने कमल-कुलिश साधना द्वारा क्षणिक आनन्द के द्वारा इस संसार के भय से मुक्ति पाने का संदेश दिया। उनके अनुयायियों ने भी विभिन्न जातियों की स्त्रियों के साथ सहज-साधना करते हुए भोग मे ही निर्वाण प्राप्त करने का यत्न किया, किन्तु साथ ही अशिक्षित जनता पर अपना प्रभाव बनाये रखने के लिये कमल, कुलिश मुद्रा (साधिका), शक्ति (नारी), नगरी (देह) रस (संभोग जनित आनन्द) आदि सांकेतिक शब्दों का प्रयोग करते हुए अपने दुराचारो को साम्प्रदायिक कृत्यों का अंग एवं दार्शनिक मतवाद से सम्बन्धित दिखाने का प्रयत्न किया। डा० धर्मवीर भारती ने अपने प्रबन्ध में[2] इनकी शब्दावलियों की दार्शनिक व्याख्या करते हुए, इनके जीवन में नारी एवं भोग अस्तित्व को गौण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जो इन सिद्धों की जीवनियो से सम्बन्धित विभिन्न साधिकाओं (जिन की अवस्था १२ वर्ष से २० वर्ष की आवश्यक मानी गई है) एवं जीवन चर्याओं के वर्णन से मेल नही खाता।

शृङ्गार चित्रण—वज्रयानी सिद्धों का समय लगभग नवी सदी से बारहवी शदी तक का माना जाता है। इसके साहित्य मे डोम्बी, चांडाली, कपाली, योगिनी, शबरी आदि अनेक जातियों की मुद्राओं के साथ संगम का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन्होंने शृङ्गार के वासनात्मक स्थूल-पक्ष को ही ग्रहण किया। सरहपाद के कमल कुलिश साधना के वर्णन में सुरत के क्षण भर के आनन्द के प्रति गहरी आसक्ति की व्यंजना हुई है। सिद्ध गुंडरिया के योगिनी के प्रति आत्म निवेदन में भी उसकी शारीरिक मिलन की प्रबल लालसा व्यक्त हुई है। वह चाहता है कि योगिनी के तीनों काम-अंगों का मर्दन करते हुए भरपूर आलिंगन ले तथा कमल कुलिश साधना मे पूरी तरह जुट जाय।

---

१. हिन्दी काव्य धारा—भूमिका, पृष्ठ संख्या ४८।
२. 'सिद्ध साहित्य'—ले० धर्मवीर भारती।

कामोन्मत्त साधक के लिए नारी केवल साधिका मात्र ही नही अपितु उसके जीवन की साध्य भी बन जाती है। अतः वह कहता है--"हे योगिनी मैं तेरे बिना एक क्षण भी जीवित नही रह सकता। मैं तेरे मुख का चुम्बन लेकर कमल रस का आनन्द प्राप्त करूँगा[1]।"

उपर्युक्त आलिंगन चुम्बनादि के अतिरिक्त सुरत का भी स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। कण्हपा लिखते हैं--"नारी रूपी शक्ति को भली प्रकार जकड़ कर खाट पर डाल लिया है, अनहद रूपी डमरू से वीर नाद होने लगा, कण्हकपाली क्रिया करने के लिए तत्पर हुआ, वह देह रूपी नगरी में विहार करता हुआ एकाकार हो गया[2]।" यहाँ शक्ति, डमरू, नगरी आदि शब्दों की खीचतान कर दार्शनिक व्याख्या की जा सकती है किन्तु वह विशेष महत्व नही रखती।

शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त सौन्दर्य का वर्णन भी कही २ उपलब्ध होता है। शबरी बाला के सौन्दर्य का आख्यान करता हुआ शबरपा कहता है--'ऊँचे ऊँचे पर्वतों पर शबरी बाला रहती है। वह मयूर पंख धारण करती है, गुंज मालाओ से अपने अंगो को सजाती है[3]।" उनके सौन्दर्य वर्णन मे शारीरिक सौन्दर्य के विश्लेषण का अभाव है, अशिक्षित एवं निम्नवर्गीय जातियों द्वारा पहने जाने वाले हड्डियो आदि के आभूषणों की ही वहाँ अधिक चर्चा है। ये सिद्ध अशिक्षित एव निम्न जातियों मे सम्बन्धित होने के कारण तत्कालीन संस्कृत साहित्य की विकसित सौन्दर्य दृष्टि से वंचित थे।

सिद्धों की इस शृङ्गार लीला मे जहां एक-एक साधक अनेक साधिकाओं से संगम करता था, जहां शारीरिक सुख को ही जीवन का उद्देश्य एवं कमल रस को ही अमृत-तुल्य माना जाता था, प्रेम का विकास होना तो संभव ही

१. **तिअड्डा चापि जोईनि दे अंकवाली।**
कमल कुलिश घोंटि करहु विआली।
जोइनि तइं विनु खनहि न जीवमि।
तो मुह चुम्बि कमल रस पीवमि। --हिन्दी काव्य-धारा, पृष्ठ १४२

२. **नाडि शक्ति दिढ धरिआ खाटे। अन्हा डमरू बजइ विरनाटे॥**
काण्ह कपाली जोई पइठ अचारे। देह न अरि विहरइ एककारे॥
—वही, पृष्ठ १५०

३. **ऊचा-ऊचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।**
मोरंगि पिच्छ परिहिण शबरी गीवत गुंजरी माली॥ —वही, पृष्ठ २०

नही था। हाँ, प्रेमाभास के कुछ उदाहरण अवश्य यत्र-तत्र मिलते हैं। कण्हपा अपनी प्रिय डोम्बी से कुछ अनुराग भरी हुई बातें करते हुए उसे बताता है कि उसने डोम्बी के लिये सभी कुछ त्याग दिया है। अपनी तंत्री, चंग आदि सभी कुछ बेचकर डोम्बी के लिए हड्डियों की माला ले आया है[1]। और अन्त में वह कहता है—"तू डोम्बी है और मै कपाली हूँ।" भला फिर कोई तीसरा उनके प्रणय का बाधक कैसे बन सकता है। पर इस प्रणय निवेदन में भी समागम लालसा की प्रेरणा नही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः सिद्ध साहित्य में सर्वत्र कामुकता का ही स्वर गुंजरित है, और यदि कोरी कामुकता की दृष्टि से भी देखा जाय तो भी सिद्ध साहित्य असफल है क्योंकि यहाँ कामुकता को दार्शनिकता एवं साम्प्रदायिकता से ग्रस्त करके उसे अस्वाभाविक एवं विकृत बना दिया गया, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर ऐसी पद्धतियों का उल्लेख मिलता है जिनमें साधक मैथुन के समय मुद्रा योगिनी को स्खलित करा देता है, किन्तु स्वयं क्षरित नही होता।[2] भोग के लिए दाम्पत्य एवं गार्हस्थ्य ही उपयुक्त क्षेत्र है किन्तु उन्हें ठुकरा कर सिद्ध एक ऐसा क्षेत्र तैयार करना चाहते थे जहाँ वे भोग के साथ-साथ वैरागियों की सी स्वतंत्रता और भक्तों की श्रद्धा भी प्राप्त कर सकें, जिसमे उन्हें क्षणिक सफलता मिली।

साहित्यिक दृष्टि से सिद्धों के शृङ्गार चित्रण का इतना ही महत्व है कि इसमें रचयिताओं ने निजी शृंगार-क्रीड़ाओं एवं प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति की है। कदाचित् वैयक्तिक शृङ्गार के वर्णन का उदाहरण भारतीय साहित्य में ही उपलब्ध होता है। दूसरे, इन सिद्धों ने काम-क्रीड़ाओं का सम्बन्ध धर्म-सम्प्रदाओं से स्थापित करके जन-मानस में भागवत पुराण व अन्य ग्रन्थों की पृष्ठभूमि तैयार की, जिनमें धर्म सुधारक श्री कृष्ण असंख्य गोपियों से क्रीड़ा करते हैं। यदि सिद्धों के द्वारा पृष्ठभूमि तैयार न होती तो कृष्ण के विलासी रूप को जन मानस एकाएक स्वीकार नही कर लेता। तीसरे, शैली की दृष्टि से भी सिद्धों ने सांकेतिक शब्दावली, मुक्तकगीति शैली, निम्नवर्गीय जन-भाषा आदि को साहित्य में स्थान देकर कुछ नई परम्पराओं के विकास में योग दिया।

---

१. तांति विकण अ डोम्बी अवर न चंगेडा। तोहोर अन्तरे छुडि नड़ पेड़ा॥
तूं लो डोम्बी हांउ कपाली। तोहोर अन्तरे मोए घेणिलि हाडेरि माली॥
—वही, पृष्ठ १५०

२. सिद्ध-साहित्य, लेखक—धर्मवीर भारती, प्रथम-संस्करण, पृष्ठ २२१

अस्तु, उपर्युक्त दृष्टिकोणों से सिद्ध-साहित्य का महत्व है, किन्तु प्रेम के विकास की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त हीन कोटि का सिद्ध होता है।

(ग) जैन-साहित्य में शृंगार-चित्रण

जैन कवि भी लगभग सिद्धों के समकालीन थे तथा उनका भी काव्य-रचना का उद्देश्य निज सम्प्रदाय-प्रचार करना था। सिद्धों की भाँति उन्होंने भी लोक-भाषा में काव्य-रचना की किन्तु फिर भी उनका काव्य कई कारणों से सिद्धों के काव्य से बहुत उत्कृष्ट है। पहली बात तो यह है कि जैन कवि उच्च-शिक्षित वर्ग से सम्बन्धित थे, अतः उनके काव्य में संस्कृत-काव्य का पूर्ण वैभव विद्यमान है जिससे सिद्धलोग वंचित थे, दूसरे उनका धर्म-क्षेत्र समाज से अलग नही अतः उनका साहित्य सामान्य जन-जीवन की भावनाओं एवं क्रिया-कलापों से युक्त है। उनका उद्देश्य भोग मे निर्वाण नही था फिर भी उन्होंने उच्चकोटि के शृङ्गार का निरूपण किया है। जैन कवियों में से स्वयंभू, हरिभद्रसूरि, जिनेश्वर पुष्पदन्त, धनेश्वर, धनपाल, कनकामर मुनि, रत्नशेखर सूरि आदि अनेक कवियों ने सुन्दर प्रबन्ध काव्य लिखे जिनमे शृङ्गार रस के सभी तत्व सुसंस्कृत रूप में विद्यमान है।[1]

(ब) नारी सौन्दर्य—यद्यपि जैन कबियों ने अपने उपासना प्रधान जीवन में नारी रूप के प्रति उपेक्षित भाव अपना रखा था, किन्तु वे अपने प्रबन्ध काव्यों को रमणी मनोमुग्धकारी सौन्दर्य छटा से सुसज्जित करने के लोभ करने का संवरण न कर सके। जहाँ भी प्रसंग उपस्थित हुआ है, उन्होंने विभिन्न विभिन्न देशों की सुन्दरियों के अंग-प्रत्यंगों का विस्तृत विवेचन निःसंकोच रूप से किया है। शारीरिक सौन्दर्य का विश्लेषण करते हुए इन्होंने नख-शिख कथन की प्रणाली एवं संस्कृत के उपमानों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है। स्वयंभू ने अपनी रामायण में मन्दोदरी के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए लिखा है—"उसके सहस्रों रोम इस प्रकार दीखते है मानो किसी नवीन पुष्पमाला पर भ्रमर हों, चरणों के नूपुरों से ऐसी ध्वनि निकलती है मानो बन्दीगण मधुर आवाज में गा रहे हैं—अलकों से ढका हुआ मुख ऐसा लगता है

---

१. इन कवियों की रचनाओं का नाम तथा रचनाकाल पीछे दिया जा चुका है।

मानो नये बादलों मे निमग्न चन्द्र हो।"[१] जैन कवियों के सौन्दर्य वर्णन की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि वे पात्र विशेष की अवस्था के अनुसार वर्णन को चंचल या गम्भीर बना देते हैं। कोशा जैसी गणिकाओं के सौन्दर्य-को जहाँ उद्दाम एवं मादक बना दिया गया है वहाँ अशोक वाटिका की सीता की तमोमय मूर्ति के चित्रण में उन्होंने अत्यन्त शालीनता का परिचय दिया है। "यह जिनवर प्रतिमा की भाँति निर्विकार है। मानो कामदेव ने उसका निर्माण स्वयं किया हो। मानो जीवदया की भाँति वह अभयदात्री थी, या नवीन पल्लवों युक्त लता के सदृश थी, या पयोधरों युक्त पावस के सदृश थी, या पृथ्वी की भाँति सहनशील और अविचल थी या राम की निर्मल कीर्ति थी, अथवा त्रिभुवन की एकत्रित श्री थी।"[२] इस चित्र में सीता के सौन्दर्य को सात्विक गुणों से समन्वित करके उसके प्रति पाठक की रसिकता की अपेक्षा श्रद्धा को जागृत करने की चेष्टा की गई है जिससे कवि की निर्मल दृष्टि का परिचय मिलता है।

आलम्बन के साथ-साथ उद्दीपन से युक्त वातावरण का चित्रण भी इनके काव्य में सर्वत्र उपलब्ध होता है। इन्होंने प्रकृति के सभी अंगों देश, नगर सरिता, पर्वत, वन, उपवन एवं षड़ऋतु आदि का वर्णन किया है। फिर भी प्रभावोत्पादन की दृष्टि से इनका विभाव पक्ष का चित्रण अधिक सशक्त नही है। एक तो पूर्ववर्ती संस्कृत कवियों के ही उपमानों एवं वर्णन शैलियों के पिष्टपेषण के कारण और दूसरे इनको दृष्टिकोण मे सौन्दर्य के प्रति आसक्ति नही है जिससे उनके वर्णन मे मौलिकता, प्रफुल्लता एवं उल्लास का अभाव अनुभव होता है।

---

१. दीसई तेण विसहसति बाल। णं भसले अहिणव-कुसुम माल॥
दीसतं चलण-णेडर रसन्त। णं महुर-राव वंदिण पठन्त॥
× × ×
दीसइ णिट्ठलु-सिरु चिहुर-छण्णु। ससि विन्दु व णव-जलहर-णिमण्णु॥
—हि. का. धा., पृष्ठ ५०

२. निर्विकार जिनवर-प्रतिमा इव। रति पतिहि जनु निज गढिया इव॥
अभयकर अच्छ जीवदया इव। अभिनव-कोमल-वर्णलता इव॥
सपयधर पावस शोभा इव। अविचल सर्वसह वसुधा इव॥
निर्मल कीर्ति इव रामहि केरी। त्रिभुवन हूंहि परिस्थिय सेरी॥
—राहुलजी कृत अनुवाद—हिन्दी काव्य धारा, पृष्ठ ६५

प्रेम भावना का विकास—जैन कवियों के प्रणय-चित्रण में उच्छृङ्खलता, अनैतिकता व अन्य समाज-विरोधी तत्वों का समावेश नही है, वह सर्वत्र दाम्पत्य जीवन के रूप में समाज द्वारा मर्यादित पथ पर सहज स्वाभाविक गति से अग्रसर होता है। यद्यपि उसमें मिलन, मान, जल-क्रीड़ा, वन-विहार आदि संयोग कालीन विभिन्न अवसरों का यत्र-तत्र वर्णन मिलता है किन्तु फिर भी कवियों ने ऐसे प्रसंगों को सीमित ही रखने का प्रयत्न किया है तथा वे अश्लील और नग्न दृश्यों से बच कर चले हैं। वियोगानुभूतियों के चित्रण के लिये जीवन की वास्तविक एवं कठोर परिस्थितियों को चुना गया है, अतः उनका वियोग वर्णन करुण रस की आर्द्रता से युक्त है। अस्तु इसमें कोई सन्देह नही कि शृङ्गार की विभिन्न परिस्थितियों के चित्रण में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है, किन्तु स्थायी भाव के पूर्ण उत्कर्ष की दृष्टि से उनमे एक बड़ा भारी दोष है। प्रायः सभी जैन कवि अपने धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर अपने काव्य के उत्तरार्द्ध में अनुराग को क्रमशः विराग में परिवर्तित करते हुए शृङ्गार रस को शान्त रस की भेंट चढ़ा देते है। वे जिस नारी सौन्दर्य और सांसारिक प्रेम को आरम्भ मे सम्मान पूर्वक अपने काव्य मे प्रतिष्ठित करते है उन्हें अन्त में यह कह कर विदा कर देते है कि—'इनमें कुछ नहीं रखा, ये सारहीन हैं।'[1] अस्तु इन कवियों का उद्देश्य

१. क–तरंगवती—अन्त में एक जैनमुनि के उपदेश से जैन धर्म में प्रवेश करते हैं।

—प्राकृत और उसका साहित्य, लेखक बाहरी, पृष्ठ ६१

ख–सुर-सुन्दरी चरितं—अन्त में संसार की असारता पर सुभाषित हैं।

—वही, पृष्ठ ६२

ग–कालकाचार्य कथानक—बाद में वे साधु हो जाते हैं।

—वही, पृष्ठ ६३

घ–मलयसुन्दरी कथा—अन्त में साधु हो जाने का वर्णन है।

—वही, पृष्ठ ६३

ङ–श्रीपाल कथा—रास्ते में एक साधु मुनिचन्द्र ने उन्हें सिद्ध चक्र की नवपद पूजा का उपदेश दिया। —वही, पृष्ठ ६३

च–नाग कुमार-चरित—

अंतः पुर अंतः उर हनई। क्षय-कालह आयउ को करई।
ना कतहुँ मरन दिन ऊबरई। चमरानिल श्वासानिल धरई॥

—अनुवाद–राहुलजी कृत हि० का० धा०, पृष्ठ २३७

प्रेम का विकास दिखाना नही, अपितु सासारिक भोगों की तुच्छता एवं असारता सिद्ध करते हुए जीवन में धर्म और वैराग्य सम्बन्धी प्रवृत्तियों को पनपाना है।

(घ) श्रीमद्भागवत में शृंगार-चित्रण

श्रीभद्भागवत का रचनाकाल विभिन्न विद्वानों ने छठवी शताब्दी से लेकर दसवी शताब्दी तक माना है[1], किन्तु सामान्यतः नवी शताब्दी का मत स्वीकार किया जाता है।[2] शृङ्गार रस का चित्रण प्रस्तुत-ग्रन्थ में मुख्यतः दशम-स्कन्ध में—कृष्ण और गोपियों के प्रेम के रूप में किया गया है कृष्ण और गोपियों का प्रेम कोई ऐतिहासिक घटना है या नही—इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। किन्तु महाभारत के आधार पर इतना अवश्य कहा जा

छ–यशोधर-चरित—

मानुष शरीर दुख पोट्टलऊ। धोयो-धोयो अति विट्टलऊ।
+ + +
वारेऊ हू पाप करै। प्रेरेउ प्रेरेऊ हु न धर्म चरै॥

—अनुवाद—हिन्दी काव्य धारा, पृष्ठ २३५

ज–करकण्ड-चरित—

हा मानव दुःखई स्तब्ध तन, विरस हसंतउ जहं मरै।
मन निर्घृण विषयासक्त मन, सो छाड़िय, को तहंरति करै।

—अनुवाद—वही, पृष्ठ ३४५

झ–नेमीनाथ चरित—

तरल तारुण्य जल इव चपल संपदउ।
इच्छि आकाश मृदुलह पुनि वंचियउ॥
ताप विनश्वर शयन निजय कार्य टठिया।
विषम परिणामउ हि कामिनिउ दुट्टिया॥

—अनुवाद—वही, पृष्ठ ३९३

१. (क) सी० वी० वैद्य—१०वीं शताब्दी—जर्नल आफ दी बाम्बे ब्रांच आफ दी रायल ऐशियाटिक सोसायटी, बम्बई—भाग १
(ख) वी० ए० कृष्णमूर्त्ति—६वीं शताब्दी
(ग) ए० एन० राय—५५०-६५० ई०
(घ) दुर्गाशंकर शास्त्री—नवीं शताब्दी

२. भारत का सांस्कृतिक इतिहास—श्री हरिदत्त वेदालंकार।

सकता है कि कृष्ण का बाल्यकाल गोकुल में बीता था,[1] तथा वे गोपियों को बहुत प्रिय थे।[2] आगे चलकर हरिवंश-पुराण, ब्रह्म-पुराण, विष्णु-पुराण, भागवत-पुराण तथा ब्रह्मवैवर्त-पुराण में क्रमशः कृष्ण के बचपन और युवाकाल की लीलाओं का अधिकाधिक विस्तार मिलता गया। यद्यपि कृष्ण के देवत्व की प्रतिष्ठा[3] और उनके शृङ्गारी रूप का विकास भागवत पुराण से पूर्व हो चुका था—किन्तु उनकी शृङ्गारी लीलाओं को धार्मिक महत्व देते हुए उन्हें साहित्यिक शैली मे चित्रित करने का प्रयास सर्व-प्रथम भागवतकार ने ही किया। कृष्ण की विशेष प्रिय गोपिका—आराधिका के साथ कृष्ण के एकान्त विहार का वर्णन भी सर्व प्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है,[4] परवर्ती संस्कृत और हिन्दी के कवियों ने इसी आराधिका या राधिका (आगे चलकर राधा) के चरित्र का विकास नायिका के रूप में किया है।

प्रेम का उदय—भागवत में प्रेमियों के कई भेद करते हुए कृष्ण को एक ऐसे प्रेमी के रूप मे विचित्र किया गया है जो स्वयं निर्लिप्त है किन्तु प्रेमिकाओं के अनुरोध से उनके प्रेम को स्वीकार करते है।[5] अतः गोपियों की प्रार्थना से प्रभावित होकर ही वे उनके साथ प्रणय, भोग-विलास एवं रास-क्रीड़ा स्वीकार करते है।[6] यही नही—वे प्रथम वार गोपियों से संसर्ग

---

१. महाभारत में स्थान-स्थान पर (२।३३।११, २।२६।२, २।४१।४, २।६८।४१, ३।१४।१०, ६।२३।७, १२।४७।१०८) उनके गोकुलवास का उल्लेख मिलता है। सभा पर्व में शिशुपाल उन्हें गोप शब्द से सम्बोधित करता है।

२. सभापर्व में द्रोपदी चीर-हरण के समय उन्हें गोपी-जन-वल्लभ नाम से पुकारती है।

३. भारत में कृष्ण की पूजा का आरम्भ ईसवी सन् के आरम्भ से पूर्व हो चुका था—ए न्यू हिस्ट्री आफ इण्डिया, ईश्वरी प्रसाद —पृष्ठ ६७

४. श्री मद्भागवत-पुराण अनुवाद सहित —गीता प्रेस गोरखपुर, दशमस्कन्ध अध्याय ३०, श्लोक २६-३५

५. श्री मद्भागवत—हिन्दी टीका सहित —गीता प्रेस गोरखपुर १०।३२।१७-२०

६. अमना होने पर भी उन्होंने अपने प्रेमियों की इच्छा पूर्ण करने के लिये रमन स्वीकार किया। —वही १०।२९।१

करने से पूर्व उन्हें स्पष्ट शब्दों में समझाते भी हैं कि उन्हें अपने-अपने पति की सेवा करनी चाहिए। "कुलीन स्त्रियों के लिये जार पुरुष की सेवा सब तरह से निन्दनीय है। इससे उनका परलोक बिगड़ता है, स्वर्ग नही मिलता, इस लोक में अपयश होता है। यह कुकर्म स्वयं तो अत्यन्त तुच्छ, क्षणिक है ही। मोक्ष आदि की कौन कहे यह साक्षात् नरक का हेतु है।"[१] किन्तु जब अन्त में गोपियों ने व्याकुलता भरी वाणी से अपनी विवशता प्रकट की तो करुणा से प्रेरित होकर वे रास-क्रीड़ा में प्रवृत हुए[२]। आगे चलकर आराधिका में अवश्य उनकी विशेष अनुरक्ति का परिचय मिलता है क्योंकि इसे सब गोपियों से अलग ले जाते हैं, थक जाने पर उसे कन्धे पर बिठा लेते हैं, उचक-उचक कर उसके लिये फूल तोड़ते है और भागवतकार के शब्दों में "कामी पुरुष के समान उसके केश सँवारते है और उसकी चोटी में फूल गूँथते है।"[3] किन्तु फिर भी कृष्ण का कथन है कि यह सब कुछ उन्होंने शेष गोपियों के गर्व का शमन करने के लिये ही किया था।

गोपियों का प्रेम विशुद्ध सौन्दर्य लालसा से प्रेरित है। कृष्ण जब उन के इस सम्बन्ध को मर्यादा-विरुद्ध घोषित करते है तो वे अपनी सौन्दर्य लोलुपता जन्य विवशता को स्वीकार करती हुई कहती है—"प्रियतम ! तुम्हारा सुन्दर मुख-कमल, जिस पर घुँघराली अलकें झलक रही हैं, तुम्हारे ये कमनीय कपोल जिन पर सुन्दर-सुन्दर कुण्डल अपना अनन्त सौन्दर्य बिखेर रहे हैं, तुम्हारे ये अधर जिनकी सुधा सुधा को भी लजाने वाली है, तुम्हारी यह नयन मनोहारी चितवन जो मन्द मन्द मुस्कान से उल्लसित हो रही है—और तुम्हारा यह वक्ष-स्थल जो लक्ष्मीजी का—सौन्दर्य की एक मात्र देवी का नित्य क्रीड़ा स्थल है, देखकर हम सब तुम्हारी दासी हो गई हैं। प्यारे श्याम सुन्दर ! तीनों लोकों में भी और ऐसी कौन सी स्त्री है जो मधुर मधुर पद और आरोह अवरोह-क्रम से युक्त तुम्हारी वंशी की तान सुनकर तथा त्रिलोक सुन्दर मोहिनी मूर्ति को जो

---

१. —वही १०।२९।२३-२६

२. **जब उन्होंने गोपियों की व्यथा और व्याकुलता से भरी वाणी सुनी तब उनका हृदय दया से भर गया और यद्यपि वे अपने आप में मस्त हैं, किन्तु फिर भी उन्होंने हँसकर उनके साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की।**

—वही, १०।३०।४२

३. **—वही १०।३०।३४**

अपने एक बूँद सौन्दर्य से त्रिलोकी को सौन्दर्य का दान करती है—अपने नेत्रों से निहार कर आर्य-मर्यादा से विचलित न हो जाय कुल-कान और लोक लज्जा को त्याग कर तुम में अनुरक्त न हो जाय"।[1] अस्तु यहाँ स्वयं गोपिकाएँ भी स्वीकार करती हैं कि उनका यह कृत्य आर्य-मर्यादा के अनुकूल नहीं है—किन्तु वे सौन्दर्य के आगे विवश हैं।

गोपियों की प्रणयानुभूतियों की व्यंजना में भागवतकार ने एक सच्चे कवि हृदय का परिचय दिया है। प्रणय-जन्य विह्वलता, आकुलता, विकलता, विवशता एवं छटपटाहट का वर्णन उसने शत-शत भावपूर्ण पंक्तियों में किया है—"प्राण बल्लभ ! प्यारे सखा ! तुम्हारी मन्द-मन्द मधुर मुसकान प्रेम भरी चितवन और मनोहर संगीत ने हमारे हृदय में तुम्हारे प्रेम और मिलन की आग धधका दी है। उसे तुम अपने अधरों की रसधारा से बुझा दो। नही तो प्रियतम ! सच कहती हैं, तुम्हारी विरह-व्यथा की आग से हम अपने अपने शरीर जला देंगी[2]—।" साहित्य शास्त्रकारों द्वारा निरूपित शृंगार रस के सभी संचारियों के सरस उदाहरण भागवत में ढूँढे जा सकते हैं। यहाँ एक निर्वेद का उदाहरण दृष्टव्य है—"मनमोहन ! जब तुम्हारा चित्त घर के काम धंधों में लगता था। परन्तु तुमने हमारे देखते-देखते हमारा वह चित्त लूट लिया। तुम्हें तो कोई कठिनाई नही उठानी पड़ी, तुम तो सुखी हो न ! परन्तु अब हमारी क्या हालत हो गई है, इसे तुम क्या जानो ! हम तुम्हारे चरण-कमलों को छोड़ कर एक पैर भी हटने के लिये तैयार नहीं—भला हम ब्रज में कैसे जायें और यदि जायें भी तो वहाँ क्या करें।[3] उपर्युक्त उक्तियाँ सरल और स्वाभाविक होने के साथ-साथ प्रणय, उपालम्भ एवं व्यंग्य से भी ओत-प्रोत हैं।

वियोग-वर्णन—प्रणय भावना के पूर्ण विकास के लिये अहं, स्वार्थ और गर्व का विगलन् होना परमावश्यक है—इस मनोवैज्ञानिक सत्य से भागवतकार भली भाँति परिचित है। अतः वे प्रारम्भिक मिलन के अनन्तर विरह का आयोजन करते हुए कृष्ण को थोड़ी देर के लिये अदृश्य कर देते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है कृष्ण आराधिका के साथ अन्यत्र चले जाते है। इस परिस्थिति में गोपियों का हृदय विरह-वेदना के कोमल भावों से अभिभूत हो

---

१. वही--१०।२९।३९-४०
२. वही—१०।२९।३५
३. वही—१०।२९।३४ : १५

जाता है। कभी वे विरहाग्नि की ज्वाला में जलती हुई दैन्यतापूर्ण शब्दों मे याचना करती है, कभी शोक-संतप्त होकर उन्मादिनी की भाँति वेसुध प्रलाप करने लगती है, तो कभी प्रियतम की निष्ठुरता का बखान करती हुई उपालम्भ भरे शब्दों में उसका तिरस्कार करने लगती है—"प्यारे। एक दिन वह था, जब तुम्हारी प्रेम भरी हसी और चितवन तथा तुम्हारी विभिन्न क्रीड़ाओं का ध्यान करके आनन्द-मग्न हो जाया करती थी। उसके बाद तुम मिले ! एकान्त में हृदय-स्पर्शी ठिठोलियाँ की, प्रेम की बातें कहीं ! हमारे कपटी मित्र ! अब वे सब बातें याद आती है तो हमारा मन दुःखी हो जाता है। कपटी ! इस प्रकार रात्रि में आई हुई प्रेमिकाओं को तुम्हारे सिवा और कौन छोड़ कर जा सकता है।[1]

वस्तुतः दशम-स्कंध का तीसवें और इकतीसवें अध्याय का एक-एक शब्द गोपियों के हृदय की विरहानुभूतियों से इस प्रकार अनुप्राणित है, कि उन्हें पढ़ते हुए पाठक तल्लीन हो जाता है—वह भावनाओं के ऐसे ज्वार मे, काव्यानुभूतियों के एक ऐसे वेग में प्रवाहित हो जाता है जिस में उसे यह ध्यान भी नही रहता कि क्या नीति है और क्या अनीति, क्या धर्म है और क्या अधर्म !

भावना का चरमोत्कर्ष—यद्यपि भागवत् की प्रणय-गाथा गोपियों के एकांकी प्रेम एवं उसकी शोकान्त परिणति से समन्वित है किन्तु फिर भी इसमे प्रणय की सभी भाव दशाओं का विकास स्वाभाविक रूप से मिलता है। यह ठीक है कि कृष्ण का प्रेम उनसे सच्चा नहीं है—मथुरा मे जाकर वे उनसे सदा के लिये वियुक्त हो जाते है, किन्तु इससे गोपियों का प्रेम मंद या शिथिल नही हुआ। उनका प्रणय आदर्श की उस सीमा तक पहुँच जाता है जहाँ इस बात की चिन्ता नही की जाती कि प्रेमी उन्हे चाहता है या नही। भागवत्कार के शब्दों मे प्रेम के बदले मे जो प्रेम किया जाता है, वह तो प्रेम नही हुआ—लेन-देन का व्यापार हुआ।[2] गोपियाँ स्वयं जानती है कि कृष्ण मथुरा मे जाकर वहाँ की युवतियों में रम जायेंगे तथा उन्हें सदा के लिये भूल जायेंगे[3]। किन्तु इससे क्या हुआ, उनका प्रेम ज्यों का त्यों रहता है। इसका प्रमाण आगे उद्धव-प्रसंग में मिलता है जहाँ गोपियाँ कृष्ण को उत्तेजनापूर्ण शब्दों में उपालम्भ देती हैं किन्तु फिर भी उनके हृदय का प्रेम-प्रवाह किंचित् भी मंद या शिथिल दृष्टि-

---

१. वही—१०।३१।१०, और १०।३१।१६
२. वही—१०।३२।१७
३. वही—१०।३९।२४।

गोचर नहीं होता। एक ओर जहाँ वे कठोरतम शब्दों में व्यंग्य करती हुई कहती हैं—"चाहे स्त्री के हृदय में कितना भी अनुराग क्यों न हो जार पुरुष अपना काम बना लेने के बाद उलट कर भी तो नहीं देखता[1]।" वहाँ वे अपनी अन्य उक्तियों मे अपने हृदय के अगाध प्रेम का परिचय देती हैं—"उद्धव ! साधो ! यह तो बतलाइये कि जब कभी नगर नारियों की मण्डली में कोई बात चलती है और हमारे प्यारे स्वच्छन्द रूप से बिना किसी संकोच से जब प्रेम की बातें करने लगते हैं तब क्या कभी प्रसंगवश हम गंवार ग्वालिनों की भी याद करते हैं।[2]....यहाँ का एक-एक प्रदेश, धूलि का एक-एक कण उनके परम सुन्दर चरण कमलों से चिह्नित है—उद्धव जो ! हम उन्हें किसी भी प्रकार—मर कर भी नही भूल सकतीं।....हाय ! उन्होंने हमारा चित्त चुरा लिया है ! हमारा मन हमारे वश में नही, हम उन्हे भूलें तो किस तरह !"[3] और अन्त में उनका एक प्रश्न है—'हमारे प्रियतम के प्यारे दूत—मधुकर ! हमें यह तो बतलाओ कि आर्य पुत्र श्रीकृष्ण गुरुकुल से लौटकर मधुपुरी में अब सुख से तो है न ?.... क्या वे अपनी अगर के समान दिव्य सुगन्धि से युक्त भुजा हमारे सिर पर रखेंगे ? क्या हमारे जीवन मे कभी ऐसा शुभ अवसर भी आयेगा ?"[4]

गोपियों के पवित्र हृदय से उच्छ्वसित उपर्युक्त शब्द स्वतः ही उनके गूढ़ प्रणय की गंभीर परिणति का परिचय देते है। उनका रसिकता से प्रेरित प्रेम अन्त मे भावना के उस चरम विकास को प्राप्त कर लेता है—जिस की सिद्धों और जैन कवियों के साहित्य में कल्पना भी नही की जा सकती। जहाँ सिद्ध-साहित्य में प्रेम केवल कामुकता तक सीमित रह जाता है, जैन साहित्य में वह निर्वेद में परिणत हो जाता है— भागवतकार ने उसे स्वच्छ, मधुर एवं उच्चतम रूप प्रदान किया है। यह खेद का विषय है कि परवर्ती संस्कृत और हिन्दी के अनेक कवियों ने भागवत की प्रारम्भिक संयोग-कालीन पंकिल भूमि को ही अपने काव्य का आधार बनाते हुए कृष्ण की कामुकता का ही चित्रण किया—आगे चलकर गोपियों के वेदनापूर्ण शब्दों मे रस का जो सागर लहरा रहा है—वहाँ तक ये कवि नही पहुँचे। श्याम की माधुरी का रस-पान करने

---

१. वही—१०।४७।८
२. वही—१०।४७।४२
३. वही—१०।४७।५०-५१
४. वही—१०।४७।२१

वाला कवि सूरदास अवश्य इसका अपवाद है। परवर्ती कवियों ने दूसरा परिवर्तन यह किया कि भागवत के निर्लिप्त कृष्ण को युवतियों के पीछे-पीछे भटकने वाले एक कामुक लम्पट का रूप दे दिया। वस्तुतः परवर्ती साहित्यकारों ने भागवत के स्नेह-पूर्ण दीपक से प्रणय के विशुद्ध प्रकाश के स्थान पर उसकी कामुकता के कज्जल को ही अधिक ग्रहण किया। किन्तु फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि भागवतकार का प्रणय-चित्रण स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता, काव्यात्मकता एवं सरसता की दृष्टि से अपूर्व है—बेजोड़ है।

८. रूढ़िबद्ध मिश्रित शृङ्गार

बाह्य परिस्थितियाँ

रूढ़िबद्ध मिश्रित शृंगार का विकास सबसे पूर्व हमें जयदेव के 'गीत गोविन्द' में मिलता है। जिसकी रचना ईसा की १२ वी शती के आरम्भ में हुई। इस युग तक भारतीय समाज के उच्च वर्ग की स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। राजनीति के क्षेत्र में हिन्दी-साम्राज्य के स्थान पर विदेशी आक्रान्ताओं का शासन फैलता जा रहा था, धर्म के क्षेत्र मे सांख्य, योग एवं अद्वैत की सूक्ष्म दार्शनिकता के स्थान पर भागवत धर्म की सरल भक्ति पद्धति का विकास हो रहा था, तथा साहित्य के क्षेत्र मे भरत, दण्डी, भामह, कुन्तक, वामन आदि के द्वारा शास्त्रीय रूढ़ियों का पर्याप्त विकास हो चुका था। भाषा के क्षेत्र मे संस्कृत का स्थान लोक भाषायें—प्राकृत, अपभ्रंश आदि ले चुकी थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि अब संस्कृत-काव्य से सम्बन्ध रखने वाले उच्चवर्ग के जीवन का प्रत्येक क्षेत्र नवीनता, प्रफुल्लता एवं उल्लास के स्थान पर रूढ़िबद्धता, उदासीनता एवं निराशा से ग्रस्त हो रहा था, जयदेव का गीत-गोविन्द उच्चवर्ग की इस स्थिति का द्योतक है।

गीत-गोविन्द की रचना एक आत्म-विश्वास से ओत प्रोत, अनुभूतियों से अनुप्राणित संस्कृत कवि के सहज स्वाभाविक उद्गार के रूप में नहीं हुई, अपितु उसका संगठन विभिन्न क्षेत्रों से उधार ली हुई सामग्री के आधार पर प्रयत्नपूर्वक हुआ है। वे भागवत से कथानक, साहित्य-शास्त्र से नायिका-भेद, काम-शास्त्र से रति-कला के विभिन्न अंगों का ज्ञान, संगीत-शास्त्र से राग-रागिनियाँ, एवं अपभ्रंश काव्य से गीति शैली ग्रहण करते हैं। जयदेव एक ओर अपने काव्य के आरम्भ में दशावतारों की स्तुति करते हुए और हरि-स्मरण का उद्देश्य प्रकट

करते हुए अपने काव्य की नग्न कामुकता पर धार्मिकता का आवरण डालते है,[१] किन्तु साथ ही वे यह भी चाहते है कि विलास-कला का ज्ञान चाहने वाले भी उनके काव्य में प्रवृत्त हों।[२] वे अपने काव्य को मुक्तक शैली की विशेषताओं से समन्वित करते हुए भी चाहते हैं कि यह प्रबन्ध-काव्य—कदाचित् महाकाव्य—की कोटि मे गिना जाय, अतः उसे शिथिल एवं प्राण विहीन कथानक में अनुस्यूत करते हुए इस ९४ श्लोकों की रचना को द्वादश सर्गों में विभाजित करते हैं। वस्तुतः जब किसी भी जाति, भाषा या साहित्य के उन्नायकों की मौलिक प्रतिभा के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तो ह्रासोन्मुख गौरव को बचाने के लिये ऐसे ही आडम्बर किये जाते है—अस्तु अस्तकालीन संस्कृत साहित्य के अंतिम कवियों में ऐसी प्रवृतियों का मिलना स्वाभाविक है।

रूढ़ि बद्धता—जयदेव ने अपने प्रेमाख्यान का संगठन इस प्रकार किया है कि जिससे काव्य-शास्त्रियों द्वारा निरूपति नायक-नायिका के सभी भेदों का समाहार उनके काव्य में हो जाय। अतः वे बीच-बीच मे "कलहान्तरितामुवाच"[३] "विलपति रोदति वासक-सज्जा[४]" जैसे उल्लेखों द्वारा अपनी लक्षण-पूर्ति की सफलता का बोध पाठक को करा देते है। अस्तु 'गीत गोविन्द' का कथानक क्या है—प्रोषित पतिका,[५] वासक-सज्जा[६] विप्रलब्ध[७] उत्कंठिता,[८] खंडिता,[९] कलहान्तरिता[१०], अभिसारिका[११] और स्वाधीन पतिका[१२] राधा के इन आठों रूपों का क्रमबद्ध वर्णन है। केवल नायिका-भेद में ही नहीं संभोग, मान और विरह के विभिन्न भेदों के निरूपण में भी कवि का लक्ष्य भावनाओं से सहज स्वाभाविक निरूपण की अपेक्षा शास्त्रीय लक्षण की पूर्ति करना अधिक रहा है।

शृंगार-निरूपण—गीत गोविन्द मे कृष्ण और गोपियों का काम-क्रीड़ाओ का चित्रण अत्यन्त स्थूल रूप मे मिलता है। रास लीला के समय का एक दृश्य दृष्टव्य है:—

१. यदि हरि स्मरणे सरसं मनो—गीत गोविन्द—६
२. यदि विलासकलासु कुतूहलम्—वही।
३. गीत गोविन्द, श्लोक ५७
४. श्लोक ३२
५. वही श्लोक १२
६. वही श्लोक ३२
७. वही श्लोक ३५
८. वही श्लोक ४०
९. वही श्लोक ४४
१०. वही ५७
११. वही ६२
१२. वही ७१

श्लिष्यति कामपि, चुम्बति कामपि,
रमयति कामपि रामाम् ।
पश्यति सस्मित चारुपराम—
—परामनुगच्छति वामाम् ।।

अर्थात् किसी का आलिंगन करते है, किसी का चुम्बन ले रहे हैं और किसी के साथ रमण कर रहे है। एक से मुस्करा कर नेत्र मिला रहे हैं तो दूसरी के पीछे-पीछे जा रहे हैं।[1]

कृष्ण की कामुक प्रवृत्ति का परिचय आगे विभिन्न भावदशाओं के चित्रण में भी उपलब्ध होता है। वियोग-वेला में भी उनका हृदय काम क्रीड़ाओं के चिन्तन में लीन रहता है—"हाय ! उसे कब अंक में लेकर बैठूंगा, कब उसके साथ एक शैय्या पर सोऊंगा, कब वह आनन्द—प्राप्त करूँगा। उसकी सुधाभरी बातें, तीखे नैनों का आघात, कमल की सी सुवास कब प्राप्त होगी ?"[2] वस्तुतः कृष्ण की विरह-वेदना में भावना के उद्वेग की अपेक्षा वासना का चंचल वेग ही अधिक स्पष्टता से व्यक्त हुआ है।

राधा के पुनरामन पर उससे कृष्ण जिन शब्दों में प्रणय-निवेदन करते हैं वह भी उनके हृदय की वास्तविक प्रकृति का परिचायक है—"मेरे जरा समीप आओ, तुम्हारे चरणों का मर्दन करके रास्ते की सारी थकावट दूर कर दूँ। और देखो—यह तुम्हारा दुकूल हम दोनों के हृदय में अन्तर डाल रहा है, इसे उतार दो। मेरे हृदय में काम की ज्वाला धधक रही है, अपने कुच-कलशों को उड़ेल कर उसे बुझा दो। मृत-तुल्य हो रहा हूँ, अपने अधरों का अमृत पिला कर इस दास को जीवन दान दे दो।[3]

---

१. गीत-गोविन्द, ६।
२. वही श्लोक—१७।
३. कर कमलेन करोमि चरण महामागमितासि विदूरम्।
क्षण मुपकुरु श्यनो परमामिव नूपुरमनुगति शूरम्।।
+ + +
विरहमिवापनयामि पयोधररोधकमुरसि दुकूलम्।।
+ + +
मदुरसि कुचकलशं विनिवेशय शोषय मनसिज तापम्।
अधर सुधारसमुपनय भामिनि जीवय मृतमिव वासम्।
—गीत गोविन्द, गीत ७६

काम-वासना का यह प्रज्वलित रूप कृष्ण में ही नहीं, गोपियों में भी मिलता है। उनका सारा प्रणय काम-क्रीड़ा के उद्देश्य को लेकर ही आगे बढ़ता है। वह अन्त तक गंभीरता से शून्य रहता है। अन्यत्र रमण करके लौटने पर कृष्ण का स्वागत करती हुई जयदेव की राधा जिन शब्दों का प्रयोग करती है वे पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कवियो की प्रणय-विभोर राधा के व्यक्तित्व की कोमलता और उसकी प्रकृति की गंभीरता से मेल नहीं खाते :—

जाहु माधव ! जाहु केशव ! कपट वचन जिन भाखौ।
जिन तन ताप हरयो हरि तुम्हरो, ताही को रस चाखौ॥

\+ + + +

श्याम करण तन बाहर लौं, अति मलिन लख्यौ मन तेरो।
कपट वचन क्यौ कहत, असम शर ज्वर दाहत तन मेरौ[1]।

(हिन्दी अनुवाद)

उपर्युक्त शब्दों में धीरता, गंभीरता एवं शिष्टता का अभाव है। राधा को कृष्ण के प्रणय-विमुख होने का उतना दुःख नही है जितना किसी अन्य से संसर्ग करने का। आत्म-समर्पण की भावना का विकास भी उसमें नही मिलता। इस प्रकार जयदेव के नायक-नायिका वासना की पंकिल भूमि से ऊँचे नहीं उठ पाते। सुरत, सुरतान्त, विपरीत रति के चित्रण में कवि से काम-कला सम्बन्धी व्यापक ज्ञान का तो अनुभव मिलता है किन्तु भावनाओं के विकास के लिये जिन सूक्ष्म अनुभूतियों की आवश्यकता होती है उनसे जयदेव वंचित दिखाई पड़ते हैं।

वास्तव में जयदेव का महत्व शृंगार वर्णन के एक नये रूप, एक नई पद्धति का आविष्कार करने की दृष्टि से ही अधिक है, भावना के विकास की दृष्टि से नही। साहित्य-शास्त्र की रूढ़ियों से आबद्ध एवं काम शास्त्र, एवं सङ्गीत शास्त्र के विभिन्न तत्वों से समन्वित—उनका यह रूढ़िबद्ध मिश्रित शृंगार परवर्ती कवियों को इतना लोक प्रिय हुआ कि लगभग ६–७ शताब्दियों तक वे इसका अनुकरण करते रहे। एक ओर विद्यापति, चण्डीदास एवं सूरदास तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने संगीत-शास्त्र की राग-रागनियों से युक्त गति शैली में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया तो दूसरी ओर हिन्दी के रीति बद्ध शृंगारी कवियों ने जिन की संख्या शताधिक है–उनकी अनेक

१. गीत गोविन्द—रायचन्द्र नागर कृत—हिन्दी अनुवाद सहित पृष्ठ ६०।

प्रवृत्तियों का—काव्य-शास्त्र की रूढ़ियों—नायक-नायिका भेद, हाव-भाव आदि—के अन्तर्गत शृंगार-वर्णन की प्रणाली, शृंगारिकता पर धार्मिकता के आवरण के लिये राधा-कृष्ण को नायिका नायक के रूप में चित्रित करना, काम-शास्त्र के ज्ञान का समन्वय करना, छन्दों को अपने नाम की छाप से अंकित करना, कोमल कान्त शब्दावली का प्रयोग आदि का विकास अपने काव्य में किया। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि परवर्ती साहित्य को प्रभावित करने की दृष्टि से जयदेव का संस्कृत के शृंगारी कवियों में बहुत ऊँचा स्थान है।

तृतीय खण्ड

हिन्दी काव्य में शृङ्गार-परम्परा

सामान्य-परिचय

हिन्दी भाषा और साहित्य का आविर्भाव—हिन्दी-साहित्य के प्रमुख इतिहासकारों [1] ने हिन्दी भाषा और साहित्य का आविर्भाव काल सम्वत् १०५० वि० से मानते हुए इसे चार कालों में—वीर गाथा काल (१०५०–१३७५ वि०), भक्तिकाल (१३७५–१७०० वि०) रीतिकाल (१७००–१९०० वि०) एवं आधुनिक काल (१९००–से अब तक)—विभाजित किया है। किन्तु हमें यह विभाजन निम्नांकित कारणों से उचित प्रतीत नहीं होता :—

(क) हिन्दी की जिन रचनाओं के आधार पर हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल निश्चित किया गया था तथा वीर गाथा काल की सत्ता प्रमाणित की गई थी—उनमें से पृथ्वीराज रासो को छोड़कर शेष सभी या तो अस्तित्त्व-हीन अथवा अप्रामाणिक या तेरहवीं शताब्दी के बाद में रचित सिद्ध हो गई हैं। पृथ्वीराज-रासो की प्रामाणिकता में विश्वास रखने वाले विद्वानों में से अधिकांश उसे मूलतः अपभ्रंश में रचित मानते हैं।[2] ऐसी स्थिति में विक्रम की तेरहवीं शताब्दी तक रचित एक भी प्रामाणिक रचना हिन्दी में नहीं मिलती। स्वयं रामचन्द्र शुक्ल ने स्वीकार किया है—"दूसरी बात इस आदि काल के सम्बन्ध में ध्यान देने की यह है कि इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ तो असंदिग्ध हैं और कुछ संदिग्ध। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास हिन्दी है।"[3] यहाँ ध्यान रहे कि शुक्ल

---

१. श्रीरामचन्द्र शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास), श्री रामकुमार वर्मा (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास), श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी (हिन्दी साहित्य), श्री श्यामसुन्दरदास (हिन्दी साहित्य)

२. श्री डा० दशरथशर्मा ने रासो के लघुतम रूप को ही प्रमाणिक मानते हुए उसे मूलतः अपभ्रंश में रचित सिद्ध किया है। देखिये—वीर-काव्य—उदयनारायण तिवारी—पृ० १५४-१५५

३. हि० सा० इ० पांचवां संस्करण, पृ० ४

जी ने अपभ्रंश और हिन्दी को एक ही मान लिया है जो उचित नही। यदि अपभ्रंश को हिन्दी से भिन्न माना जाय तो शुक्लजी के मत से भी इस काल में हिन्दी की कोई असंदिग्ध सामग्री नही मिलती।

(ख) अपभ्रंश-साहित्य के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि १०५० से सम्वत् १३०० तक भारतीय-साहित्य के क्षेत्र में अपभ्रंश-भाषा का एक छत्र राज्य था। इस युग में लगभग ४० कवियों द्वारा रचित शताधिक रचनाएँ अपभ्रंश में उपलब्ध होती हैं[1] जबकि हिन्दी में रचित एक भी प्रामाणिक रचना नही मिलती। अपभ्रंश काव्य की परम्परा आगे भी पन्द्रहवी शताब्दी तक चलती रही—विद्यापति की कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका प्रमाण-स्वरूप देखी जा सकती है।

(ग) भाषाओं के विकास की दृष्टि से भी हिन्दी भाषा का विकास तेरहवी-चौदहवी शताब्दी सिद्ध होता है। अपभ्रंश से निकलने वाली अन्य भाषाओं—बंगाली, पंजाबी, गुजराती, मैथिली आदि का विकास भी चौदहवी शताब्दी में माना जाता है; अतः यह संभव नही कि केवल हिन्दी का विकास इनसे चार-सौ वर्ष पूर्व हो जाता। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के निम्नांकित विचार द्रष्टव्य है—

१—श्री सुनीति कुमार चटर्जी—"यह मालूम नही पड़ता कि यह 'हिन्दी' ठीक-ठीक कौन सी बोली थी, परन्तु बहुत संभव है कि यह ब्रजभाखा या पश्चकालीन हिन्दुस्तानी के सदृश न होकर १२ वी शती में प्रचलित सर्व-साधारण की साहित्यिक अपभ्रंश ही रही हो, क्योंकि १३ वीं–१४ वीं शती ई० तक हमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी का दर्शन नहीं होता।"[2]

२—श्री राहुल सांकृत्यायन—"हम जब पुराने कवियों की भाषा को हिन्दी कहते है तो इस पर मराठी, उड़िया, बंगला, आसामी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषा-भाषियों को हिन्दी भाषा-भाषियों को आपत्ति हो सकती है। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है जितना हिन्दी भाषा-

---

१. इन रचनाओं का पूरा विवरण देखिये—(१) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, ले० नामवरसिंह (२) हिन्दी काव्य-धारा—राहुल सांकृत्यायन।

२. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—सुनीतिकुमार चटर्जी, प्रथम-संस्करण, पृ० ५--१९०

भाषियों को। वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषायें बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती हैं।[1]

३—श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी—"हेमचन्द्राचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है।.....दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द्र ने ग्राम्य कहा है। वस्तुतः यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई।"[2] द्विवेदीजी ने यहाँ 'आगे चलकर' का काल-परिमाण नही दिया, किन्तु इसका तात्पर्य कम से कम एक शताब्दी भी समझें तो हिन्दी का विकास हेमचन्द्र (११७७ वि०) के सौ वर्ष बाद अर्थात् सं० १२७७ वि० के लगभग सिद्ध होता है।

४—श्री नामवर सिंह—"यह देश-भेद धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि तेरहवी शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी-अपनी बोलियों का स्वतन्त्र रूप प्रकट कर दिया।"[3] "एक ओर साहित्यिक अपभ्रंश के रूप धीरे-धीरे अप्रचलित होते गये और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओं के नये रूप प्रचलन में आते रहे। क्रमशः रूपों के ह्रास और नवीन रूपों के विकास की प्रक्रिया से ही आधुनिक भाषाओं का उदय हुआ।.... फिर भी यह बात विचारणीय है कि चौदहवी शताब्दी के आस-पास इन प्रादेशिक बोलियों का संगठन भाषा के रूप मे क्यो कर हुआ।"[4]

यद्यपि हमारे पास यहाँ विस्तृत विवेचन के लिये स्थान नही है किन्तु संक्षेप में कह सकते है कि हिन्दी भाषा का उदय लगभग विक्रम की १३वी शताब्दी में ही होना संभव है। यह भी ध्यान देने की बात है कि कोई भाषा उदय होते ही साहित्य में स्थान प्राप्त नही कर लेती। प्रारम्भ में उसका प्रयोग लोक-साहित्य में होता है तथा फिर विद्वानों के साहित्य में। यदि हम यह मान लें कि हिन्दी का थोड़ा-बहुत प्रारम्भिक लोक-साहित्य नष्ट हो गया होगा तो भी हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल अनुमानतः १३०० वि० से पूर्व नहीं माना जा सकता।

---

१. हिन्दी काव्य-धारा—राहुल सांकृत्यायन, प्रथम संस्करण, भूमिका, पृष्ठ—११-१२

२. हिन्दी-साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र० सं०, पृ० १७

३. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—द्वितीय संस्करण, पृ० ५४

४. वही, पृष्ठ ८४

काल-विभाजन—ऐसी स्थिति में जब कि हिन्दी भाषा और साहित्य का उदय ही १३ वी शताब्दी में होना सिद्ध होता है तो सम्वत् १०५० से १३७५ तक को हिन्दी साहित्य का "आदि काल, वीर गाथा काल या चारण-काल" कहना तर्क-संगत प्रतीत नही होता। हिन्दी साहित्य में तथाकथित 'आदिकाल' का कोई अस्तित्त्व नही है, यह प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने नवम्बर १९५४ में–'साहित्य-सन्देश' में प्रकाशित लेख [१] द्वारा विभिन्न प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है। अस्तु, हम हिन्दी साहित्य का आरम्भ लगभग सम्वत् १३०० वि० से मानते हुए इसे तीन कालों में विभक्त करना उचित समझते हैं—(१) प्रारम्भिक काल (भक्तिकाल); १३००–१६५० वि०। (२) मध्य काल (रीति काल); १६५०–१९०० वि०। (३) आधुनिक काल; १९०० वि० से अब तक। वीर गाथा काल की तथाकथित रचनाओं का अध्ययन भक्तिकाल की एक अन्तर्धारा के रूप में होना चाहिए जैसे कि रीतिकाल के अन्तर्गत भूषण जैसे वीर रस के कवियों की रचनाओं का होता है। रीतिकाल का आरम्भ हमने वि० १७०० के स्थान पर १६५० वि० क्यों माना, इस पर भी आगे प्रकाश डाला गया है।

उपर्युक्त कालों के नामकरण में भी संशोधन की आवश्यकता है, किन्तु इस सम्बन्धी विवेचन में उलझना यहाँ अपेक्षित नही है।

---

१. इस लेख को यहाँ उद्धृत किया गया है, देखिये परिशिष्ट (क)

हिन्दी साहित्य का प्रारंभिक युग (१३०० वि० १६५० वि०)

बाह्य परिस्थितियाँ—भारतवर्ष का उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश सदा से विदेशी जातियों के लिए प्रवेश-द्वार रहा है। द्राविड़, आर्य, यवन, शक, हूण, आदि अनेक जातियाँ एक के बाद एक—पूर्व प्रतिष्ठित जातियों के वैभव को रौंदती हुई इसमें से प्रविष्ठ होती रही हैं। ईसा की छठवीं-सातवीं शताब्दी में जबकि भारत की साम्राज्य शक्ति छोटे-छोटे प्रदेशों में विभक्त होकर विशृङ्खलित हो रही थी, दक्षिण-पश्चिम एशिया में इस्लाम के प्रचार के साथ-साथ मुस्लिम साम्राज्य शक्ति का अभ्युदय हो रहा था। इन मुस्लिम शासकों में से कुछ की ललचाई आँख भारत पर भी पड़ी। फलस्वरूप मुहम्मद बिन कासिम (आक्रमण ७१२ ई.) मुहम्मद गजनवी (आक्रमण–१०००-१०२६ ई०), मुहम्मद गौरी (आक्रमण–११७५-११९४ ई०) आदि ने अपने द्वारा भारत की छिन्न-भिन्न शक्ति को नष्ट कर दिया और उत्तरी भारत पर गुलाम वंश (१२०६-१२९० ई०), खिलजी वंश (१२९०-१३२० ई०), तुगलक वंश (१३२०-१४१२ ई०), सैयद और लोदीवंश (१४१६-१५२६ ई०) तथा मुगल वंश (हुमायूँ, अकबर–१५५६-१६०५ ई०) का शासन प्रतिष्ठित हो गया।[1] मुस्लिम शासकों के शासन के कारण साहित्य पर सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि साहित्य राज्याश्रय से वंचित हो गया तथा लोक-भाषाओं के साहित्य को महत्व मिलने लगा। मुस्लिम शासकों के दरबार में या तो फारसी का मान था, या फिर तत्कालीन लोक भाषा के उस रूप का जिसे शासकगण समझ सकते थे।

धर्म के क्षेत्र में, जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है नवीं शताब्दी तक भारत के सभी सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में शृङ्गारिकता का प्रवेश हो गया था। किन्तु मुस्लिम शासकों के द्वारा इस्लाम के प्रचार के कारण भारत

---

१. ए न्यू हिस्ट्री आफ् इन्डिया—डा० ईश्वरी प्रसाद के आधार पर।

के विभिन्न सम्प्रदायों पर दोहरा प्रभाव पडा—एक तो ये सम्प्रदाय पारस्परिक मत-भेद को भूलकर एक दूसरे के प्रति सहिष्णु हो गये ; दूसरे ये अपनी साधना-पद्धतियों को और अधिक विकसित, एवं परिष्कृत रूप देने का प्रयत्न करने लगे जिससे लोगों का ध्यान इस्लाम की ओर आकर्षित न हो। अस्तु, वज्रयानी सिद्धों की ही परम्परा में गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ जिन्होंने भोग के स्थान पर योग ; शारीरिक मिलन के स्थान पर आध्यात्मिक मिलन की प्रतिष्ठा करते हुए नाथ-पन्थ का विकास किया। उधर जैन मुनियों ने भी इस युग में प्रेमाख्यानों के साथ-साथ वीर-काव्य लिखने आरम्भ किये। वैष्णव धर्म के उन्नायकों ने भागवत की गोपी-कृष्ण-लीला को ठोस दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया—जिसके फलस्वरुप द्वैत (मध्वाचार्य—११९७-१२७६ ई०), द्वैताद्वैत (निम्बकाचार्य—१३वी शदी), शुद्धाद्वैत (बल्लभाचार्य—१६वी शदी) आदि का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदायों के उच्च-वर्ग ने भी इस्लाम के प्रचारकों की भाँति अपने धर्म के द्वार सभी वर्गों और जातियों के लोगों के लिये खोल दिये। रामानन्द जैसे उपदेशकों ने विभिन्न जाति के शिष्यो को राम-भक्ति का उपदेश दिया। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में सिद्धों की शृङ्गार-लीला का विकास सन्तों की रहस्य-साधना के रूप में ; जैनियो के प्रेमाख्यानों एवं वीर काव्यों का विकास अवधी भाषा के प्रेमाख्यानों एवं राजस्थानी के रासो-काव्यों के रूप में तथा भागवत की परम्परा का कृष्ण-भक्त कवियों के लीला-गान के रूप में हुआ।

भारत के सामाजिक, पारिवारिक एवं दाम्पत्य-जीवन के माधुर्य का ह्रास बहुत कुछ तो नारी की हीन दशा एवं परकीय-प्रेम आदि के विकास के कारण दसवी शताब्दी से पूर्व ही हो चुका था। किन्तु फिर भी दसवी शताब्दी तक उच्च-वर्ग के परिवारों में नारी की स्थिति बहुत कुछ ठीक थी—इन्दुलेखा, मारूला, मोरिका, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, पद्मश्री, मदालसा जैसी कवयित्रियाँ, लीलावती जैसी गणितज्ञा, अवन्ति सुन्दरी जैसी कला मर्मज्ञा इस युग मे हुई थीं ;[1] किन्तु मुसलमानों के आगमन के बाद तो सभी वर्गों में भारतीय नारी की दशा शोचनीय हो गई। संस्कृत भाषा और साहित्य की शिक्षा के केन्द्रों के नष्ट हो जाने के कारण तथा दूसरे शासकों द्वारा इनका सम्मान न होने के कारण एक

---

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, ले० श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।
—पृष्ठ ५२

तो उस युग में पुरुष वर्ग भी उच्च-शिक्षा से वंचित होने लगा ; अतः स्त्रियों में अशिक्षा का प्रचार होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर पर्दा-प्रथा के विकास के कारण नारी एक दीर्घकाल के लिये घर की चार-दीवारी में आवृद्ध हो गई। अस्तु, अब वह "ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी" की उक्ति के अनुसार पूर्णतः शूद्रों की श्रेणी में आ गई। इसके अतिरिक्त शासक वर्ग की बहु-विवाह प्रथा, एवं भोग-विलास का प्रभाव भी भारतीय नारी के लिये प्रतिकूल सिद्ध हुआ।

विदेशी आक्रमणों के कारण भारत की आर्थिक दशा को भी ठेस पहुँचना स्वाभाविक था। मुस्लिम शासक भी अपनी भोग-विलासिता के लिये जनता से अधिक से अधिक धन प्राप्त करना चाहते थे। जो लोग शासक वर्ग से सम्बन्धित थे उन्हें पैसा पानी की भाँति बहाने के लिये मिलता था। समाज का शिल्पी वर्ग जो सुलतानों और उनकी बेगमों व अमीरों के लिये बहुमूल्य वस्त्र और अन्य ऐश्वर्य की सामग्री तैयार करता था आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। किन्तु साधारण जनता आक्रमणों, दुर्भिक्षों, नये-नये करों, सरकारी पदाधिकारियों की घूँसखोरी[१] के कारण दिन प्रतिदिन निर्धन और असहाय होती जा रही थी।

इस युग का समाज मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त दृष्टिगोचर होता है। पहला शासक वर्ग से सम्बन्धित उच्च लोगों का समाज जो भोग-विलास में आकण्ठ-मग्न था ; दूसरा निम्न वर्ग के लोगों का समाज जो दीन-हीन अशिक्षित गौरव-प्रतिष्ठा से शून्य था। इस वर्ग का दाम्पत्य जीवन एक रूढ़ि में बँधे हुए उत्साहहीन जीवन के रूप में व्यतीत होता था। अस्तु, प्रेम का उत्कृष्ट उच्च-वर्ग अति उच्छृङ्खलता के कारण तथा निम्न-वर्ग मे रूढ़िबद्धता के कारण—दोनों ही क्षेत्रों मे अविकसित रहा।

प्रमुख काव्य परम्परायें—इस काल (१३००-१६५० वि०) की प्रमुख साहित्यिक परम्परायें निम्न लिखित हैं—

१—मैथिली गीति-परम्परा।

२—प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा।

३—संत-काव्य परम्परा।

---

१. **घूँसखोरी का वर्णन जायसी ने पदमावत में किया है। गोरा बादल अलाउद्दीन के पहरेदारों को घूँस देते हैं।**

४—राजस्थानी काव्य-परम्परा ।

५—कृष्ण भक्ति काव्य-परम्परा ।

६—राम काव्य-परम्परा ।

उपर्युक्त परम्पराओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) जिनमें शृङ्गार रस की प्रधानता है। (२) जिनमें शृङ्गार रस का चित्रण गौण रूप में हुआ। इनमें से प्रथम वर्ग में परम्परा संख्या १, ३, ५ आती हैं तथा शेष द्वितीय वर्ग में आती हैं। आगे प्रथम वर्ग की परम्पराओं को प्राथमिकता देते हुए इन परम्पराओं का विस्तृत रूप में अध्ययन किया जायगा।

मैथिली गीति-परम्परा

(क) विशेष परिस्थितियाँ

मैथिली-गीति-परम्परा के कवियों को प्रभावित करने के अतिरिक्त मिथिला की विशेष परिस्थितियों का भी कम महत्व नहीं है। भारतवर्ष का यह भूभाग सदा से धार्मिक एवं साहित्यिक क्रान्तियों का केन्द्र रहा ; आगे चलकर छः प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदायों में से चार का—न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और सांख्य का विकास यहीं हुआ। भारत में मुस्लिम-साम्राज्य की प्रतिष्ठा के बाद भी यहाँ के नरेशों नान्यदेव, हरिसिंहदेव, शिविसिंहदेव आदि के आश्रम में भाषा, साहित्य और कलाओं की बहुत उन्नति हुई।

जिस प्रकार संस्कृत और प्राकृत को छोड़कर सबसे पहले अपभ्रंश को साहित्य में स्थान देने का श्रेय यहाँ के सिद्ध कवियों को है; उसी प्रकार आगे चलकर अपभ्रंश के स्थान पर लोक-भाषाओं का प्रयोग करने का श्रेय भी यहाँ के कवियों को है। सन् १३२४ ई० में यहाँ के संस्कृत विद्वान ज्योतिर्श्वर ने 'वर्णःरत्नाकर' पुस्तक लोकभाषा में लिखी।[1] विद्यापति ने तो लोक भाषा को अपनाने के साथ-साथ उसका महत्व भी स्पष्ट शब्दों में घोषित किया—'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' (देशी बोली सबको मीठी लगती है।

गीति-शैली का आरम्भ भी सबसे पूर्व मैथिली प्रदेश के सिद्ध-कवियों के चर्या-गीतों में मिलता है। आगे चलकर मिथिला के नरेशों ने संगीत कला और विभिन्न राग-रागनियों की उन्नति की—स्वयं नरेश नाण्यदेव (१०९७–

---

१. ए हिस्ट्री आफ् मैथिली लिटरेचर, ले० जयकान्त मिश्र, भाग एक, पृष्ठ १२१।

११३३ ई०) ने विभिन्न राग रागनियों पर एक ग्रन्थ 'सरस्वती हृदयालंकार हार' लिखा था। परवर्ती नरेश—हरिसिंहदेव, कीर्तिसिंह एवं शिवसिंहदेव भी संगीत के प्रेमी थे। उधर जयदेव भी अपने काव्य मे संगीत कला का उपयोग कर चुके थे। मैथिली गीति-परम्परा के प्रवर्त्तक कवि विद्यापति को चुके थे। मैथिली गीति-परम्परा के प्रवर्त्तक कवि विद्यापति को भी संगीत कला का पर्याप्त ज्ञान और अभ्यास था।

विद्यापति का वैयक्तिक जीवन भी आनन्द और उल्लास से परिपूर्ण रहा। उसके पिता गणपति ठाकुर राजमन्त्री थे, तथा स्वयं विद्यापति को भी राजा कीर्तिसिंह, भावसिंह, और शिवसिंह जैसे उदार नरेशों तथा लक्ष्मीसिंह देवी जैसी कला-मर्मज्ञ रानियों का आश्रय प्राप्त हुआ—फलस्वरूप उनकी काव्य-प्रतिभा को विकास का समुचित अवसर मिला। वैयक्तिक जीवन की निश्चिन्तता, आश्रयदाता वर्ग की रसिकता, जयदेव के नायक-नायिका (राधा-कृष्ण), सिद्धों की गीति शैली, संगीतकारों की कला एवं ज्योतिश्वर द्वारा प्रयुक्त लोक-भाषा—इन विभिन्न तत्त्वों का समन्वय करते हुए विद्यापति ने उस गीति-परम्परा का विकास किया जो १९ वी शताब्दी तक भारतीय जन-जीवन को अपनी मधुरता, सरसता, एवं भाव-प्रवणता से उल्लसित करती रही।

(ख) परम्परा का विकास

प्रवर्त्तक कौन ?—यद्यपि विद्यापति ने संस्कृत और अपभ्रंश में विभिन्न विषयों पर कई रचनाओं का प्रणयन किया, किन्तु हिन्दी-काव्य और शृंगार-रस के अनुशीलन कर्त्ता के लिये उनकी पदावली का ही महत्व है। वैसे भी उनकी पदावली इतनी लोक-प्रिय हुई कि उनके अनेक समकालीन एवं परवर्ती कवियों ने उनका अनुसरण किया, जिनका विवरण आगे दिया जायगा। विद्यापति से बहुत पूर्व जयदेव भी संस्कृत में 'गीत-गोविन्द' की रचना कर चुके थे। जो विषय, रस और शैली की दृष्टि से विद्यापति के पदों से साम्य रखता है। अतः यह विचारणीय है कि इस काव्य-परम्परा का प्रवर्त्तक जयदेव को मानें या विद्यापति को ?

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि विद्यापति पर जयदेव का ऋण है किन्तु फिर भी विद्यापति को जयदेव का अनुकर्त्ता मात्र मान लेना अनुचित होगा। विद्यापति के काव्य में कुछ ऐसी मौलिक विशेषतायें मिलती हैं जिनका जयदेव में अभाव है। विद्यापति का काव्य सर्वथा मुक्तक है, एक गीत दूसरे गीत से

कोई सम्बन्ध नहीं रखता, किन्तु जयदेव ने अपने 'गीत-गोविन्द' की कथा को सूक्ष्म-सूत्रों में पिरोकर उसे प्रबन्धात्मकता का रूप दिया है। यही नहीं, उसे द्वादश सर्गों में भी विभाजित किया है जिससे वह महाकाव्य की संज्ञा धारण कर सके। दूसरे, जयदेव के नायक-नायिका सर्वथा कृष्ण और राधा है तथा उनके प्रसंग का आधार भागवत है जबकि विद्यापति का समस्त वर्णन भागवत-निरपेक्ष है। विद्यापति ने अनेक पदों में राधा-कृष्ण के नाम का उल्लेख भी नही किया है तथा उनमें ऐसी परिस्थितियों का वर्णन किया है जिनका कृष्ण के जीवन से कोई सम्बन्ध नही है, अतः उनके नायक-नायिका को हम स्वतन्त्र प्रेमी और प्रेमिका के रूप मे ले सकते है। तीसरे, जयदेव का सारा काव्य—जैसा कि उनका अध्ययन करते समय पीछे बताया गया है, काव्य-शास्त्र की रूढ़ियों से आबद्ध है, पर विद्यापति उनसे मुक्त है। चौथे, जयदेव की भाषा संस्कृत है, उनसे काव्य मे प्राचीन कवियों की उक्तियों का पिष्टपेषण होने के कारण वह शुष्क और म्लान-सा प्रतीत होता है, जबकि विद्यापति ने उस नव-किशोरी देशी भाषा को अपनाया जो नवीनता, माधुर्य एवं उल्लास से भरपूर थी। इसके अतिरिक्त विद्यापति और जयदेव के बीच दो शताब्दियों का अन्तर है, यदि जयदेव ही इस परम्परा के प्रवर्त्तक होते तो विद्यापति से पूर्व और भी अनेक कवि उनका अनुकरण कर चुके होते, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विद्यापति पर जयदेव का कुछ ऋण अवश्य है, किन्तु 'मैथिली-गीति-परम्परा' के प्रवर्त्तक का श्रेय बहुत कुछ विद्यापति को ही है।

परम्परा का विकास—विद्यापति की पदावली इतनी लोक-प्रिय हुई कि उससे एक दीर्घ काव्य-परम्परा का ही सूत्र-पात हो गया, जो उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक चलती रही। इस परम्परा के कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि उनका विवरण दिया जाना यहाँ संभव नही। अतः हम यहाँ कुछ कवियों का नामोल्लेख मात्र ही करते है[1]—

(क) विद्यापति के समकालीन (१४००–१५२७ ई० तक) १–अमृतसर २–चन्द्रकला ३–हरपति ४–मानुकवि ५–गजसिंह ६–भिखारी मित्र ७–रुद्रधार ८–दशावधान ठाकुर ९–विष्णु पुरी १०–यशोधर ११–कवि शेखर १२–राज पंडित १३–चतुर चतुर्भुज १४–मधुसूदन १५–जीवन नाथ १६–लक्ष्मी नारायण

१. पूरे विवरण के लिये देखिये—ए हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर भाग १ —ले० जयकान्त मिश्र

१७–गंगाधर १८–लखिमि नाथ १९–श्याम सुन्दर २०–कमसनारायण २१–गोबिन्द २२–काशीनाथ २३–रामनाथ २४–श्रीधर।

(ख) विद्यापति के परवर्ती (१५२७–१७०० ई०) १–हरिदास, २–महेश ठाकुर, ३–भागीरथ कवि, ४–महीनाथ ठाकुर, ५–लोचन।

(ग) उत्तर मध्य युग के कवि (१७०० ई०–१९०० ई०) १–कवि शेखर मंजन, २–बुद्धिलाल, ३–रामेश्वर, ४–लालकवि, ५–रमापति उपाध्याय, ६–केशव, ७–मोदनारायण, ८–हरिनाथ, ९–माधवी १०–श्रीपति, ११–महीपति, १२–चक्रपाणि, १३–मनबोधा, १४–नन्दपति, १५–कर्ण जयानन्द, १६–कुलपति, १७–कृष्ण कवि, १८–करण श्याम, १९–हर्षनाथ।

इन कवियों ने विद्यापति का अनुकरण करते हुए मुक्तक गीति शैली में प्रेम का सुन्दर चित्रण किया है। भाषा की दृष्टि से भी इनका विद्यापति से गहरा साम्य है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है :—

१—नायिका का सौन्दर्य वर्णन—

जमुना तीर कदम तर हे, एक अचरज देखी।
तड़ित जलद जनु अबतरु है, एक रूप विसेखी।
+ + +
अनुपम लोचन खंजन हे, बाकहू हरि हेरी।
बदन बसन अभिनत कै हे, मुसुकलि एक बेरी।
काम-कला गुन आगरि हे, बेसल मुख फेरी।
रंक समान फिरथि हरि हे, जनि रतनक ढेरी।
थिर नहि रहत मुगुध मन हे, जीबन जग साले।
आलिंगन रस पसरल हे, पुलकित बन माले॥

—मोदनारायण, पृष्ठ ४१४

२—प्रिय समागम करके लौटने वाली नायिका का वर्णन—

अभिरानी है कपट करह का लागी
कौन पुरुष गुने लुबुध तोहर मन, रयनि गमओलह जागी।
कारने कओने अधर भेल धूसर पुनु कओने आरत देला।
दूधक परसें पवार धवल भेल, अरुन मजीठ भए गेला॥
+ + +
दस अवधान भन पुरुव पेम गुनि प्रथम समागम मेला।
आलमसाह प्रभुभाविनि भजि रहु, कमलिनि भमर भुलला॥

—दसवधान, पृष्ठ २०८

३—राधा के अभिसार का वर्णन—

माधव तुम अभिसारक लागि।
दुरतर पन्थगमन धनि साधय मन्दिर यामिनि जागि।
कर युग नयन मूँदि चलु भाविनि तिमिर पयानक आशे।
कर ककण पन कलि सुख बन्धक शिखय पुजुग गुरु पाशे।
गुरुजन वचन बधिर सम मानय आनय सुनय कह आन।
परिजन वचन मुगुधि सम हासय गोविन्द दास परमान॥

—वही, पृष्ठ २३८

४—राधा का विलाप—

आँचर मुख शशि गोय। बेर-बेर लोचन रोय॥
कारण बिनु क्षण हास। उतपत दीह निशास॥
सुनु-सुनु सुन्दर श्याम। प्रेमक इहि परिनाम॥

—गोविन्ददास—वही, पृष्ठ २३९

आश्चर्य की बात है कि विद्यापति के इन अनुकर्त्ताओं पर हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों का ध्यान नही गया। विद्यापति के काव्य से इनके इस गहरे साम्य को देखते हुए या तो हमे इन्हें भी हिन्दी-काव्य के व्यापक प्रांगण में स्थान देना होगा, अन्यथा विद्यापति से वंचित होना पड़ेगा।

परम्परा का प्रभाव—विद्यापति की इस काव्य-परम्परा का प्रभाव मिथिला तक ही सीमित नही रहा। उस समय मिथिला विद्या का केन्द्र होने के कारण बङ्गाल, उड़ीसा आदि अन्य प्रान्तों के विद्यार्थी यहाँ विद्याध्ययन करने के लिये आते थे जिससे उनके द्वारा इन गीतों का प्रचार उनके प्रान्तों में भी हो गया। बङ्गाल के प्रसिद्ध कवि चण्डीदास ने विद्यापति की ही पद शैली का अनुकरण करते हुए कृष्ण-कीर्तन-काव्य लिखा। इसके अन्तर चैतन्य देव के द्वारा विद्यापति के पदों का प्रचार बङ्गाल में ही नहीं समस्त उतरी भारत में हो गया। चैतन्य देव के प्रभाव से बंगाल और उड़ीसा में जिस नवीन 'ब्रजबोली' काव्य की परम्परा का उदय हुआ तथा वल्लभाचार्य के प्रभाव से सूरदास आदि कवियों के द्वारा जिस ब्रज-भाषा काव्य का निर्माण हुआ, वह विद्यापति की ही परम्परा का नया संस्करण था। विद्यापति एवं उसकी परम्परा के अन्य कवि राज्याश्रयी थे, तथा इन्होंने विशुद्ध प्रेम की प्रेरणा से काव्य की रचना की जबकि वैष्णव कवियों की इस नई परम्परा का पोषण धर्माश्रय से हो रहा था, तथा

उनकी प्रेरणा का मूल भाव भक्ति था। पर यह अन्तर भी सिद्धान्त में ही था, अन्यथा वैष्णव कवियों के काव्य आलम्बन वही विद्यापति के राधा कृष्ण थे, उनका रस भी वही शृङ्गार था, उनके प्रेम-चित्रण ने उतनी ही लौकिकता व स्थूलता है जितनी विद्यापति मे है, और गीति-शैली भी विद्यापति के अनुरूप है, अतः यथार्थ में उनमें बहुत कम अन्तर है।

परम्परा का ह्रास—यद्यपि वैष्णव भक्ति के आन्दोलन का प्रभाव मिथिला के कवियों पर भी पड़ा जिससे अनेक कवि भक्ति समन्वित पदों की रचना करने लगे, पर इसका विद्यापति की परम्परा पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा। मिथिला के राज्याश्रित कवि विद्यापति के ही चरण- चिन्हों पर चलते हुए स्वतन्त्र प्रेम के चित्रण में तल्लीन रहे। अतः उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक यह परम्परा चलती रही। इस परम्परा के अन्तिम कवियों मे हर्ष नाथ का महत्वपूर्ण स्थान है, जो कि महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह के काव्य-काल (१८७८-१८९८) मे हुए थे। विषय, भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से उनका विद्यापति से कितना गहरा साम्य था, यह देखने के लिये उनका यह पद देखिये—

करिअ न हृदय कठोर!
अवगुन परिहरि परसनि भय धनि,
मानिनि पूरिअ अभिमत मोर।
सरस बसन्त निहारि जगत भरि,
परिहरि प्रियजन दोष।
नागर नागरि रमय रहनि भरि,
तेहि धनि तेजह न रोष॥

—वही, पृष्ठ ५३४

(ग) विद्यापति का शृंगार चित्रण

आलम्बन—विद्यापति की रसिकता ने नारी-सौन्दर्य के चित्रण में अधिक रुचि दिखाई है। संस्कृत और अपभ्रन्श के कवियों की भाँति विद्यापति ने भी प्रायः नख-शिख-वर्णन की प्रणाली को अपनया है किन्तु कुछ निजी विशेषताओं के साथ वे सौन्दर्य का वर्णन करने से पूर्व कुछ ऐसा विस्मय, कुछ ऐसा उल्लास व्यक्त करते है जिसमे श्रोता का ध्यान एकाएक उनके वर्ण्य विषय की ओर आकृष्ट हो जाता है। "नव-जोवन अभिरामा" (क्या सुन्दर नव-यौवन

है !) "माधव की कहब सुन्दरि रूपे" (माधव, सुन्दरी के रूप का क्या कहना) "सजनी अपरूप पेखल रामा !" (हमने अपूर्व सुन्दरी देखी) एक रूपक-काव्य में जहाँ कथा का तारतम्य नही होता, पाठक की उत्सुकता को जागृत करने के लिये इस प्रकार की उक्तियों से नीति का आरम्भ करना बहुत सफल सिद्ध होता है।

यद्यपि कवि ने नायिका के विभिन्न अंगो का वर्णन करते समय अलंकारों का प्रभूत-मात्रा में प्रयोग किया है, फिर भी कवि का लक्ष्य अपनी अलंकरण-शक्ति का प्रदर्शन करना नही, अपितु उपमेय की विशेषताओं का उद्घाटन कर देना है। दूसरे, ये वस्तु की बाह्य विशेषताओं स्थूलता, दीर्घता या वर्ण का ही चित्रण नही करते उसकी आन्तरिक सूक्ष्म-परिस्थितियों का भी उद्घाटन कर देते है। उदाहरण के लिये नेत्रों का चित्रण देखिये :—

मनुआ नयन नलिन जनि अनुपम बंक निहारइ थोरा।
जनि शृङ्खलि में सगवर बांधल, दीठि नुकाएल मोरा॥

—वि० पृ० ४१

जहाँ पिछली पंक्ति मे नेत्रों की स्थूल विशेषताओ का चित्रण किया गया है, वहाँ दूसरी मे उनकी आन्तरिक चंचलता, व्याकुलता की व्यंजना के लिये जंजीर मे बँधे हुए दो पक्षियो की कल्पना की गई है जो बहुत सार्थक है। वस्तुतः कवि सौन्दर्य-चित्रण मे केवल रूढिगत उपमानों का उल्लेख मात्र नही कर देता अपितु अपनी प्रतिभा और अनुभूति के बल पर अपने चित्रो को सजीव बना देता है।

नायिका की विभिन्न चेष्टाओ एवं मुद्राओं के चित्रण में भी विद्यापति सिद्धहस्त है। बालाओं की वयः-सन्धि, यौवनागम, प्रथम-स्पर्श, प्रिय-समागम आदि विभिन्न अवस्थाओं एवं भावदशाओं के अनेकानेक चित्र उनके काव्य मे उपलब्ध होते है। एकाएक राह मे प्रिय के मिल जाने पर मुग्धा बाला की क्या दशा हो जाती है, इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है :—

आध वदन ससि विहंसि देखा ओलि,
आध पीहलि निअ बाहू।
किछू एक भाग बलाहकं झाँपल,
किछुक गरासल राहू॥

—वि० प० ४१

आगे चलकर पद्माकर[१] एवं जयशंकरप्रसाद[२] ने भी नायिकाओं के अर्द्ध-स्फुटित सौन्दर्य का चित्रण किया है, किन्तु विद्यापति की सी सफलता नही मिल सकी। कारण स्पष्ट है, विद्यापति ने बाह्य सौन्दर्य में नायिका की लज्जा मिश्रित चेष्टाओं के सूक्ष्म सौन्दर्य का भी समन्वय किया है जबकि पद्माकर एवं प्रसाद के चित्रण मे नायिका पत्थर की मूर्त्ति की भाँति निश्चेष्ट एवं गति हीन है।

विद्यापति के सौन्दर्य-चित्रण की सफलता का एक और बड़ा रहस्य यह है कि उनमे रसिकता के साथ-साथ सुरुचि का भी मेल है। वे स्नान करती हुई बालाओं के कक्ष मे प्रवेश करते है, उनका चित्र खीचते है, पर फिर भी उसमें अश्लीलता या नग्नता नही आने देते। वस्तुतः सौन्दर्य चित्रण की दृष्टि से विद्यापति संसार के कुछ विरले कवियों में से एक समझे जाने चाहिए।

(ख) **उद्दीपन**—यद्यपि शृंगारोद्दीपन के अनुकूल वातावरण के लिये विद्यापति संस्कृत-काव्य की परम्परा के अनुसार प्रकृति एवं ऋतुओं को साधन बनाते है किन्तु वे अपने हृदय की उल्लासपूर्ण अनुभूतियो के योग से उसके प्रभाव मे पर्याप्त वृद्धि कर देते है यथा :—

नाचहुरे तरुनी, तजहु लाज।
आएल बसन्त ऋतु बनिक राज !!

या

सकल समय नहि रितु बसन्त।
सकल पुरुष नारि नहिं गुनवन्त !!

—वि० की० प०, पृ० २४०

ये उक्तियाँ कितनी उत्तेजनापूर्ण है, यह बताने की आवश्यकता नही।

---

१. पद्माकर— **आँखें अधखुली खिरकी है खुलि**
अधखुले आनन पै अधखुली अलकें ॥

२. प्रसाद— **नील परिधान बीच सुकुमार।**
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग। **—कामायनी**

शृंगारोद्दीपन के लिये कवि ने ऋतुओं के अतिरिक्त कुछ अन्य परिस्थितियों का भी प्रयोग किया है। किसी एकान्त निर्जन प्रदेश में जबकि रात्रि की वेला हो, चारों तरफ अंधकार छाया हुआ हो, बीच-बीच में बिजली चमक रही हो, ऐसी परिस्थिति मे नायक–नायिका का मिलन अवश्य ही भावोद्दीपन में समर्थ होगा। विद्यापति भी ऐसी ही परिस्थिति का निर्णय करते है :—

संग क सखि अगुआइलि रे, हम एक सरि नारी !
दामिनी आए तुलाएल हे, एक राति अंधारी !!—वि० प०, पृ० ५०

इस प्रकार की परिस्थितियों के अतिरिक्त कवि दूत दूतिकाओं के उत्साहपूर्ण शब्दो, संगीत वाद्यादि के उत्तेजक स्वरों आदि से भी भावोद्दीपन में सफलता प्राप्त करता है।

(ग) **आश्रय**—संभवतः प्रेमी-जनो के जीवन मे उपस्थित होने वाली ऐसी कोई भी भाव दशा नही जिसका वर्णन विद्यापति ने न किया हो। प्रेम की प्रथम अवस्था सौन्दर्यानुभूति से लेकर अन्तिम निराशा तक की सभी अवस्थाओं का अनुभूतिपूर्ण वर्णन किया है। विवेचन की सुविधा के लिये हम इन अवस्थाओं को मुख्यतः इन पाँच वर्गों मे रख सकते हैं। (१) संयोगानुभूति—प्रेम का सुखद पक्ष (४) वियोगानुभूति—प्रेम का दुःखद पक्ष, और (५) निराशा—प्रेम का अन्त।

१—सौन्दर्यानुभूति—विद्यापति का प्रणय प्रथम दृष्टि से ही उत्पन्न होने वाला (Love at first sight) प्रेम है। नायक नायिका का एक दूसरे से कोई परिचय नही है, किन्तु राह मे प्रथम दर्शन से ही एक दूसरे पर आसक्त हो जाते है। एक ओर राधा की रूप-राशि से पीड़ित होकर नायकराज कहते है—

पथ गति पेखल मो राधा !
तखनुक भाव परान पए पीड़लि,
रहल कुमुद निधि साधा !! —वही, पृष्ठ ४१

दूसरी ओर नायिका भी साँवरे के रूप पर मुग्ध हो जाती है—

सामर सुन्दर ए बाट आएल !
ते मोरि लागति आँखि ! —वही, पृष्ठ ४३

२—मिलनाकाक्षा—प्रथम-दर्शन से उत्पन्न यह प्रेम नायक नायिका के हृदय को परस्पर मिलने के लिये आतुर कर देता है। यद्यपि नायक को आशा नही कि नायिका उसके प्रेम को स्वीकार कर लेगी, पर फिर भी वह अपने नेत्रों से उसका पीछा करने का अनुरोध करता है—

ततहि धाओल दुहु लोचन रे,
जतहि गेल वर नारि !
आसा लुबुधल न तेजए रे,
कृपन क पाछु भिखारि !!

—वही, पृ० ३६

यहाँ प्रथम दो पंक्तियों मे नायक की आतुरता एवं अन्तिम में उसका दैन्य झलकता है। साहित्य शास्त्रियों द्वारा उल्लेखित आवेग और दैन्य संचारियों से मिश्रित नायक की इस मिलनाकांक्षा का वर्णन और द्रष्टव्य है—

आसायें मन्दिर निसि गमाबए,
सूख न सूत संयान !
जखन जतए जाहि निहारिए, ताहि ताहि तोहि भान !!

—वही, पृ० ४८

जो विद्वान निद्रा को भावना से सम्बद्ध मानने का विरोध करते है वे देखें कि यहाँ नायक की अनिद्रा—'सूख न सूत संयान'—भाव प्रेरित है या नहीं ?

कवि ने नायिका की मिलनाकांक्षा का भी अनुभूतिपूर्ण वर्णन किया है। किस प्रकार प्रेम के वशीभूत होकर एक साधारण अबला भी समस्त पृथ्वी की परिक्रमा लगाने के लिये तैयार हो जाती है, प्रिय से मिलने के लिये अपने समस्त मन, बुद्धि और प्राणों को न्यौछावर करने के लिये उद्यत हो जाती है; इसे नीचे की पंक्तियों में देखिये :—

कहहि मो सखि कहि मो, कत तकर अधिबास।
दूरहु दुगुन एडि मे आबओ, पुनु दरसन आस ॥
कि मोरा जीवन कि मोरा जोबन, कि मोरा चतुरपने।
मदन बान मुरुछलि अछओ सहओ जीव आपने ॥

—वही, पृष्ठ ४४

३—संयोगानुभति—शृङ्गार के संयोग-पक्ष का भी विद्यापति ने विस्तार से चित्रण किया है। विभिन्न साज-सज्जा से सुसज्जित होकर सखियों के साथ नववधू का प्रथम समागम के लिये पति के पास जाना, प्रथम-स्पर्श से उसका लज्जा, भय एवं संकोच से ग्रस्त हो जाना, नायक का बलात् छेड़-छाड़ करने

पर उसका निषेधपूर्वक स्वीकृति देना, आदि परिस्थितियों का आकर्षक ढंग से वर्णन किया गया है। प्रथम स्पर्श का एक दृश्य देखिये :—

छुवइत बालि मलिन भई गेल, विधुकर मलिन कमलनी मेलि !
नहिं नहिं कहइ नयन झरनोर, सूति रहलि राहि सयनक ओर !!

—वि० की० प०, पृ० १०८

संयोग वर्णन में विद्यापति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे स्थूल वर्णन में प्रवृत्त न होकर नायक-नायिका की सूक्ष्म मधुर अनुभूतियों को ही व्यंजित करते हैं, यदि वे शारीरिक मिलन का वर्णन करते भी हैं तो ऐसी संकेतात्मक शैली मे कि जिससे पाठक प्रसंग की समस्त मधुरता से अवगत हो जाता है, किन्तु फिर भी प्रत्यक्ष-रूप में किसी प्रकार की अश्लीलता या नग्नता दृष्टिगोचर नहीं होती, उदाहरण स्वरूप एक पद देखिये—

निवि बंधन हरि किए कर दूर।
एहो पए तोहर मनोरथ पूर॥
हेरने कओन सुख न बूझ बिचारि।
बड तुहु दीठ बुझल बन मारि॥
हमुर सपथ जो हेरह मुरारि।
लहु-लहु तब हम पारब गारि॥
विहरसे रहसि हेरने कोन काम।
से नहिं सहबहि हमर परान॥
परिजन सुनि सुनि तेजब निसास।
लहु लहु रमह सखीजन पास॥

—वही, पृष्ठ ११५

यहाँ पहली पंक्ति में 'निवि बंध-मोचन' का उल्लेख करके प्रसंग का संकेत मात्र कर दिया गया है, किन्तु इसके अनन्तर समस्त वर्णन में नायिका की सूक्ष्म-मनोवृत्तियों का ही चित्रण किया गया है। इसके अतिरिक्त नायिका की उक्तियों के माध्यम से ही नायक की स्थूल क्रियाओं की भी व्यंजना बड़ी सफलता पूर्वक कर दी गई है। वस्तुतः संयोग-वर्णन की यह अपूर्व कला हमें पहली बार विद्यापति में मिलती है।

४—वियोगानुभूति—विद्यापति की विरहिणी नायिकाओं को हम मुख्यतः दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं (१) नववयस्क तरुणियाँ और (२) प्रौढ़ायें। प्रथम

श्रेणी की वियोगिनियों में वासना-पूर्ति की लिप्सा अधिक है, तथा उनमें प्रणय जन्य वेदना का अभाव है। देखिये :—

कत दिन पिय मोर पूछब बात।
कबहूँ पयोधर देइब हाथ ॥
कत दिन लेइ बैठाइब कोर।
कत दिन मनोरथ पूरब मोर॥

इसी प्रकार एक अन्य युवती को भी प्रियतम के प्रवास का उतना अधिक दुःख नही है जितना उसे अपने यौवन के व्यर्थ बीत जाने का है :—

अंकुर तपन ताप जदि जारब,
कि करब वारिद मेहे।
इह नव जोबन विरह गमाओब,
कि करब से पिया गेहे॥

—वही, पृष्ठ २६७

पर दूसरी श्रेणी की प्रौढ़ा नायिकाएँ ऐसा नही सोचती। उनमे यौवन की चंचलता एवं वासना के वेग के स्थान पर प्रणय की गंभीरता मिलती है। इसलिये वे पति के स्थूल-मिलन की अपेक्षा, उसके स्नेह की ही अधिक इच्छुक है :—

सबकर पहु परदेस बसि सजनी,
आएल सुमिरि सिनेह।
हमर एहन पति निरदय सजनी,
नहिं मन बाढए नेह॥

—वही, पृष्ठ २५८

यहाँ नायिका को पति के न आने का उतना खेद नहीं है जितना कि उसके प्रेम शून्य हो जाने का है। पर प्रेम की पूर्ण विकसित अवस्था में तो एक सच्ची प्रेमिका के लिये स्थूल संयोग और सूक्ष्म प्रेम—इन दोनों से अधिक महत्वपूर्ण प्रियतम का हित या मंगल हो जाता है। वह अपनी वियोग वेदना को सहन कर लेती है, प्रिय की निष्ठुरता को भी जैसे-तैसे सह लेती है, किन्तु प्रियतम के अमंगल की बात को वह एक क्षण के लिये भी सहन करने में असमर्थ हो जाती है। प्रणय की ऐसी ही गंभीर अवस्था का चित्रण करते हुए कवि ने लिखा है :—

माधव हमारो रहल दुर देश ।
केओ न कहे सखि कुशल सनेस ।।
जुग जुग जिवथु वसथु लख कोस ।
हमर अभाग, हुनक नहिं दोस ।।
हमर करम मेला विहि विपरीत ।

\+ + + +

हृदयक वेदन बान समान ।
आनक वेदन आन न जान ।।

—वही, पृष्ठ २६०

हृदय में वेदना तीर के समान चुभ रही है, पर फिर भी वह प्रियतम को रत्ती मात्र भी उपालंभ नही देना चाहती ! सब कुछ मेरे ही भाग्य का फल है, उनका कोई दोष नही ! भावना का ऐसा उत्कर्ष बहुत थोड़े प्रेमियों में मिलता है ।

५—निराशा—विद्यापति में प्रेम के मुख्यतः दो स्वरूप मिलते है, एक वह जो दाम्पत्य के सूत्र में बंधकर चलता है और दूसरा स्वतन्त्र प्रेम के रूप में । नायक-नायिका एक दूसरे से आकर्षित होकर गुप्त रूप से प्रणय-व्यापार में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु रस-लम्पट नायक कुछ दिनों के रस-पान के अनन्तर अन्य कलियों की ओर आकर्षित हो जाता है, फलतः स्वतन्त्र प्रेम की परिणति निराशा में होती है । प्रणय-वंचिता नायिकाओं की इस शोकपूर्ण अवस्था का चित्रण गहरी सहानुभूति के साथ किया गया है । एक नायिका, जब अपने प्रेम के कटु अनुभव पर विचार करती है तो उसके क्षोभ और पश्चात्ताप का कोई ठिकाना नही रहता । उसकी अवस्था वैसी ही हो गई है जो ढके हुए कुए के मुँह पर दौड़ती हुई पैर रख देती है या जो चंदन के विश्वास में सेमर के वृक्ष का आलिंगन कर लेती है :—

झांपल कूप देखहि नहिं पारल, आरति चललहू धाई ।
तखन लघु गुरु किछू नहिं गूनल, अब पछतावक जाई ।।

\+ + + +

चंदन भरम सिमर आलिंगन, सालि रहल हिय कांट ।।

—वही, पृष्ठ १९०

उसकी वेदना का असीम स्रोत कभी अमर्ष के रूप मे फूट पड़ता है और वह नायक की दुष्टता की भर्त्सना करने लगती है :—

सखि हे बूझल कान्ह गोआर।
+ + + +
पसुक संग हुन जनम गमाओल,
से कि बुझथि रति रंग।

—वही, पृष्ठ १९०

अन्त में उसका यह निराश प्रेम धीरे-धीरे निर्वेद में परिणत् हो जाता है। उसे प्रेम की चर्चा तक नही सुहाती :—

सजनी दुरु करु ओ परसंग !
पहिलहि उपजइत प्रेमक अंकुर।
दारुन बिधि देल भंग ॥

—वही, पृष्ठ २८०

विद्यापति से पूर्व संस्कृत के अनेक कवियों ने शृङ्गार के वियोग पक्ष का विभिन्न रूप से वर्णन किया है किन्तु प्रवंचिता नारी के इस अथाह शोक सागर का अवगाहन किसी ने नही किया : काव्य शास्त्रियों ने नायिका भेद के अन्तर्गत विप्रलब्धा का उल्लेख अवश्य किया है पर उसका ऐसा स्वाभाविक एवं अनुभूतिपूर्ण उदाहरण विद्यापति से पूर्व कदाचित ही कही मिलता हो ! वस्तुतः विद्यापति इस क्षेत्र मे अद्वितीय है।

इस प्रकार हम देखते है कि विद्यापति ने प्रेम की प्रायः सभी अनुभूतियों का चित्रण स्वाभाविकता के साथ किया है। उन्होंने शृङ्गार भावना के आश्रय के रूप मे पुरुष और नारी—दोनों को लिया है और दोनों के हृदय का पूर्ण उद्घाटन किया है। विरहानुभूतियों के क्षेत्र मे अवश्य विद्यापति ने नारी को प्रधानता दी है। यदि शास्त्रीय दृष्टि से विचार करें तो उनके शृङ्गार में प्रायः सभी संचारी भावों का समन्वय हुआ है। निर्वेद जो कि प्रेम से असम्बद्ध-सा प्रतीत होता है उसका भी उदाहरण ऊपर दिखाया जा चुका है। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि विद्यापति ने कही भी शास्त्रीय लक्षणों, या काव्य रूढ़ियों का प्रयोग यत्नपूर्वक नहीं किया।

स्थायी भाव का उत्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विद्यापति के काव्य में रस के सभी अवयवों—आलम्बन, उद्दीपन, आश्रय, अनुभाव एवं

संचारी भाव का चित्रण प्रभूत मात्रा में अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ हुआ है। अतः उनके शृङ्गार-वर्णन का क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर स्थायी-भाव का उत्कर्ष केवल क्षेत्र की व्यापकता पर ही निर्भर नही होता उसके लिये प्रेम के उच्च स्वरूप और भावना की गम्भीर परिणति का होना अनिवार्य है। अतः इस दृष्टि से विद्यापति का शृङ्गार-वर्णन विचारणीय है।

विद्यापति का प्रेम का आदर्श बहुत उच्च था, वे इसे जीवन की सार वस्तु मानते थे।[1] प्रेम का स्वतन्त्र रूप ही उन्हे अधिक प्रिय था। कुल समाज एवं धर्म की मर्यादाओं को वे प्रेम के समक्ष तुच्छ और गौण मानते थे।[2] इसीलिये इनका प्रेम प्रायः दाम्पत्य की सीमाओं के बाहर रह कर ही विकसित होता है। उनके इस स्वतन्त्र प्रेम का आरम्भ सौन्दर्याकर्षण से होता है, उस का विकास नायक और नायिका मे साथ-साथ होता है। नायक के अनुरोध पर नायिका कुल, समाज और धर्म के बन्धनों एवं मर्यादाओं की उपेक्षा करती हुई, प्रकृति के क्रूरतम रूप का सामना करती हुई संकेत स्थलों पर पहुँचती है। इस प्रकार विद्यापति की प्रेमिका अपने प्रेम की दृढ़ता, साहस और त्याग का अपूर्व उदाहरण उपस्थित करती है किन्तु उसका दुर्भाग्य यह है कि उसे सच्चे प्रेमी के स्थान पर रस-लोलुप-भ्रमर प्राप्त होता है जो रस-पान के पश्चात् धीरे-धीरे पीछे हटता हुआ, एक दिन सदा के लिये मुँह फेर लेता है। जिस प्रणय-कहानी का आरम्भ दो हृदयों की समतल भूमि पर बड़ी-बड़ी आकांक्षाओं के साथ होता है वह अन्त मे एकांगिता और विषमता को प्राप्त होती हुई वंचकता की गाथा मात्र शेष रह जाती है।

विद्यापति ने दाम्पत्य जीवन के कुछ चित्र अंकित किये है, पर उनमें भी भावना के चरमोत्कर्ष का अभाव है। स्वतंत्र-प्रेम में कम से कम नायिका का हृदय तो मार्ग की बाधाओं एवं संघर्ष से तपकर बहुत कुछ निर्मल एवं स्वच्छ हो जाता है, किन्तु दाम्पत्य जीवन में तो यह भी संभव नही। वहाँ

---

१. **एहि संसार सार बधु एक,**
तिला एक संगम जाव जिव नेह।

—वि. की पदावली, पृष्ठ १६३

२. **कुल गुन गौरव सति जस अपजस, तृन करि न भानए राधे।**
मनमधि मदन महोदधि उछलल, बूडल कुल मरजादे॥

—वही, पृष्ठ १६०

नायक-नायिका के जीवन में सौन्दर्य और यौवन का उपभोग अबाध गति से चलता रहता है जिसके फलस्वरूप उनकी समस्त वृत्तियाँ कामोन्मुख ही रहती हैं। नायक का प्रवास वियोगानुभूतियों के लिये वातावरण प्रस्तुत करता है किन्तु इस अवसर पर तो नायक को तो किसी प्रकार की वेदना का अनुभव होता ही नहीं क्योंकि उसकी रसिक वृत्ति की संतुष्टि के लिये तो सर्वत्र ही सामग्री उपस्थित है—नायिका अवश्य शोक मग्न होती है किन्तु उसका कारण मानसिक न होकर शारीरिक है। कुछ प्रौढ़ा-नायिकाओं को छोड़कर विद्यापति की वियोगिनियों की उक्तियों में प्रायः हम शारीरिक मिलन की ही आकांक्षा के दर्शन करते हैं उनमें विशुद्ध एवं गम्भीर प्रणय की अभिव्यक्ति नही है। वस्तुतः विद्यापति के प्रेम का चाहे वह गुप्त रूप में हो या दाम्पत्य के रूप में, रसिकता की कोटि तक ही विकास होता है। हर स्थिति मे उनका प्रेम अन्त में एकांगिता एवं विषमता में परिणत होकर निराशा का रूप धारण कर लेता है। विद्यापति के नायकों की रस-लोलुपता ही प्रणय की इस अकाल मृत्यु के लिये उत्तरदायी है।

(घ) विद्यापति और पूर्ववर्ती कवि

कालिदास—कविता कामिनी के शृङ्गार कालिदास से मैथिलि-कोकिल विद्यापति में गहरा साम्य है। दोनों का कुल-धर्म शैव होते हुए भी दोनों ने शृङ्गारिकता के आगे शिव के देवत्व को गौण रखा है, दोनों ही गम्भीर विद्वान एवं राज्याश्रित कवि थे; दोनों ने ही नारी-सौन्दर्य का चित्रण विस्तार से किया है, दोनों ही जीवन में प्रेम के महत्व को स्वीकार करते हैं और दोनों ने ही साहित्य के क्षेत्र में भाषा का सहज, स्वाभाविक एवं सरल रूप ग्रहण किया है। इतना साम्य होते हुए भी दोनों में कुछ अन्तर है—कालिदास मूलतः प्रबन्ध-काव्य के कवि हैं. अतः उनके शृङ्गार का क्षेत्र अधिक व्यापक है; उसमें जीवन की अधिक परिस्थितियों का समावेश है। दोनों ने ही प्रेम का उदय सौन्दर्य से दिखाया है किन्तु कालिदास के काव्य में पहला प्रयत्न नायक की ओर से होता है जबकि विद्यापति में नायिका की ओर से। कालिदास की प्रणय-लीलाएँ राजमहल के रंगीन-वैभव एवं नव-उपवनों की विकसित पृष्ठ भूमि में स्वतंत्रता पूर्वक चलती हैं; उसमें यदि कोई द्वन्द्व है तो केवल सपत्नी का—जो सरलता से दूर हो जाता है जबकि विद्यापति के नायक-नायिका गुप्त रूप में कही रात्रि के अन्धकार में व्यभिचारियों की भाँति ही मिल पाते हैं। प्रारम्भिक

मिलन के अनन्तर कालिदास की नायिकाओं की किसी दैवी कारण से प्रियतम का असह्य वियोग सहन करना पड़ता है, किन्तु अन्त में उन्हें प्रिय का संयोग प्राप्त हो जाता है; जबकि विद्यापति के नायक कुछ दिनों के रस-पान के अनन्तर सदा के लिये नायिका से विमुख हो जाते हैं। फलतः कालिदास का प्रणय अन्त में सफल, सरस एवं सुखमय हो जाता है जबकि विद्यापति में वह निराशा, ग्लानि और दुःख से ओत-प्रोत हो जाता है। वस्तुतः कालिदास का युग भारतीय जीवन, और हिन्दू संस्कृति के विकास का स्वर्ण युग था, जबकि विद्यापति के आविर्भाव काल में भारतीय-समाज अपने चरम विनाश की ओर अग्रसर हो रहा था—परिस्थितियों के इसी अन्तर ने एक को दूसरे से अधिक उच्चता, व्यापकता एवं महानता प्रदान करदी।

शूद्रक, भवभूति और बाण—विशुद्ध प्रेम के उच्च आदर्श को सम्मुख रख कर काव्य-रचना करने वाले संस्कृत के महान् कवियों—शूद्रक, भवभूति और बाण से रसिक कवि विद्यापति की कोई तुलना नही। प्रेम का जैसा उत्कर्ष ये संस्कृत कवि दिखा सके है, उसकी आशा विद्यापति से करना व्यर्थ है। विद्यापति के शृङ्गार-क्षेत्र में सौन्दर्य का साम्राज्य है, रसिकता उसकी साम्राज्ञी है और प्रेम उसका अनुचर है जबकि इसके विपरीत इन संस्कृत-कवियों के काव्य में सर्वत्र प्रेम का ही एकाधिकार है। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि विद्यापति की गीति-शैली मे भावनाओ का जैसा अविच्छिन्न प्रवाह, सौन्दर्य का जैसा एकत्र-चयन और संगीत की जैसी सुरीली तान का समन्वय मिलता है, उसका शूद्रक, भवभूति, बाणादि के इतिवृत्त और घटनाओं से आच्छादित काव्यों में अभाव है।

अमरूक और विद्यापति—अमरूक और विद्यापति के शृङ्गार सम्बन्धी दृष्टिकोण में आश्चर्यजनक साम्य है। विद्यापति ने यदि नारी के अंग विशेष के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपने उपास्य देव को भी उससे हीन घोषित कर दिया था तो अमरूक ने भी सीत्कारपूर्वक नेत्रोन्मीलन करती हुई मानिनी के सवेग चुम्बन से प्राप्त रसामृत को छोड़कर समुद्र-मन्थन का श्रम करने वाले देवताओं को मूढ़ सिद्ध किया है।[1]

अपने इस रसिक दृष्टिकोण के कारण दोनों कवियों ने नारी-सौन्दर्य, एवं उसकी चेष्टाओं का भूरि-भूरि चित्रण किया है परन्तु विद्यापति की श्लीलता

---

१. अमरू-शतक—श्लोक ३२।

और स्वच्छता का अमरूक में अभाव है। संभोग दृश्यों में प्रायः अमरूक सुरुचि का तिरस्कार कर देते हैं।

शृङ्गार के क्षेत्र की दृष्टि से अमरूक और विद्यापति में पर्याप्त अन्तर है। अमरूक ने अपने शृङ्गार का विषय एक ऐसे दाम्पत्य जीवन को बनाया है जहाँ पति काम-लोलुप एवं व्यभिचारी है जिसके फलस्वरूप पत्नी का जीवन कटु और दुःखमय बन जाता है। यही कारण है कि अमरूक के अधिकांश श्लोकों में खण्डिताओं एवं मानिनियों का वर्णन है। इसके विपरीत विद्यापति ने स्वतन्त्र प्रेम का चित्रण करते हुए पति के बाह्य जीवन का अङ्कन किया है। इस प्रकार नायक दोनों का एक है किन्तु एक ने ईर्ष्या, कलह और शोक से परिपूर्ण घरेलू पक्ष का चित्रण किया है जबकि दूसरे ने सौन्दर्यासक्ति, मिलनाकांक्षा, अभिसार, प्रतीक्षा का संयोग सम्बन्धी परकीया से सम्बन्धित बाह्य पक्ष को उपस्थित किया है। यद्यपि विद्यापति का यह परकीय प्रेम अन्त में जाकर एकांगी और विषम हो जाता है किन्तु अमरूक में तो वह आरम्भ से ही विषम रहता है।

नायिकाओं की भाव-दशाओं के उद्घाटन में अमरूक परिस्थिति, प्रसंग और शारीरिक चेष्टाओं के विस्तृत वर्णन के बीच भाव की सूक्ष्म रेखा अङ्कित करते है जबकि विद्यापति भावनाओं से संकुलित सागर के मध्य में परिस्थिति की एक क्षणिक लहर का संकेत मात्र करते है, इससे अमरूक के श्लोक वस्तु एवं कार्य-व्यापार-प्रधान बन जाते हैं जबकि विद्यापति के गीतों में भावनाओं का स्रोत बहता दिखाई पड़ता है। अतः इन सब विशेषताओं के कारण विद्यापति का शृङ्गार-वर्णन अमरूक के वर्णन की अपेक्षा बहुत अधिक सरस, रोचक एवं प्रभावशाली हो गया है।

✓ **विद्यापति और जयदेव**—विद्यापति और जयदेव के शृङ्गार वर्णन के आलम्बन और शैली में साम्य होते हुए भी दोनों में पर्याप्त भेद है। जयदेव ने अपने काव्य में भागवत की कथा, काव्य शास्त्र की रूढ़ियाँ, काम-शास्त्र के ज्ञान और धार्मिकता के आवरण का समावेश किया है जबकि विद्यापति ने इनके समन्वय का कोई प्रयत्न नहीं किया। पर इनके अभाव से विद्यापति की भावाभिव्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता, उनके विषय वर्णन में अधिक मौलिकता और काव्य-प्रभाव में अधिक वृद्धि ही हुई है।

प्रेम-भावना के चित्रण की दृष्टि से विद्यापति जयदेव से बहुत आगे हैं। जहाँ जयदेव के नायक-राज काम की प्रेरणा से प्रथम दृश्य में ही अनेक

युवतियों से एक साथ रमण करते दिखाई पड़ते हैं, वहाँ विद्यापति ने सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न प्रेम का क्रमिक विकास एक युवती और एक युवक के बीच दिखाया है। जयदेव ने विभिन्न नायिकाओं के उदाहरण शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार उपस्थित कर दिये हैं जिनमें बहुत थोड़ी भाव-दशाओं का चित्रण हुआ है। विद्यापति का नायक रसिक है किन्तु उनकी नायिका तो सच्ची प्रेमिका है, पर जयदेव के तो नायक और नायिका दोनों ही कामुकता के स्तर से ऊंचे नही उठ पाते। इसी के फलस्वरूप उनका काव्य सुरत-क्रीड़ाओं, विपरीत-रीतियों और आलिंगन चुम्बनों के स्थूल दृश्यों से पूरी तरह आच्छादित है। वस्तुतः शृङ्गार भावना की दृष्टि से जयदेव की विद्यापति से कोई समानता नहीं है।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विद्यापति के काव्य मे प्रेम का चरमोत्कर्ष नही मिलता, पर फिर सी सौन्दर्य के विशद् चित्रों एवं प्रणय की विभिन्न भावदशाओं के वर्णन की दृष्टि से उनका काव्य अदभुत है। उनमें रसिकता का आग्रह बहुत अधिक है किन्तु फिर भी वे नारी-अंगों को नग्न-रूप में उपस्थित नही करते, अपने अनेक पूर्ववती कवियों की भाँति वे संभोग दृश्यों का चित्रण स्थूल रूप मे नही करते ; अतः यह स्वीकार करना होगा कि उनकी रसिकता, कामुकता से उच्च-स्तर की, विकसित एवं सुरुचि सम्पन्न रसिकता थी। प्रेम को वे संसार की सार वस्तु मानते हुए[1] उसे धर्म और मर्यादाओं से ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं—प्रेम यदि स्वर्ग है तो उनके शब्दों में, धर्म 'काँच' या 'शीशे' के टुकड़ों के समान है।[2] वे स्पष्ट शब्दों मे घोषित करते हैं—जब मन में प्रणय का स्रोत उमड़ता है तो कुल की मर्यादाएँ बह जाती हैं, डूब जाती है।[3] अपने इसी दृटिकोण के परिणाम-स्वरूप उन्होंने प्रणय का चित्रण

---

१. "एहि संसार बथु एक।
तिला एक संगम, जाब जिव नेह ॥"
—विद्यापति पदावली, पृष्ठ १६३

२. कुलबति धरम काँच समतूल।
सुजनक प्रेम हेम समतूल ॥
—विद्यापति पदामृत, पृष्ठ ४६-४७

३. मन-मधि-मदन महोदधि उपजल।
बूडल कुल - मरजादे ॥
—वि. की पदावली, पृष्ठ १६०

निःसंकोच रूप में पूर्ण स्वच्छन्दता, सजीवता एवं उल्लास के साथ किया है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा की नवीनता, चित्रण-शक्ति की सूक्ष्मता एवं गीत-शैली के माधुर्य ने उनके काव्य को असाधारण सरसता प्रदान करदी है। उनके काव्य में प्रेम का पूर्ण साम्राज्य नहीं है किन्तु प्रणय के शत-विक्षत स्वप्नों से वह परिपूर्ण है; सौन्दर्य का अखण्ड प्रकाश उसमें नहीं है किन्तु क्षण-क्षण में उदित होकर चमत्कृत कर देने वाली विद्युत की मात्रा से वह पूर्णतः वेष्टित है; भावना का अजस्र-प्रवाही स्रोत उसमें नहीं है, किन्तु मधुर-मधु की लघु-लघु बूँदों की मधुरिमा से यह युक्त है। यही कारण है कि उनके काव्य से पाठक का हृदय भले ही रस से आप्लावित न हो किन्तु वह क्षण-भर के लिये लोल-तरंगित अवश्य हो उठता है।

हिन्दी प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा

हिन्दी की प्रेमाख्यानक 'काव्य-परम्परा' के सम्बन्ध में दो मत बहुत अधिक प्रचलित हैं—एक तो यह कि इस परम्परा का विकास फारसी मसनवियों के प्रभाव से हुआ और दूसरा यह कि इन आख्यानों में सूफी रहस्यवाद अथवा आत्मा और परमात्मा के अलौकिक प्रणय की व्यंजना की गई है। किन्तु पूर्ववर्ती साहित्यिक पृष्ठभूमि एवं परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए इस काव्य-परम्परा का अध्ययन करने पर हमें उपर्युक्त दोनों मत भ्रामक एवं असंगत प्रतीत होते हैं।

जैसा कि पीछे 'संघर्ष-प्रधान-शृंगार' के विकास पर विचार करते हुए बताया गया था कि संस्कृत के ही अनेक लेखकों—सुबन्धु, दण्डी, बाण आदि कवियों ने पहले-पहल भारतीय साहित्य में संघर्षपूर्ण प्रेमाख्यानों—वासवदत्ता, दशकुमार चरित, कादम्बरी आदि की कल्पना की। आगे चलकर प्राकृत और अपभ्रंश के जैन कवियों ने इन काव्यों में धार्मिक उपदेशों का समन्वय करते हुए इस परम्परा को नया स्वरूप प्रदान किया जो कि अखण्डित रूप से हिन्दी काव्य में पहुँची। हिन्दी के प्रेमाख्यानों में जैन कवियों के प्रेमाख्यानों की ये विशेषतायें और प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—

(क) जैन कवियों ने मुख्यतः अपने आख्यानों का नामकरण नायिका के नाम के आधार पर किया, जैसे—तरंगवती, सुर-सुन्दरी, भुवन-सुन्दरी, मलय-सुन्दरी आदि, हिन्दी के प्रेमाख्यानों—मृगावती, मधुमालती, पद्मावत, इन्द्रावती, चित्रावली पुहुपावती के नामकरण में भी यह प्रवृत्ति प्रमुख रूप से मिलती है। अपवाद-स्वरूप कुछ जैन कवियों और हिन्दी-कवियों ने नायक के नाम को भी आधार बनाया है। (जैन कवियों में—यशोधर चरित्र, करकंड-चरित आदि तथा हिन्दी में—'माधवानल-काम-कंदला' 'यूसुफ जुलेखा' आदि।)

(ख) दोनों के ही प्रेमाख्यानों में नायक प्रायः कोई राजकुमार या सेठ पुत्र है तथा वह अपनी प्रेमिका की प्रर्याप्त संघर्ष-पूर्ण परिस्थितियों का सामना करता है।

(ग) दोनों के ही प्रेमाख्यानों में अन्त में नायक किसी अदृष्ट शक्ति की सहायता से नायिका को प्राप्त कर लेने में सफल हो जाता है।

(घ) दोनों ही अपने प्रेमाख्यानों के बीच-बीच में दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों की व्यंजना करते है। कुछ जैन कवियों ने (जैसे कि 'सुदर्शन चरित्र' के लेखक कनकामर मुनि) अपने प्रेमाख्यानों में सैद्धान्तिक-निरूपण के लिये समासोन्ति-पद्धति अथवा रूपक का भी प्रयोग किया है।

(ङ) जैन-कवियों ने अपने काव्यों को अन्त में शान्त-रस से ओत-प्रोत कर दिया है। हिन्दी कवियों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है, उदाहरण के लिये जायसी 'पद्मावत' के अन्त में रत्नसेन की मृत्यु तथा नागमती और पद्मिनी का सती होना दिखाकर संसार की क्षण-भंगुरता सिद्ध कर देते है—

'कहाँ सो रतन सेनि अस राजा।
कहाँ सुवा असि बुधि उपराजा॥
+ + + +
कहँ सुरूप पद्मावति रानी!
कोई न रहा जग, रही कहानी॥[1]

—जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०१

(च) छंदों की दृष्टि से भी दोनों मे गहरा साम्य है। अपभ्रंश के आख्यानों में चौपाई की आठ-आठ पंक्तियों के बीच एक-एक 'धत्ते' का प्रयोग किया है जबकि हिन्दी कवियों ने भी चौपाई की सात या आठ पंक्तियों के बीच एक-एक दोहा रखा है। यह ध्यान रहे, 'धत्ता' और 'दोहे' में प्रवाह की दृष्टि से गहरा साम्य है। यही नहीं 'मृगावती' के लेखक ने तो अपभ्रंश छंदों के अनुकरण करने की बात स्वीकार भी की है।[1]

जो विद्वान इस परम्परा को फारसी मसनवियों से सम्बद्ध करते है उनके दो तर्क हैं—एक तो "इनकी रचना सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी मसनवियों के ढंग पर हुई है जिनमें कथा सर्ग या अध्यायों के विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती। केवल स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक के रूप मे रहता है।"[२] दूसरा तर्क यह है कि मसनवी में सारा काव्य

---

१. गाहा, दोहा, अरेल अरज। सोरठा चौपई कइ सरज।

२. जायसी-ग्रन्थावली—संपादक—रामचन्द्र शुक्ल; चतुर्थ-संस्करण; भूमिका, पृष्ठ ४

एक ही छंद में तथा कथारंभ के पूर्व ईश्वर-स्तुति, पैगम्बर की वंदना तथा राजा की प्रशंसा होती है।[१] इन तर्कों के सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि उपर्युक्त विशेषताएँ पूर्ववर्ती अपभ्रंश काव्य में भी मिलती हैं। जैन कवियों ने अपनी रचनाओं को सर्ग-बद्ध शैली मे न बाँटकर प्रमुख घटनाओं के आधार पर 'संधियों' में विभाजित किया है। प्रमाण-स्वरूप स्वयभू (७९० ई०) का रामायण देखा जा सकता है, जिसे कवि ने १०८ संधियों मे बाँटा है।[२]

मंगलाचरण के रूप मे ईश्वर या देवताओं की स्तुति करने की परम्परा भी भारतीय काव्यों और नाटकों में प्राचीन काल से चली आ रही है तथा कुछ कवियों ने अपने काव्य-ग्रन्थों के आरम्भ में आश्रयदाता नरेशों का उल्लेख भी किया है।[3] स्वयंभू ने अपने काव्य में विस्तृत आत्म-परिचय देते हुए आत्म-दैन्य प्रदर्शित किया है।[४] अतः इन प्रवृत्तियो को अभारतीय या फारसी मसनवियों का प्रभाव बताना पूर्ववर्त्ती भारतीय काव्य से अपनी अज्ञता का परिचय देना है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी की रचनाओं में कुछ अन्तर्साक्ष्य ऐसे मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि इन कवियों ने फारसी मसनवियों का अनुकरण नही किया।

१—जायसी ने अपने काव्य में अपने पूर्ववर्त्ती प्रेमाख्यानों सपनावती, मृगावती, उषा-अनिरुद्ध, मधु-मालती आदि भारतीय आख्यानों का उल्लेख किया है।[५] यदि उन पर फारसी प्रभाव होता तो वे 'लैला-मजनूँ', 'शीरीं-फरहाद' जैसी मसनवियों का उल्लेख अवश्य करते। इसके अतिरिक्त कुछ कवियों ने तो स्पष्ट रूप में संस्कृत-काव्य का प्रभाव स्वीकार किया है।[६]

२—इन कवियों के नायक-नायिका हिन्दू हैं तथा उनके कथानकों की ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठ भूमि भारतीय है।

---

१. वही, पृष्ठ ४
२. हिन्दी-काव्य-धारा—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ २२ (प्रथम संस्करण)
३. कालिदास—शकुन्तला नाटक, प्रथम-अंक
४. हिन्दी-काव्य-धारा—राहुल०, पृ० २२
५. जायसी-ग्रन्थावली, (रामचन्द्र शुक्ल) भूमिका, पृष्ठ ३
६. कथा संसकृत सुनि कछु थोरी। भाषा बाँधि चौपई जोरी।
—आलम, माधवानल-कामकंदला, पृ० १८७

३—फारसी-मसनवियो में प्रेमी-प्रेमिका का मिलन नही होता तथा प्रेम की परिणति असफलता में होती है जबकि हिन्दी के प्रेमाख्यानों में ऐसा नहीं होता।

४—मसनवियों का नायक अविवाहित होता है तथा नायिका का विवाह किसी अन्य से हो जाता है जबकि इसके विपरीति हिन्दी कवियों का नायक एक से अधिक पत्नियों से विवाह करता है तथा नायिका अविवाहित होती है।

अस्तु, जैन कवियों के प्रेमाख्यानों से उपर्युक्त समताओं एवं फारसी मसनवियों से मिलने वाली असमानताओं को ध्यान में रखते हुए इस काव्य-परम्परा को पूर्ववर्ती भारतीय प्रेमाख्यानक-काव्य-परम्परा का विकसित रूप ही समझना उचित होगा।

(क) परम्परा का आरम्भ और विकास

हिन्दी में इस काव्य परम्परा का आरम्भ मुल्ला दाऊद की रचना नूरूक और चंदा की कहानी (१३७० ई०) से बताया जाता है, किन्तु यह रचना मूल रूप में प्राप्त नहीं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेम-निरूपण, वर्णन शैली, एवं छन्द-योजना तथा भाषा की दृष्टि से उक्त रचना इसी काव्य परम्परा से सम्बन्ध रखती है। हो सकता है कि वह प्रेम कहानी होते हुए भी अन्य शैली मे लिखी गई हो। प्राप्त ग्रन्थों में ईश्वरदास कृत 'सत्यवती कथा' (१५०० ई०) सबसे प्राचीन है, अतः इस परम्परा का आरम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से ही मानना उचित होगा।

परम्परा का विकास—इस परम्परा के अन्तर्गत १५०० ई० से लेकर १७७९ ई० तक रचित ३९ काव्य रचनायें मिलती है।[1] इस काव्य परम्परा को

---

१. **'हिन्दी-प्रेमाख्यान काव्य' और 'हिन्दी प्रेम गाथा-काव्य संग्रह' के आधार पर ३९ रचनायें ये हैं—(१) सत्यवती कथा (ईश्वरदास) १५०० ई० (२) मृगावती (मियांकुतुबन) १५०५ ई० (३) मधुमालती (मंझनशेख) १५४५ ई० (४) पद्मावती (जायसी) १६४५ ई० (५) माधवानल कामकंदकला (आलम) १५९१ ई० (६) चित्रावली (उसमान) १६१३ई० (७) रस रतन (पुहकर) १६१९ ई० (८) ज्ञानदीप (शेखनबी) १६१९ ई० (९) जानकवि के लिखे हुए ये ग्रन्थ (१६१८–१६६३) रत्नावली, लेला मजनूं, रत्नमंजरी, नलदमयंती, पुहुपबरिषा, कमलावती, छविसागर**

तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है। (१) उत्कर्ष युग (१५०० ई० से १६०० ई० तक) (२) मध्ययुग (१६०० से १६५० ई०) और (३) ह्रासयुग (१६५० से १७८० तक)।

उत्कर्ष युग की रचनाएँ आकार-प्रकार की दृष्टि से तो बड़ी हैं ही, काव्य-वैभव की दृष्टि से भी महान है। मध्ययुग की रचनाएँ जहाँ आकार की दृष्टि से छोटी होने लगीं, काव्य वैभव की दृष्टि से भी हीन हो गईं। इनके रचयिता जमकर किसी एक ग्रन्थ में अपनी प्रतिभा एवं शक्ति को लगाने की अपेक्षा संख्या विस्तार में लग गये—अकेले जान कवि ने २१ आख्यान लिखे, फलस्वरूप उनमे गुणों का ह्रास होना स्वाभाविक था।

तीसरे युग (ह्रास युग) की रचनाओं में सबमें बड़ा परिवर्तन तो यही मिलता है कि वे अब हिन्दुओं द्वारा लिखी जाने लगीं। जहाँ प्रथम दो युगों के ९ कवियों में दो हिन्दू हैं वहाँ तीसरे युग के ९ कवियों में से ६ हिन्दू है। हिन्दू कवियों के हाथों मे पड़कर इस काव्य परम्परा की सूक्ष्म-प्रवृत्तियाँ सुरक्षित नहीं रह सकीं। इन कवियों की प्रेम-पद्धति के मूलरूप में कितना अन्तर आ गया, इसे देखने के लिये पद्मावती (दुःखहरण दास) का विश्लेषण करते हैं। जहाँ मुसलमान कवियों का प्रेमी अपने प्रयत्नों में विश्वास रखने वाला है, वहाँ हिन्दू कवियों की रचनाओं का नायक भाग्यवादी है। दूसरे, नायक किसी प्रेमिका की प्राप्ति के लिये घर बार छोड़ कर नही निकलता अपितु वह तो देश देशान्तरों के विजय की कामना से बाहर जाता है, राजकुमारी प्रेमिका तो उसे अनायास ही मार्ग मे प्राप्त हो जाती है। प्रेम का आरम्भ भी

कामलता, कलावती, छीता, रूपमंजरी, मोहिनी, चन्द्रसेन शील निधान, कामहानी पीतमदास, कलंदर, देवलदेवी खिजुखां, कनकावती कौतूहली, सुभटराह, बुद्धिसागर, बांदी नाम २१+८=२९ ॥ (३०) नलदमन (सूरदास लखनवी) १६५७ ई० (३१) मृगावती (मेघराजसाह १६६६ ई० (३२) पद्मावती (दुःखहरनदास) १६६९ ई० (३३) पद्मिनी (हेमरत्नसूरि) १७१४ ई० (३४) हंस जवाहर (कासिमशाह) १७२१ ई० (३५) इन्द्रावती (नूर मुहम्मद) १७४४ ई० (३६) कनक मंजरी (काशीराम) १७५० ई० (३७) कामरूप की कथा (हर सेवक मिश्र) १७५० ई० (३८) अनुराग बांसुरी (नूर मुहम्मद) १७६४ ई० (३९) यूसुफजुलेखा (शेख निसार) १७७९ ई०।

पहले नायिका की ओर से होता है, जो अपने प्रयत्नों से राजकुमार को आकर्षित करती है, बुलाती है और मिलती है। इसमें प्रेम की सफलता के लिये साहस और संघर्ष नहीं करना पड़ता अपितु दूतिकाओं की सहायता से कार्य संपन्न हो जाता है। राजकुमार का प्रेम भी एकोन्मुखी नही रहता है क्योंकि वह अन्त में अनेक राजकुमारियों से विवाह करता है। हिन्दू कवियों में ही नहीं, अन्तिम युग के मुसलमान कवियों की रचनाओं मे भी प्रेम का वैसा विकास और वह गंभीर स्वरूप प्राप्त नहीं होता जो कि प्रारम्भिक युग के आख्यानों में मिलता है।

परम्परा के ह्रास के कारण—मुगल सम्राट औरंगजेब के शासनकाल (१६५८-१७०७ ई०) में हिन्दू-मुस्लिम कटुता पुनः बढ़ने लगी अतः मुसलमान कवि हिन्दुओं की कहानी उसी सहृदयता से वर्णन नही कर सकते थे, जैसी कि पूर्व कवियों में मिलती है। कुछ कवियों ने तो हिन्दूधर्म विरोधी बातें अत्यन्त चुभने वाले शब्दों में लिखी है। अस्तु, हिन्दू जनता इन काव्यों का स्वागत नहीं कर सकती थी। दूसरी ओर उर्दू भाषा का विकास हो चला था जिसे मुसलमान अपनी भाषा कहते थे। अतः हिन्दुओं की भाषा में काव्य-रचना करते हुए मुसलमान कवियों को संकोच का अनुभव होने लगा, उसका संकेत हमे नूरमोहम्मद के इन शब्दों में मिलता है :—

जानत है वह सिरजन हारा। जो किछु है मन परम हमारा।
हिन्दू मग पर पाँव न राखेउँ। का जो बहुते हिन्दी भाखेउ।

—अनुराग बाँसुरी

यद्यपि मुस्लिम कवियों का स्थान हिन्दू कवियों ने ग्रहण करके इस परम्परा को कुछ वर्षों तक आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हे इसमें सफलता नहीं मिली। इसके अतिरिक्त काव्य की लोक प्रियता का भी इस परम्परा पर प्रभाव पड़ा। अस्तु अठारहवी शताब्दी के अन्त तक यह धारा लुप्त हो गई।

(ख) क्या प्रेमाख्यानक कवियों का प्रेम अलौकिक है ?

जैसा कि पीछे 'भारतीय-धर्म-साधना में शृंगारिकता का प्रवेश' शीर्षक में स्पष्ट किया गया है ; शैवों और सिद्धों के प्रभाव से जैन कवियों के धार्मिक 'आख्यानों में लौकिक प्रेम का मिश्रण' आठवीं शताब्दी से पूर्व हो गया था। हिन्दी के प्रेमाख्यानों में भी जैन कवियों की अन्य विशेषताओं के साथ-साथ इस

लौकिक प्रेम का भी चित्रण मिलता है। किन्तु कुछ विद्वान जिनका विश्वास है कि भारतीय-धर्म-साधना में प्रेम का प्रवेश ही सूक्तियों के प्रभाव से हुआ—वे हिन्दी के इन आख्यानों में चित्रित प्रेम को सूफी रहस्यवाद अर्थात् आत्मा और परमात्मा के अलौकिक प्रणय की व्यंजना के रूप में ग्रहण करते हैं। ये विद्वान अपने पक्ष के समर्थन में निम्नाङ्कित युक्तियाँ देते हैं—

१—इन कवियों ने सूफी-मत के प्रचार के लिये अपने काव्यों की रचना की।[1]

२—इन काव्यों मे आत्मा और परमात्मा के प्रेम का रूपक बाँधा गया है।[2]

३—इनमे स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक-सिद्धान्तों एवं साधना पद्धतियों का निरूपण किया गया है।[3]

४—इन काव्यों मे नायिका (जो कि परमात्मा की प्रतीक है) के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य का इतने व्यापक रूप मे चित्रण किया गया है जिससे किसी 'अनन्त सौन्दर्य-सत्ता' के स्वरूप का आभास होने लगता है।[4]

५—इनमे प्रेम और विरह का ऐसा वर्णन किया गया है कि जिससे कि आध्यात्मिक स्वरूप का परिचय मिलता है।[5]

युक्तियों की परीक्षा—यद्यपि हमारे विद्वानों ने इन कवियों का काव्य-रचना का उद्देश्य सूफी-मत प्रचार बताया है किन्तु इसके विरोध मे निम्नांकित प्रमाण मिलते है :—

(क)—हिन्दी के प्रेमाख्यान रचयिताओं मे अनेक हिन्दू थे—ईश्वरदास (सत्यवती) पुष्कर (रस-रतन), सूरदास लखनवी (नल-दमन), मेघराज साहा (मृगावती), दुखहरण दास (पुहुपावती), हेमरत्न-सूरि (पदिमनी), नन्ददास

---

१. हिन्दी-साहित्य—ले० हजारी प्रसाद द्विवेदी; प्रथम-संस्करण, पृष्ठ २६३

२. "रत्नसेन का पद्मावती तक पहुँचाने वाला प्रेम-पंथ जीवात्मा को परमात्मा में ले जाकर मिलाने वाले प्रेम-पंथ का स्थूल आभास है।"
—जायसी-ग्रंथावली (शुक्ल) भूमिका, पृष्ठ ५६

३. वही, पृष्ठ १३५

४. वही, पृष्ठ ५५ और पृष्ठ ६१

५. "क्या संयोग, क्या वियोग, दोनों में कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता है....." —वही, पृष्ठ ५५

(रूप-मन्जरी), काशीराम (कनक-मन्जरी), हरसेवक मिश्र (कामरूप) आदि[१]—अतः इनके द्वारा सूफी मत के प्रचार की बात नही उठती। यदि मुसलमान कवियों का उद्देश्य धर्म-प्रचार होता तो हिन्दू कवि इनका अनुकरण करना तो दूर रहा इन रचनाओं का विरोध करते।

(ख)—मुसलमान कवियों ने अपनी काव्य-रचना का उद्देश्य स्पष्ट रूप में बताया है। जायसी ने लिखा है—"मैंने यह सोचकर काव्य लिखा कि संसार मे मेरा कोई स्मारक-चिह्न रह जाय।·····जो लोग इस कहानी को पढ़ेंगे, वे मुझे भी याद करेंगे।[२] उसमान ने चित्रावली की रचना अपनी काव्य-कला का अभ्यास दिखाने के लिये की थी; अतः वे अन्य कवियों को चुनौती देते है—"जिसमें मेरे से अधिक बुद्धि हो, वह इससे अच्छी कहानी लिखकर दिखावे।"[३] साथ ही वे यह भी कहते है—"मेरी कहानी को बच्चे सुनेंगे तो प्रसन्न होंगे, तरुण सुनेंगे तो उनके मन में काम बढ़ेगा,·····भोगी के भोग-विलास मे वृद्धि होगी।"[४] इसी प्रकार आलम (माधवानल काम-कंदला) और नूर मोहम्मद ने भी अपनी रचना का उद्देश्य कामी, रसिक और प्रेमी, लोगों की तृप्ति करना

---

१. इनका विस्तृत परिचय देखिये—हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा —ले० कुलश्रेष्ठ

२. औ मैं जानि कवित अस कीन्हा।
मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।

\+ + + +

जो यह पढ़े कहानी, हम्ह सँवरै दुई बोल॥

—पद्मावत—उपसंहार २

३. जाकी बुद्धि होई अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई॥

—हिन्दी-प्रेम काव्य-संग्रह, पृष्ठ ६

४. बालक सुनत काम रस लावा।
तरुनन्ह के मन काम बढ़ावा॥

\+ + +

भोगी कहँ सुख भोग बढ़ाबा॥

—वही, पृष्ठ ११

बताया है।[1] यूसुफ जुलेखा के रचयिता निसार ने काव्य-रचना का उद्देश्य पुत्र के देहान्त शोक को भुलाना, प्रेमियों के प्रेम को बढ़ाना और अपना स्मृति-चिह्न छोड़ जाना स्वीकार किया है।[2] अतः इन काव्यों का उद्देश्य धर्म-प्रचार बताना उचित नहीं।

दूसरी युक्ति-रूपक—इस काव्य-परम्परा की सर्व-श्रेष्ठ रचना 'पद्मावत' (जायसी कृत) में कवि ने अपने काव्य को एक रूपक घोषित किया—

"मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा।
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माँही।
तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पद्मिनी चीन्हा।
गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनियाँ धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥

---

१. आलम—

कहौं बात सुनौ सब लोग। कथा-कथा सिंगार-वियोग॥
सकल सिंगार विरह की रीति। माधौ-कामकंदला प्रीति॥

\+ + +

प्रीतिवन्त ह्वै सुनै सो कोई। बाढ़ै प्रीति हिएँ सुख होई॥
कामी पुरिष रसिक जे सुनहीं। ते या कथा रैंवि दिन सुनहीं॥

—वही, पृष्ठ २२६

नूर मोहम्मद—

नूर मोहम्मद यह कथा, अहै प्रेम की बात।
जेहि मन होई प्रेम-रस, पढ़ै सोई दिन-रात॥

—वही, पृष्ठ १५३

२. जब तें लतीफ कर मरम बिसेख्यो।
तय सम्पत मिरथा देख्यौ॥

\+ + +

हम न रहब आखर रहजाई।

\+ + +

प्रेमी सुनै प्रेम अधिकावै॥

—वही, पृष्ठ २३३

राघव दूत सोई सैतानू । माया अलाउदी सुलतानू ।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु । बुझि लेउ जौ बुझै पारहु ।।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में चौदह भुवन, घट, तन, हिय, बुद्धि, गुरु, निर्गुण, माया आदि पारिभाषिक शब्द (केवल शैतान को छोड़कर) भारतीय अद्वैत साधना से सम्बन्ध रखते है, किन्तु हमारे विद्वानों ने सूफी साधना को आधार मान कर इस रूपक की व्याख्या की जो पद्मावत के कथानक से मेल नही खाती परिणाम स्वरूप विद्वानों ने यह कहना आरम्भ किया कि यह रूपक पद्मावत के पूर्वार्द्ध पर ही लागू होता है, किन्तु जब इससे भी काम नही चला तो यह कहा जाने लगा कि उपर्युक्त पंक्तियाँ प्रक्षिप्त हैं । किन्तु 'बुझि लेहु जो बुझै पारहु" (समझ लो, यदि समझ सको !) में जो गर्व व्यंजित है, वह उसके रचयिता का ही हो सकता है; किसी अन्य का नही । अत: हमें इस रूपक का वास्तविक अर्थ ढूँढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए ।

रूपक का अर्थ—जायसी ने अपने काव्य में रत्नसेन को मन का तथा पद्मिनी को "हृदय में निवास करने वाली बुद्धि" अर्थात् सात्त्विक ज्ञान का प्रतीक माना है; किन्तु हमारे विद्वानों ने इसके विपरीत रत्नसेन को आत्मा का तथा पद्मिनी को परमात्मा का प्रतीक मान कर रूपक का अर्थ निकालने का प्रयत्न किया[2]—इसी से रूपक मे अनेक असंगतियाँ दृष्टिगोचर होती है । यदि हम 'पद्मावती' में दिये गये संकेतों को उनके शुद्ध रूप में ग्रहण करते हुए रूपक की व्याख्या करें तो इसका एक नया अर्थ प्राप्त होता है, जिसका सूफी-साधना और अलौकिक प्रेम से कोई सम्बन्ध नही है :—

पद्मावत के आरम्भ मे रत्नसेन रूपी मन, चित्तौड़ रूपी शरीर का उपभोग करता हुआ सांसारिक कार्यों में (नागमती) लिप्त है । शुक रूपी गुरु के उपदेश एवं मार्ग-प्रदर्शन से मन (रत्नसेन), सांसारिक कार्यों (नागमती) से विरक्त होकर पद्मिनी रूपी बुद्धि अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करता है । किन्तु इस ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर साधक को गर्व हो जाता है (तेहि दरब राजा गरबाना । दिस्टी माँह कोई और न आना ।।)[3] जिसके फलस्वरूप उसका पतन हो जाता है (गौने के बाद रत्नसेन के जहाज का समुद्र मे डूब जाना) और उसका सारा

---

१. जायसी-ग्रन्थमाली—संपादक रामचन्द्र शुक्ल; चतुर्थ संस्करण, पृ० ३०१
२. जायसी-ग्रन्थवली, रामचन्द्र शुक्ल—भूमिका, पृ० ५६
३. वही—रत्नसेन-विदाई खंड, पृ० १७१

ज्ञान, सारी सिद्धि गर्व के समुद्र में बह जाती है। वह पुनः अपनी प्रारम्भिक अवस्था—शारीरिकता (चित्तौड़) को प्राप्त करता हुआ सांसारिकता (नागमती) की ओर उन्मुख हो जाता है। किन्तु गर्व के शासन के साथ-साथ ही उसे खोई हुई सात्त्विक बुद्धि (पद्मिनी) पुनः प्राप्त हो जाती है। सांसारिक कर्मों के बीच रहते हुए धीरे-धीरे ज्ञान-साधना के विकास का प्रयत्न करता है; फलस्वरूप उसकी सांसारिक (नागमती) और बौद्धिक (पद्मनी) वृत्तियों के बीच संघर्ष (नागमती और पद्मिनी की गृह-कलह) होने लगता है। ऐसी द्वन्द्वात्मक परिस्थिति में मन (रत्नसेन) आसुरी (राघव चेतन) वृत्तियों के मायाजाल (अलाउद्दीन) में उलझ जाता है।

आसुरी वृत्तियों के बन्धन में पड़कर मन बहुत दुःखी होता है (रत्नसेन-बंधन-खंड)। अस्तु साधक की सात्विक बुद्धि का पुनः उदय होता है; उसकी सहायता से वह आसुरी-वृत्तियों के कृत्रिम आकर्षण—मायाजाल को काटकर 'मोक्ष' प्राप्त कर लेता है और उसकी सासारिक एवं आध्यात्मिक वृत्तियाँ (नागमती और पद्मिनी) भी विलीन (सती) हो जाती हैं। पद्मावत का 'बन्धन-मोक्ष खंड इसी आध्यात्मिक मोक्ष की ओर संकेत करता है।

पद्मावत का यह रूपक भारतीय साधना पद्धति से कितना गहरा साम्य रखता है यह देखने के लिये 'कामायनी' के रूपक से इसकी तुलना की जा सकती है। दोनों के पात्रों के प्रतीकार्थों में गहरा साम्य है—

पद्मावती	कामायनी	प्रतीकार्थ
१–रत्नसेन	मनु	मन
२–पद्मिनी	श्रद्धा	जायसी—(हृदय में निवास करने वाली बुद्धि) प्रसाद—(हृदय पक्ष से संबन्धित चित्तवृत्ति)[१]

१. **"मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"**

—कामायनी–आमुख, पृष्ठ ८

३–नागमती	इड़ा	जायसी—'दुनिया-धंधा'
		प्रसाद—सांसारिकता की ओर ले जाने वाली बुद्धि ।
४–राघव-चेतन और अलाउद्दीन	किरात और आकुलि	आसुरी शक्तियाँ ।

घटनाओं की दृष्टि से भी दोनों में मन श्रद्धा या सात्विक बुद्धि को प्राप्त करने के अनन्तर ईर्ष्या एवं अहंकार के कारण आसुरी प्रवृत्तियों (राघव चेतन, किराताकुलि) से ग्रस्त हो जाता है और वह सांसारिक कर्मों (नागमती, इड़ा) की ओर अग्रसर होता है जिसके परिणामस्वरूप उसे कष्ट एवं संघर्षपूर्ण परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। अन्त में सात्विक बुद्धि (पद्मिनी, श्रद्धा) की सहायता से मन को मोक्ष या आनन्द की उपलब्धि होती है।

वस्तुतः जिस प्रकार कामायनी के मूल-रूपक से श्रद्धा और मनु के प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं है तथा स्वरूप लौकिक ही है, ठीक उसी प्रकार रत्नसेन और पद्मावत का प्रेम कथा के लौकिक पक्ष से सम्बन्धित है, उसके दार्शनिक या आध्यात्मिक पक्ष से इस प्रेम का कोई सम्बन्ध नही है। पद्मावत के अतिरिक्त अन्य प्रेमाख्यानों में भी प्रयुक्त रूपकों का सूफी-साधना से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसमान 'चित्रावली' में नायक सुजान को शैव साधक, नायिकाओं—चित्रावली और कमलावती को क्रमशः विद्या और अविद्या (माया) के रूप में चित्रित किया है। साधक विद्या (ज्ञान) को प्राप्त करने से पूर्व चार नगरों को क्रमशः—भोगपुर से गोरखपुर तक—पार करता है। भोगपुर काम क्रोध, भोग-विलास का तथा गोरखपुर गुरु गोरखनाथ की आदर्श भोग-साधना का प्रतीक है। इसी प्रकार 'इन्द्रावती' (रचयिता—नूर मुहम्मद) में राजकुमार 'जीवात्मा' का, इन्द्रावती 'ब्रह्म की ज्योति' और बुद्धसेन ज्ञान का प्रतीक है। नूर मुहम्मद की दूसरी रचना—'अनुराग-बाँसुरी' में तो भारतीय तत्व-चिन्तन का प्रभाव और भी स्पष्ट रूप में व्यंजित है, उसके पात्रों का ही नामकरण भारतीय शब्दों के आधार पर हुआ है—जैसे मूर्त्ति पूर (शरीर) नगर के राजा का नाम जीव ; उसके पुत्र का 'संकल्प और विकल्प' ; अन्तःकरण के तीन मित्रों का नाम बुद्धि, चित्त, और अहंकार आदि। इस काव्य में भी नायक अपने संयम बल एवं संघर्ष द्वारा अन्त में सर्वमंगला रूपी ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करता है।

वस्तुतः इन प्रेमाख्यानों के सम्बन्ध में यह 'निर्विवाद रूप' से कहा जा सकता है कि इनमें चित्रित रूप के नायक आत्मा के नहीं मन के, उनकी

नायिकाएं परमात्मा की नही सात्विक बुद्धि या ज्ञान की प्रतीक हैं तथा उनके दार्शनिक सिद्धान्त सूफी रहस्यवाद से नही भारतीय योगियों की ज्ञान-साधना से सम्बन्ध रखते हैं। सूफी साधक प्रेम द्वारा सिद्धि प्राप्त करता है जब कि इनके नायक ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करते है।

तीसरी युक्ति–आध्यात्मिक सिद्धान्त—जिस प्रकार इन कवियों ने पाठक की जानकारी बढ़ाने के लिये सैकड़ों प्रकार के पकवानों और व्यंजनों की भिन्न-भिन्न जाति के घोड़ों की, वाटिका के अनेकानेक पौधों की, युद्ध के विभिन्न शास्त्रास्त्रों की, शतरंज-चौपड़ की सूक्ष्म चालों की लम्बी सूचियाँ, अपने काव्य मे प्रस्तुत की है, इसी प्रकार इन्होंने दार्शनिक तत्वों का बोध कराने के लिये स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का निरूपण किया है। इसके पीछे इन कवियों का कोई धर्म-प्रचार का उद्देश्य नहीं था; यदि ऐसा होता तो वे हिन्दू दर्शन और नाथ-पन्थी भोगियों की पद्धति का प्रतिपादन नही करते। न ही ऐसा समझना चाहिए कि इन काव्यों के रचयिता कोई पहुँचे हुए संत, फकीर या धर्मोपदेशक थे। इन कवियों का व्यक्तित्व लगभग हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास जैसा दिखाई पड़ता है जिन्होंने अपने काव्य के वैभव-वृद्धि के लिए उन्हें 'ज्ञान-कोष' का रूप देने का प्रयत्न किया।

चौथी युक्ति—नायिका का व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य—इन काव्यों को सूफी रहस्यवाद से सम्बन्धित मानने वालों की चौथी युक्ति यह है कि इनमें नायिका के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य को इतना व्यापक रूप प्रदान किया है कि उसमें किसी विराट सत्ता के रूप का आभास होने लगता है। किन्तु यह युक्ति भी हमें उचित प्रतीत नही होती। जहाँ तक नायिकाओं के व्यक्तित्व का सम्बन्ध है उन्हें हम अनेक दोषों—गर्व, ईर्ष्या, द्वेष आदि से पूर्णतः समन्वित पाते है। यही नहीं उनका प्रेम भी पूर्णतः कामुकता से ग्रसित है। जायसी की 'पद्मिनी' युवावस्था को प्राप्त होते ही शुक से कहती है—

सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई॥
जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥

—जन्म-खंड[1]

रत्नसेन के सिंहलगढ़ में पहुँचने के अनन्तर भी हम पद्मावती को एक काम-वासना एवं भोग लिप्सा से विह्वल युवती के रूप में देखते हैं—

१. पद्मावत—जन्म खंड पृ० २१

कँवल भँवर ओही बन पावै । को मिलाइ तन तपनि बुझावै ।

\+ + + +

जोबन गरुअ-अपेल पहारू । सहि न जाइ जोबन कर भारू ।
जोबन अस मैमन्त न कोई । नवै हस्ति जो आँकुस होई ।
जोबन भर भादौं जस गंगा । लहरें देइ, समाइ न अंगा ।[१]

यहाँ 'तन-तपनि', 'यौवन-भार' एवं कामोन्माद का जैसा वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट है कि पद्मिनी का प्रेम सर्वथा लौकिक स्तर का है, उसमे आध्यात्मिकता या अलौकिकता ढूंढ़ने का प्रयत्न अनावश्यक है ।

जो विद्वान इन काव्यों मे नायिका के अतिशयोक्ति पूर्ण सौन्दर्य-वर्णन में विराट सत्ता के रूप का दर्शन करते हैं वे यह न भूलें कि इन कवियों ने केवल नायिका के ही सौन्दर्य का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन नही किया है—वे प्रसंग में भी अतिशयोक्ति का प्रयोग करते है । उदाहरण के लिये पद्मावत् मे दिल्ली सुलतान शेरशाह, चित्तौड़ के योद्धा वादल की नवबधू, सिंहल की वेश्याओं और मदमाती नवसुन्दरियों के रूप में चित्रित निर्जीव तोपों के 'सौन्दर्य में भी कवि ने वही चमत्कार दिखाया है जो नायिका—पद्मिनी के सौन्दर्य में मिलता है । शेरशाह इतना सुन्दर था कि पृथ्वी उसी के दर्शन के लिए ठहरी हुई है;[२] बादल की नवबधू की शृंगार-सज्जा इतनी आकर्षक थी कि उसके तिलक को देखकर भी द्रष्टा उसी स्थान पर प्राण त्याग देता था;[३] सिंहल की वेश्याएँ अपने कटाक्षपात मात्र से प्राण निकालने में समर्थ थी ।[४] तथा सुन्दरियों के रूप मे

---

१. वही—पद्मावती-वियोग-खंड, पृ० ७४

२. रूपवन्त, मनि माथे, चन्द्र घाटि वह बाढ़ि ।
मेदिनि दास लोभानी, अस्तुति बिनवै ठाढ़ि ।।—वही—स्तुति-खंड, पृ० ६

३. 'तिलक जो देख ठाँव जिउ तजा'—वही—गोरा-बादल-युद्ध-यात्रा-खंड, पृष्ठ २८३

४. किए सिंगार बैठीं तहँ बेसा ।

\+ + + +

भौंह धनुष तिन्ह नैन अहेरी ।
मारहिं बान सान सौं फेरी ।
अलक कपोल डोल हँसि देहीं ।
लाइ कटाछ मारि जिउ लेहीं ।।—वही—सिंहल द्वीप वर्णन-खंड, पृ० १४

चित्रित तोपों के 'कुच रूपी गोलों में सारे संसार को नष्ट करने की क्षमता थी'[1]—अतः उनके काव्य मे आध्यात्मिकता का दर्शन करने वाले विद्वान केवल पद्मिनी में ही नही—शेरशाह से लेकर इन तोपों तक में विराट सौन्दर्य का आभास पा सकते है।

पाँचवी-युक्ति—प्रेम और विरह का व्यापक वर्णन—जैसा कि पीछे कहा गया है इन कवियों ने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों की परम्परा का निर्वाह करते हुए प्रेम और विरह का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण शैली मे किया है। संस्कृत कवि बाण भट्ट ने भी अपने प्रेमाख्यान—कादम्बरी में विरह का इतना व्यापक चित्रण किया है कि उससे नायक की मृत्यु तक हो जाती है। अतः इस शैली से अपरिचित पाठक को इसमें अलौकिकता का भ्रम होना स्वाभाविक है।

अस्तु, उपयुक्त युक्तियों पर विचार करने के अनन्तर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इन काव्यों में सूफी रहस्यवाद की अभिव्यंजना मानना एक भ्रम मात्र है। यद्यपि हमारे कुछ विद्वानों तथा शोध-कर्त्ताओं ने इन रचनाओं को सूफी रहस्यवाद से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उन्हें इसमें सफलता नही मिली। यहाँ हम डा० विमलकुमार जैन (जो कि हिन्दी में सूफी मतवाद के इतने कट्टर समर्थक है कि उन्होंने अनेक आधुनिक कवियों—प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी को भी सूफी मतवाद से प्रभावित सिद्ध कर दिया है।) के शोध-प्रबन्ध से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना उचित समझते है—

"इसमे (जायसी के आखिरी कलाम मे) फरिश्तों तथा मुहम्मद साहब का जो स्थान है वह इस्लाम के अनुसार ही प्रदर्शित किया गया है, वह सूफी सिद्धान्तों से पूर्णतः मेल नही खाता।....."[2]

"इसकी (पद्मावत की) कथा मे जो नख-शिख, प्रेमावेश तथा ऐसी ही अन्य बातों का वर्णन है उससे आध्यात्मिक पक्ष को कुछ धक्का सा लगता प्रतीत होता है।"[3]

"इन सभी काव्यों में योगी भावना कार्य कर रही है। ऐसा दीख पड़ता है कि इन साधकों पर योगियों का अपार प्रभाव था। सभी में नायक

१. वही—बादशाह चढ़ाई-खंड, पृष्ठ २२५
२. सूफीमत और हिन्दी साहित्य—लेखक—डा० विमलकुमार जैन, प्रथम-संस्करण, पृ० १२०।
३. वही—पृष्ठ, १२१।

योगी होकर ही निकले हैं और योग-साधना से ही उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है तथा गोरखनाथ, गोपीनाथ और भर्तृहरि का नाम तो प्रायः देखने में आता है।"[१]

हिन्दी साहित्य में इन कवियों के काव्यों में हमें जो कुछ भी सूफीमत मिलता है उसके पर्यालोचन से यह परिणाम निकलता है कि वह मध्य पूर्व के प्रदेशों में सिद्धान्तीभूत सूफीमत से बहुत कुछ विभिन्नता रखता है।"[२]

आश्चर्य है कि डा० जैन ने अपने उपर्युक्त निष्कर्षों के बावजूद भी इन कवियों पर सूफीमत को बलात् आरोपित करने का असफल प्रयत्न किया है। यदि इसी प्रकार रहस्यवाद का आरोपण करना हो तो फिर संसार के किसी भी प्रेमाख्यान के नायक-नायिका को आत्मा-परमात्मा के प्रतीक बताकर उनके मिलन को आध्यात्मिक मिलन की संज्ञा दी जा सकती है। उस स्थिति में कृष्ण को परमात्मा एवं राधा को आत्मा की प्रतीक मानकर हिन्दी के सभी शृङ्गारी कवियों को रहस्यवादी स्वीकार करना होगा। यह ध्यान रहे कि इस युग में उत्तरी भारत की समस्त भाषाओं के साहित्य में प्रेमाख्यानों की बाढ़ आई हुई थी—राजस्थानी और पंजाबी में भी अनेक प्रेमाख्यान—'ढोला-मारू' 'हरि-राँझा' 'सदय-वत्स-सावलिंगा', 'ससी-पुन्नू' आदि लिखे गये थे, जिनका सूफीमत से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अतः इन कवियों के काव्य-रचना के उद्देश्य—"कामी, भोगी एवं रसिकों के काम को बढ़ाना;" यौवन के उन्माद एवं कामुकता के विस्तृत-चित्रण; लौकिक शृङ्गार की विभिन्न अवस्थाओं—संभोग, मिलन आदि के वर्णन रूपकों में निहित अर्थ, चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति एवं इनके आत्मोल्लेखों के आधार हम निसंकोच रूप से कह सकते है कि भले ही इन कवियों ने अपने साहित्य के वैभव में वृद्धि करने के लिए हिन्दू-दर्शन की अनेक बातों का समावेश अपने काव्य में कर लिया हो, किन्तु इनके द्वारा चित्रित प्रेम का रूप सर्वथा लौकिक है; उसका आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध नही है।

(ग) जायसी का शृङ्गार-चित्रण

'हिन्दी प्रेमाख्यानक-काव्य-परम्परा' की सर्वश्रेष्ठ रचना जायसी कृत 'पद्मावत' मानी जाती है। इसका नायक रत्नसेन है जो कि हीरामन तोते के

---

१. वही—पृष्ठ १३८।
२. वही—पृष्ठ, १३९।

मु ह से पद्मिनी के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर उसके प्रेम मे विह्वल हो जाता है। वह अपने घर, परिवार, और देश को छोड़कर उसकी प्राप्ति के लिये निकल जाता है तथा अनेक कठिनाइयों के पश्चात् उसकी प्राप्ति में सफल हो जाता है। विवाह के अनन्तर भी पद्मिनी और रत्नसेन को कई कष्टों का सामना करना पड़ता है। अन्त मे जब दिल्ली-सुल्तान अलाउद्दीन से युद्ध करता हुआ रत्नसेन वीर-गति को प्राप्त हो जाता है तो उसकी दोनों रानियाँ—नागमती और पद्मिनी सती हो जाती है। इस काव्य में शृङ्गार रस के सभी अवयवों एवं अनेक दशाओं का मार्मिक वर्णन उपलब्ध होता है।

(क) **आलम्बन**—नारी सौन्दर्य के चित्रण में जायसी ने परम्परागत नख शिख-वर्णन की शैली का प्रयोग किया है। उन्होंने नारी रूप के सामूहिक प्रभाव की व्यंजना की अपेक्षा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का अलग-अलग वर्णन किया है। वे अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण—शक्ति के बल पर प्रत्येक अवयव की बाह्य एवं आन्तरिक सभी विशेषताओं का उद्घाटन कुशलतापूर्वक कर देते हैं, यथा केशों का एक वर्णन देखिये :—

भंवर केस, वह मालति रानी। बिसहर लुरहिं लेहिं अरधानी।
बैनी छोरि झारू जौं बारा। सरग पतार होइ अंधियारा।
\+ \+ \+ \+
बेधे जानु मलयगिरि बासा। सीस चढ़े लौटहिं चहुँपासा।
घुँघरवारि अलकें बिखभरी। सिकरी प्रेम चरहिं गियं परी।

(१२७)

यहाँ केशों की श्यामवर्णता, वक्रता, सुगन्धी, एवं मनमोहकता आदि सभी गुणों की व्यंजना भ्रमर, विषधर, अंधकार, मलयगिरि और शृंखला (जंजीर) आदि उपमानों की सहायता से कर दी गई है।

वस्तु के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण के अतिरिक्त जायसी के सौन्दर्य-वर्णन में कुछ प्रवृत्तियाँ और मिलती हैं। एक तो उन्हें वर्णन-विस्तार से इतना अधिक प्रेम है कि उनका नख-शिख-वर्णन एक पूरे सर्ग का रूप ले लेता है। दूसरे, वे अत्युक्तियों एवं अतिशयोक्तियों का इतना अधिक प्रयोग करते हैं कि उनके वर्णनों में अस्वाभाविकता आ जाती है। इसी अस्वाभाविकता से अलौकिकता का भी भ्रम हो जाता है। तीसरे, वे सौन्दर्य वर्णन के लिये कथावस्तु के प्रवाह और प्रसंग के औचित्य का ध्यान नहीं रखते। चाहे राजकुमारी पद्मिनी हो, सिंहल द्वीप की वैश्यायें हों या युद्ध में प्रयाण करते हुए बादल की नवबधू हो—जहाँ भी

उन्हें अवसर मिला लम्बे-लम्बे वर्णन प्रस्तुत कर दिये। सुन्दरियों के रूप का प्रभाव सिद्ध करने के लिये भी वे द्रष्टा के आहत हो जाने, मूर्छित हो जाने या प्राण-त्याग देने की कल्पना बारम्बार करते हैं। फिर भी सौन्दर्य की व्यंजना उनके काव्य में वर्णन के रूप में ही होती है, चित्रण के रूप में नहीं। एक-एक अंग का अलग-अलग बिखरा हुआ सौन्दर्य किसी समन्वित प्रभाव की सृष्टि नहीं करता, उनकी अत्युक्तियाँ आश्चर्यजनक होते हुए भी पाठक के हृदय को तरंगित करने में असमर्थ है और उनका विस्तृत वर्णन ऊबा देने वाला सिद्ध होता है। नारी की सूक्ष्म चेष्टाओं एवं मधुर भाव-भंगिमाओं का चित्रण भी उनके काव्य में बहुत कम हुआ है।

(ख) उद्दीपन—शृंगारोद्दीपन के लिये भी जायसी ने ऋतु-वर्णन एवं बारहमासा कथन की परम्परागत शैलियों का व्यवहार किया है, फिर भी उनकी कुछ अपनी विशिष्टतायें हैं। संयोग में समय शीघ्र बीत जाता है, किन्तु विरह के क्षण लम्बे होते हैं, अतः जायसी ने दोनों के लिये क्रमशः ऋतु वर्णन और बारहमासा वर्णन का आयोजन करके सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है, क्योंकि पहले वर्ष को केवल छः भागों से बाँटा जाता है, जबकि दूसरे में बारह भाग होने के कारण वह अधिक दीर्घ प्रतीत होता है। यद्यपि वर्णन-विस्तार एवं अत्युक्तियों के प्रयोग की प्रवृत्तियाँ इस क्षेत्र में भी कवि का साथ नहीं छोड़ती किन्तु फिर भी यहाँ अनुभूतियों के योग से चित्रण पर्याप्त मार्मिक बन गये हैं, चाहे वे वर्षा ऋतु का वर्णन कर रहे हों या शरद का, प्रत्येक अवस्था में वे बाह्य प्रकृति के साथ मानवात्मा का सम्बन्ध स्थापित करते हुए, वे मानवी क्रिया-कलापों से परिपूर्ण स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक दृश्यों का अंकन करते हैं। उदाहरण-स्वरूप कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

रितु पावस बरसै, पिउ पावा। सावन भादों अधिक सोहावा।
कोकिल बैन, पांत बग छूटी। घनि निसरी जेउं बीर बहूटी।
चमके बिज्जु बरिस जग सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना।
रंगराती पिय संग निसि जागे। गरजे चमकि चौंकि गर लागे।
सीतल बुन्द ऊँच चौपारा। हरियर सब देखिअ संसारा॥

—पृष्ठ ३८५

यहाँ कवि ने पहले पावस की स्थूल विशेषताओं—बाह्य दृश्यों एवं पक्षियों के परिवर्तन का वर्णन कर दिया है। उसके अनन्तर वह पाठक को

संयोगियों की सुखानुभूति का आस्वादन कराने के लिये उस रंग महल में ले जाता है, जहाँ कोई नववयस्का अपने प्रियतम के पार्श्व में लेटी हुई बार-बार विद्युत-गर्जना से चौंक कर प्रियतम के गले से जुड़ जाती है। कहना न होगा कि युवती बाला की यह भय-मिश्रित चेष्टा भी रसिक पति के लिये आमोद की कितनी सामग्री अनायास ही प्रस्तुत कर देती है।

संयोग कालीन दृश्यों की ही भाँति वियोग सम्बन्धी वर्णनों में भी कवि ने प्रकृति के प्रभाव को अंकित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। आमोद-प्रमोद से परिपूर्ण संयुक्त दम्पतियों की बरसात, विरहिणियों के लिये कैसा कठोर रूप धारण कर लेती है, इसका वर्णन यहाँ देखिये :—

भर भादों दूभर अतिभारी। कैसें भरों रैनि अंधियारी॥
मंदिल सून पिय अनते बसा। सेज नाग मैं धे धे डसा॥

\+ + + +

चमकि बीज घन गरजि तरासा। विरह विकल होइ जीउ गरासा।
बरसै मघा झंकोरि झंकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी।

—पृष्ठ ३६६

जहाँ संयोग-कालीन दृश्यों के चित्रण मे कवि के प्रत्येक शब्द से उल्लास की अभिव्यक्ति होती थी वहाँ उपयुक्त वर्णन में वातावरण की कठोरता को ऐसे शब्दों में उपस्थित किया गया है कि पाठक का हृदय अनुभूति से ओत-प्रोत हो जाता है। वस्तुतः जायसी का प्रकृति-वर्णन कल्पना और अनुभूति के सुन्दर सामंजस्य से पूर्ण है और वह स्थायी भाव की व्यंजना के अनुरूप पृष्ठभूमि तैयार करने मे पूर्णतः समर्थ है।

(ग) आश्रय—पद्मावत में प्रणय-भावना का आश्रय प्रारम्भ में केवल नायक ही रहता है जो अपने प्रयत्नों से नायिका के हृदय को भी जीत लेने में सफलता प्राप्त कर लेता है। यद्यपि तोते के मुख से नख-शिख-वर्णन सुनकर रत्नसेन का सौन्दर्यानुभूति से मूर्छित हो जाना कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होता है किन्तु इसके अनन्तर प्रेमानुभूतियों की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक रूप में हुई है। ज्योंही नायक की सौन्दर्यानुभूति प्रणय भावना में परिणत होती है वह अपनी आकांक्षाओं को इन शब्दों में व्यक्त करता है :—

फूल फूल फिरि पूछौं, जो पहुँचौ आहिं केत।
तन निछावर के मिलौं, ज्यों मधुकर जिउ देत।

—वही, पृष्ठ १५६

प्रेमी की इन उक्तियों में निश्चय की दृढ़ता का बाँध होता है पर यह दृढ़ता सुनिश्चित विचार-जनित नहीं है अपितु साधना की गंभीरता से प्रेरित है।

संचारी भाव—भावनाओं के एक लक्ष्य की ओर केन्द्रित होते ही अन्य विषयों से उनका सम्बन्ध स्वभावतः ही शिथिल हो जाता है। यही कारण है कि शृंगार रस के क्षेत्र में रति और निर्वेद जैसे दो विरोधी संचारी भावों की स्थिति के साथ संभव होती है। रत्नसेन के हृदय में भी प्रणय की गंभीरता के साथ ही वैराग्य की सृष्टि हो जाती है और वह अपना सब कुछ त्याग कर घर से निकल जाता है :—

तजा राज राजा भा जोगी। ओ किंगरी कर गहेउ वियोगी।
तन विसंभर मन बाउर रटा। अरुझा प्रेम परी सिर जटा॥

रत्नसेन का यह निर्वेद संयोग होने तक बराबर प्रणय भावना के साथ चलता रहता है। इसके अतिरिक्त संचारी भावों की भी योजना कवि ने अवसरानुकूल सफलता पूर्वक की है। ज्योतिषियों के इस कथन पर कि एक दिन ठहर कर अच्छे मुहूर्त में जाओ, राजा का उत्तर उसके औत्सुक्यभाव की व्यंजना करता है :—

प्रेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखे जब होइ सरेखा।

\+ + + +

हौं रे पथिक पखेरू जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम अपने घर जाहु॥

अनुभावों की योजना—प्रेमी की मानसिक दशा की विवृत्ति के लिये कवि ने अनुभावों की भी योजना की है। यहाँ कायिक एवं मानसिक अनुभावों का समन्वित चित्रण देखिये :—

ठांवहि सोवहिं सब चेला। राजा जागै आपु अकेला।
जेहि के हिए प्रेम रंग जामा। का तेहि भूख नीद बिसरामा।

—वही, पृष्ठ १७०

फिर भी जायसी ने हृदयस्थ भावों की व्यंजना के लिये बाह्य अनुभावों का आश्रय बहुत कम लिया है। इसका कारण प्रेम के वियोग पक्ष की प्रधानता है, क्योंकि शारीरिक स्थूल चेष्टाओं की आयोजना संयोग पक्ष में ही अधिक उपयुक्त होती है। हाँ, कवि ने वाचिक अनुभावों (उक्तियाँ) द्वारा प्रणयावस्था

का बोध कराने का प्रयत्न बार-बार किया है, जिसमें सफल हुए हैं। कुछ उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

हौं पद्मावति कर भिख-मंगा। दिष्टि न आव समुद औ गंगा।

\+ + +

राजे कहा, दरस जो पावों। परबत कहा, गगन कहुं धावों।
जेहि परबत पर दरसन लहना। सिर सों चढ़ों पाय का कहना।

\+ + +

जटा छौरि के बार बौहारों। जेहि पंथ हौहि सीस तहं बारों।

रत्नसेन की ये उक्तियाँ साहस, उत्साह और त्याग के अपूर्व भावों से मिश्रित हैं। इनसे उसके प्रेम की गम्भीरता का पता चलता है।

पद्मिनी की प्रेमानुभूतियाँ—पद्मिनी में हम प्रेमानुभूतियों का विकास क्रमिक रूप में पाते हैं। प्रारम्भ में वह काम वेदना से पीड़ित है :—

सुनु हीरामनि कहों बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई।

\+ + +

जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह-देह हम्ह लाग अनंगा।

—वही, पृष्ठ ७४

आगे चलकर रत्नसेन के दर्शन के अनन्तर उसकी यह कामवासना प्रेम में परिणत हो जाती है और जब वह सुनती है कि उसका प्रियतम उसी के लिये शूली पर चढ़ रहा है तो उसके हृदय का अणु-अणु पिघल कर भावना के रूप में बहने लगता है। उसका संदेश है :—

जनि जानहु हों तुम्ह सों दूरी। नयनन्हि माँझ गड़ी वह सूरी।

\+ + +

जों रे जियहिं मिलि गर रहहिं, भरहिं तो ऐके दोउ।
तुम्ह जिउ कहँ जिनि होइ किछु, मोहि जिउ होउ सो होउ।

उपर्युक्त शब्दों में हम प्रणय भावना से उस उत्कृष्ट रूप का दर्शन करते हैं जहाँ प्रेमाश्रयी अपने प्रिय के हित के लिये अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिये प्रस्तुत हो जाता है।

संयोगानुभूतियाँ—जायसी ने नायक-नायिका की संयोगानुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये प्रथम समागम, हास-परिहास, शतरंज-चौपड़ के मनोरंजन, सुरत एवं सुरतान्त आदि का विस्तृत वर्णन किया है। विवाह के अनन्तर प्रथम

रात्रि में प्रियतम के पास जाती हुई पद्मावती की हृदय-दशा का परिचय उसके इन शब्दों में मिलता है—

अनचिन्ह पिउ काँपे मन माहाँ । का मैं कहब गहब जब बाँहाँ ।

जब रत्नसेन अपने प्रेम-पूर्ण शब्दों से उसका भय और संकोच दूर कर देता है, तो वह भी अपना कृत्रिम भोलापन प्रदर्शित करती हुई अपनी हास-व्यंगमयी उक्तियों से छेड़-छाड़ करने लगती है :—

अपने मुँह न बड़ाई छाजा । जोगी कतहुँ न होहि नाहि राजा ।

\+ \+ \+

जोगी भँवर न थिर ये दोऊ । केहि आपन भए कहै सो कोऊ ।।

संयोगपक्ष के अन्य अंगों व क्रिया-कलाओं के वर्णन में भी जायसी ने असंयम से काम लिया है । उसके फलस्वरूप उनके संयोग-वर्णन अत्यन्त स्थूल, शिथिल एवं अश्लील हो गये हैं ।

(घ) स्थायी-भाव का उत्कर्ष

पद्मावत में प्रेम-भावना के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उसमें नायक और नायिका मे प्रेम का विकास एक साथ नही होता । दोनों के प्रेम की प्रवृत्ति एवं गति मे भी पर्याप्त भेद है । रत्नसेन प्रेम के आदर्शस्वरूप को उपस्थित करता है जबकि पद्मावती यथार्थ एवं व्यावहारिक रूप को। कुछ विद्वानों ने रत्नसेन मे प्रेम के एका-एक प्रादुर्भाव को अस्वाभाविक एवं रूप का लोभ मात्र सिद्ध किया है । आदर्श प्रेम का कोई निर्दिष्ट कारण नही होता, संभवतः इसीलिये कवि ने ऐसा दिखाया है । आर्दश प्रेम आरम्भ से अन्त तक एक रस रहता है । तथा उसमे साहस और त्याग का पूर्ण समन्वय होता है, ये दोनो विशेषतायें हम रत्नसेन के प्रेम में पाते है ।

दूसरी ओर पद्मावती की प्रणय-भावना मे हम क्रमिक विकास पाते है। परिस्थितियों के अनुसार उसमे प्रेम कामुकता और रसिकता की सीमा को पार करके अपने विशुद्ध एवं गम्भीर स्वरूप को प्राप्त कर लेता है जो मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से बहुत संगत है । अपने विकास की चरमावस्था मे आदर्श प्रेम और यथार्थ प्रेम दोनों एक स्तर पर पहुँच जाते हैं । पद्मावती की प्रणय भावना अन्त में साहस, त्यागादि के उन सभी गुणों से समन्वित हो जाती है जो रत्नसेन में हम प्रारम्भ से ही पाते है । अस्तु, कवि ने इसमें नायक और नायिका दोनों के प्रेम को चरमावस्था तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त की है ।

रत्नसेन और पद्मावती के प्रणय सम्बन्ध के कारण नागमती का कष्ट भोग और विवाह के अन्तर दोनों सपत्नियों की ईर्ष्या, कलह आदि देखकर कदाचित कुछ लोग उनके प्रेम को अश्रद्धा की दृष्टि से देखें, अतः इस दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। कवि ने आरम्भ में नागमती को रूप गर्विता एवं तोते की हत्या में प्रयत्नशील दिखाकर पाठक की सहानुभूति के मार्ग में अवरोधक लगा दिया है, अतः उसके प्रति राजा का निष्ठुर व्यवहार उचित प्रतीत होता है। नागमती का दारुण-विरह अवश्य हृदयद्रावक है किन्तु रत्नसेन उसका संदेश प्राप्त होते ही लौट जाता है। सपत्नियों की प्रारम्भिक गृह-कलह भी स्वाभाविक है जो आगे परिस्थितियों की कठिनता से शान्त हो जाती है। अतः नागमती सम्बन्धी प्रकरण रस-निष्पति में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता।

वस्तुतः इस काव्य में प्रेम के आदर्श और यथार्य—दोनों गुणों से समन्वित करते हुए उसे पूर्ण उत्कर्ष तक पहुँचा दिया गया है। भारत की अन्य काव्य-परम्पराओं में यह दोष रहा है कि चाहे लोकापवाद के भय से शकुन्तला को ठुकरा देने वाला दुष्यन्त हो, भावी आशंकाओं से दमयन्ती को त्याग देने वाला नल हो, धोबी की उचित राय पर पत्नी को निर्वासित कर देने वाला राम हो या मथुरा के राज्य कार्य में व्यस्त होकर बाल सहचरी राधा को भूल जाने वाला कृष्ण हो—अधिकांश प्रेमियों ने जीवन की परिस्थितियों के आगे प्रेम का निर्वाण कर दिया है। यह ठीक है कि लोक धर्म की प्रेरणा से ही कुछ प्रेमियों को ऐसा करना पड़ा होगा, पर क्या अपनी प्रेयसियों का त्याग और निर्वाचन करने वाले प्रेमी दुष्यन्त या राम अपना राज्य भार अपने छोटे भाइयों या किसी अन्य योग्य व्यक्ति को सौंप कर स्वयं भी अपनी प्राण-प्रियाओं का साथ नहीं दे सकते थे? यदि कृष्ण मथुरा या द्वारका में सौलह हजार रानियों में एक गोकुल की राधा को भी स्थान दे देते तो उन्हें कौन रोक सकता था? लोक-धर्म और प्रेम में सच्चा प्रेमी किस मार्ग को अपनाता है इसका उदाहरण आधुनिक युग में भी अष्टम एडवर्ड ब्रिटिश साम्राज्य को ठुकरा कर दे चुके हैं। वस्तुतः जब से भारतीय समाज में नारी के व्यक्तिगत मूल्य का ह्रास हुआ है पुरुष उसके लिये इतना बड़ा त्याग करना अनावश्यक समझता है। बिना साहस और त्याग के प्रेम पूर्ण गम्भीरता को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है।

वस्तुतः प्रेम का यह उच्च आदर्श भारतीय साहित्य में केवल संघर्ष-प्रधान शृङ्गार सम्बन्धी रचनाओं में ही मिलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जायसी ने अपने पूर्ववर्ती संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रन्श कवियों द्वारा विकसित शृङ्गार के इस रूप की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का समुचित विकास किया है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य-परम्परा

गीति-परम्परा का विकास—भारतीय गीति परम्परा के हमें दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। पहला सिद्धों के चर्यागीतों में शान्त रस प्रधान और दूसरा, गीत गोविन्दकार का शृङ्गार-रस-प्रधान। ये दोनों ही संस्करण हिन्दी को विभिन्न स्रोतों से प्राप्त हुए। सिद्धों की गीति परम्परा, नाथ-पंथी योगियों में होती हुई कबीर, रैदास, नानक आदि संतों के द्वारा हिन्दी को प्राप्त हुई। दूसरी ओर जयदेव की गीति परम्परा विद्यापति, चण्डीदास आदि कवियों द्वारा विकसित हुई जिसका प्रचार चैतन्य देव द्वारा समस्त उत्तरी भारत में हो गया। हिन्दी की कृष्ण भक्ति काव्य धारा के श्रेष्ठ कवि सूरदास के आविर्भाव से पूर्व हिन्दी प्रदेश में संतों की गीति परम्परा का अधिक प्रचार था तथा सूरदास के भी आरम्भिक गीत जो कि शान्त-रस प्रधान हैं, इसी परम्परा में आते हैं, किन्तु उनके पुष्टि मार्ग में प्रवेश के साथ-साथ ही उनकी काव्य-धारा का स्वरूप भी बदल गया और वे राधा-कृष्ण की लीलाओं का गान करने लग गये। बल्लभाचार्य जी का बंगाली वैष्णवों से घनिष्ट सम्बन्ध था और उनके मन्दिर में वे पूजा का काम करते थे, अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीतों का यह नया आदर्श जो कि जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास एवं चैतन्य देव से सम्बन्धित था, आचार्य जी को इन बंगाली वैष्णवों से ही प्राप्त हुआ होगा। इस प्रकार राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों की यह पूर्वी परम्परा ब्रज-भाषा काव्य में प्रतिष्ठित हुई, जिसे पुष्टिमार्ग के कवियों के अतिरिक्त अन्य कृष्ण भक्त कवियों ने भी अपनाया। पुष्टि-सम्प्रदाय के प्रमुख कवि अष्टछाप के रूप में प्रसिद्ध हैं—उनके अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी अन्य सम्प्रदायों में भी अनेक कवि हुए हैं। इनमें से कुछ प्रमुख कवियों का नामोल्लेख यहाँ किया जाता है।

(क) **अष्टछाप के कवि**[1]—१–सूरदास (१४७८-१५८३ ई०) २–कुम्भनदास (१४६८-१५८३ ई०) ३–परमानन्द दास (१४९३-१५८४ ई०)

---

१. **इन कवियों का जीवन काल अष्टछाप परिचय के आधार पर दिया गया है।**

४–कृष्ण दास (१४६६-१५७६ ई०) ५–गोविन्द स्वामी (१५०५-१५८५ ई०) ६–छीत स्वामी (१५१५-१५८५ ई०) ७–चतुर्भुजदास (१५३०-१५८५ ई०) ८–नन्द दास (१५३३-१५८३ ई०)।

इनके अतिरिक्त अष्टछाप के अतिरिक्त पुष्टि-सम्प्रदाय से सम्बन्धित ६२ कवियों की तालिका अष्टछाप परिचय (लेखक प्रभुदयाल मीतल) में, पृष्ठ संख्या ४१ पर दी गई है।

(ख) पुष्टि-सम्प्रदायेतर कवि—१–हित हरिवंश २–गजाधर भट्ट ३–मीराबाई ४–स्वामी हरिदास ५–सूरदास मदनमोहन ६–श्री भट्ट ७–हरिराम व्यास ८–ध्रुवदास।

इन कावियों का जीवन काल ईसा की १६वी शताब्दी है। प्रायः इन सभी कवियों ने सूरदास की शैली का अनुकरण करते हुए पद रचना की है जिन कवियों ने कुछ अन्य शैलियों का प्रयोग किया है, उन्होंने भी थोड़े बहुत पद इस शैली मे अवश्य लिखे है, अतः इस काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि के रूप मे सूर का अध्ययन आगे किया जायगा। यहाँ इन कवियों के काव्य से कुछ उदाहरण देखिये :—

(१) जबते प्रीति स्याम सों कीनी।
ता दिन तें मेरे इन नैननि नैकहुँ नीद न लीनी॥
सदा रहति चित-चाक चढयो सो और न कछू सुहाय।
मन में करत उपाय मिलन कौ, इहै विचारत जाय॥
परमानन्द प्रभु पीर प्रेम की, काहू सों नहिं कहिए।
जैसे विथा मूल बालक की, अपने तन मन सहिए॥
—परमानन्द दास (अष्टछाप-परिचय १६३)

(२) सखी हों स्याम रंग-रंगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरत माहिं पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो, सोई रही रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परे, सखि नेकु न न्यारो होई॥

\+ + +

कैसे कै कहिजात गदाधर गूंगे ते गुरु स्वाद।
—गदाधर भट्ट (हि० सा०, पृष्ठ १८२)

(३) नवल किशोर, नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर स्याम भुजा अपने उर धरिया।
करत विनोद तरनि तनया तट स्यामा-स्याम उमगि रस भरिया॥

\+ + +

सूर मदन मोहन बलि जोरी, नन्द-नन्दन वृषभानु दुलरिया।
—सूरदास मदनमोहन (वही, पृष्ठ १८७)

परम्परा का ह्रास—यद्यपि इस परम्परा में छुट-पुट कवि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक होते रहे हैं किन्तु इस काव्य-धारा का प्रभाव अठारहवी शताब्दी के आरम्भ से ही क्षीण हो गया तथा काव्य-रचना की गति अत्यन्त मंद हो गई। इसके कई कारण हैं, प्रथम तो औरंगजेब की साम्प्रदायिक नीति के कारण अनेक भक्ति-केन्द्रों एवं मन्दिरों का संगठन छिन्न-भिन्न हो गया, जिससे भक्त-कवि निराश्रित होने लगे, दूसरे आगे चलकर स्वयं इस परम्परा के पोषक आचार्यो एवं कवियों के चरित्र का पतन होने लगा, जिससे जनता की श्रद्धा भावना में ह्रास होने लगा और तीसरे, इसी राधा-कृष्ण काव्य परम्परा का एक नया संस्करण राजाश्रित कवियों ने कवित्त-सवैयों में किया जो अपनी नवीनता के कारण बहुत लोक-प्रिय हुआ जबकि दूसरी ओर गीति-शैली के पद शास्त्रीय संगीत के जटिल नियमों से आबद्ध होकर श्रोताओं को उबा देने वाला रूप ग्रहण करते जा रहे थे। इसके अतिरिक्त इस के अन्तर्गत इतनी काव्य रचना हो चुकी थी कि नये कवियों के पदों में भी पुराने कवियों की ही उक्तियों का पिष्ट-पेषण होता था। इन सब कारणों से यह काव्य-परम्परा स्थूल रूप से विद्यमान रहते हुए भी १८वीं शताब्दी (ईस्वी) के आरम्भ तक प्रभाव शून्य हो गई।

भक्ति और शृङ्गार का सम्बन्ध

कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा की प्रमुख विशेषता भक्ति-भावना मानी गई है, अतः इस धारा के कवियों के शृंगार-सम्बन्धी दृष्टिकोण को भली प्रकार समझने के लिये भक्ति के स्वरूप और शृंगार से उसके सम्बन्ध पर थोड़ा विचार कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा।

भक्ति की परिभाषा—विभिन्न विद्वानों द्वारा भक्ति की ये परिभाषायें दी गई हैं :—

१—श्रीमदभगवद्गीता—"मय्यर्पित मनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः" अर्थात् जिसने अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित करदी वह भक्त मुझे प्रिय है। (अ० १२।१४)।

२—पाराशर—"पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः" अर्थात् पूजादि में अनुराग होना भक्ति है। (ना० भ० सू० १६)

३—गर्गाचार्य—"कथादिष्वितु गर्गः" अर्थात् भगवान की कथादि में अनुराग होना (ना० भ० सू० १७)

४—शाण्डिल्य—"सा परानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् वह ईश्वर के प्रति परम अनुराग रूपा है। (शा० भ० सू० २)

५—नारद—"सा त्वस्मिन् परम प्रेम-रूपा, अमृत-स्वरूपा च। तत्रापि महात्म्य ज्ञान विस्मृत्यपवादः तद्विहीनं जाराणा मिवः। अर्थात् वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम-रूपा और अमृत-स्वरूपा है। फिर भी महात्म्य ज्ञान का विस्मरण नहीं होना चाहिए अन्यथा वह व्यभिचारियों के प्रेम-तुल्य हो जायगी। (ना० भ० सू० २–३)।

६—बल्लभाचार्य—महात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया, मुक्तिर्नचान्यथा।।

अर्थात् भगवान में महात्म्य-पूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं है (तत्वदीप-निबन्धः श्लोक ४६)

उपर्युक्त परिभाषाओं में शाब्दिक दृष्टि से अन्तर होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से पर्याप्त एकता है। गीता-कार ने हृदय और बुद्धि दोनों का समर्पण स्वीकार किया है, हृदय का समर्पण प्रेम से और बुद्धि का महत्ता के बोध से होता है। पाराशर, गर्गाचार्य, शाण्डिल्य आदि ने भी अनुराग के साथ-साथ पूजा या कथा का उल्लेख कर के अप्रत्यक्ष रूप से नारद और बल्लभाचार्य की भाँति प्रेम के साथ महात्म्य-ज्ञान का समर्थन किया है। इस प्रकार आधुनिक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।" में उपर्युक्त सभी मतों का समन्वय हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विवेचन—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति को एक मिश्रित भावना (Complex sentiment) की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसमें आत्म-दैन्य एवं प्रेम दो भावनाओं का सम्मिश्रण है। ईश्वर के महात्म्य ज्ञान से व्यक्ति के हृदय मे आत्म-दैन्यता का भाव विकसित होता है तथा उसके सौन्दर्य एवं गुणों के प्रति आकर्षण से प्रेम का प्रादुर्भाव

होता है। इन दोनों भावनाओं में से किसी एक के न होने पर वह शुष्क श्रद्धा या प्रणय-मात्र रह जायगी। रहस्यवादियों की भावना को जो कि आत्मा और परमात्मा की समानता के विश्वास पर आधारित है, प्रेम का नाम दिया जा सकता है, भक्ति का नहीं।

प्रत्येक भावना के मूल में कोई न कोई मूल प्रवृत्ति (Instinct) विद्यमान रहती है। भक्ति के मूल में मैक्डूगल द्वारा गिनाई हुई तेरह प्रवृत्तियों में से आत्म-समर्पण की प्रवृत्ति (Instinct of submission) स्थित रहती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति का क्षेत्र शृंगार से सर्वथा भिन्न है, किन्तु वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्त्तकों ने अन्य संम्प्रदायों का अनुकरण करते हुए भक्ति के भेदों-प्रभेदों एवं उसके स्वरूप में कुछ ऐसा परिवर्त्तन किया जिससे उसमें शृंगारिकता का भी पूरा समन्वय हो सके।

भक्ति के भेद—वैष्णव एवं गौड़ीय भक्ति संम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने भक्ति के स्वरूप सम्बन्धी अनेक भेद किये जिनमें मुख्यतः दो है:—(१) वैधी और (२) रागानुरागा। इस रागानुगा भक्ति के भी भक्त की भावना के आधार पर पाँच-भेद—शान्त, दास्य, संख्य, वात्सल्य, एवं मधुर—किये गये है। अलग-अलग भक्ति संप्रदायों ने इनमे से किसी एक को प्रधानता दी है और शेष को गौण माना है।

यदि गंभीर दृष्टि से विचार करें तो ये उपर्युक्त भेदोपभेद महत्व शून्य सिद्ध होते है। जबकि भक्ति शब्द अपने आप में श्रद्धा मिश्रित प्रेम का पर्यायवाची है तो भक्ति के पूर्व रागानुगा या प्रेमलक्षणा जैसे विशेषणों की क्या आवश्यकता रह जाती है। और यदि इस प्रकार की भक्ति में कोरा प्रेम ही है, श्रद्धा नहीं तो ऐसी स्थिति में उसको भक्ति का नाम देना अनुचित है। इसी प्रकार यदि किसी पद्धति मे शुष्क कर्म काण्ड या विधिनिषेधों का पालन मात्र हो उसे साधना; उपासना या तपस्या का नाम दिया जा सकता है, भक्ति का नही, अतः इस प्रकार की पद्धति को 'वैधी भक्ति कहना' भी अनुचित है साथ ही हम यह भी देखते है कि रागानुरागा भक्ति का मार्ग अपनाने वाले संप्रदायों में भी विधि-निषेधों, पूजा के विधान एवं कर्म-काण्डादि का सर्वथा अभाव नहीं है—उदाहरण के लिये पुष्टि-सम्प्रदाय को ले सकते हैं जहाँ श्री नाथजी की पूजा के आठों प्रहर नित्याचारों एवं नैमित्तिक आचारों के विधि-निषेधों से बंधे हुए हैं। अतः वैधी और रागानुगा का भेद कोई सार्थकता नहीं रखता।

अब रागानुराग के उपभेदों को लीजिये। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति के अन्तर्गत सख्य, वात्सल्य एवं दाम्पत्य भाव का विकास होना स्वाभाविक

नहीं है, किन्तु फिर भी कुछ विद्वानों ने इसका समर्थन करते हुए पुष्टिमार्गीय भक्तों—सूरदासादि में उपर्युक्त भावों का विकास बताया है, पर इसे हम निम्नांकित तथ्यों के आधार पर अस्वीकार करते हैं :—

१—भक्ति में प्रेम के साथ श्रद्धा का मिश्रण होता है जबकि वात्सल्य में कृपा मिश्रित स्नेह का; भक्ति अपने से उच्च एवं पूज्य व्यक्ति के प्रति होती है जबकि वात्सल्य अपने से लघु एवं छोटे व्यक्ति के प्रति; अतः वात्सल्य भाव एवं भक्ति भावों की स्थिति एक ही आलम्बन के प्रति एक साथ नही रह सकतीं।

२—नारद-भक्ति-सूत्रादि में दास्य, वात्सल्य आदि का उल्लेख किया गया है : किन्तु वहाँ वात्सल्य से तात्पर्य अपने को ईश्वर का शिशु मानना है जो कि मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से संगत है जबकि मध्यकालीन आचार्यों ने इस क्रम को उलट दिया जो कि इतना ही असंगत है जितना कि दास्य भाव का यह अर्थ करना कि भगवान दास है और भक्त स्वामी।

३—वात्सल्य भक्ति के उदाहरण स्वरूप सूर के उन पदों को उद्धृत किया जाता है जो उन्होंने नन्द-यशोदा के कृष्ण सम्बन्धी प्रसंग मे लिखे। पर वह नन्द-यशोदा का कृष्ण के प्रति वात्सल्य है न कि सूरदास का कृष्ण के प्रति ? यो तो तुलसीदास ने भी दशरथ का राम के प्रति घोर वात्सल्य चित्रित किया है, पर क्या इसी आधार पर उनकी भक्ति को वात्सल्य भाव का नाम दिया जा सकता है ?

४—आगे चलकर सूरदास ने गोपाल एवं गोपियों के प्रसंग में सख्य एवं दाम्पत्य भाव का भी चित्रण किया है। क्या सूर की वात्सल्य भावना इतनी शीघ्र सख्य और दाम्पत्य भाव में परिवर्तित हो गई ?

५—सूरदास ने बाल-लीला एवं रास-क्रीड़ा आदि से सम्बन्धित पदों के अतिरिक्त एक भी पद ऐसा नही लिखा जहाँ उन्होंने कृष्ण को अपने शिशु या पति के रूप में सम्बोधित किया हो। यही नही बाल-लीला के पदों की अन्तिम पंक्ति में उन्हें अपना प्रभु या स्वामी ही सम्बोधित करते है :—

सूरदास प्रभु को मुख निरखत हरखत जिय नित नेह नए री !

\+ + + +

सूरदास स्वामी की लीला, अति प्रताप विलसत नंद रैया !

—बाल कृ० प० पद सं० १६४, ५८

यह भी आश्चर्य की बात है कि सूर व अन्य कृष्ण-भक्त कवि कृष्ण और गोपियों के रमण का शत-शत बार वर्णन करते हैं, किन्तु एक बार भी वे स्वयं गोपी बनकर उनके साथ रमण करने की इच्छा प्रकट नहीं करते। कबीर जैसा अक्खड़ भी नवबधू का रूप धारण करके रमैया की सेज का आनन्द लूटता है, पर ये भक्त कवि अपने आराध्य की बाल लीलाओं, गोप क्रीड़ाओं, एवं मधुर चेष्टाओं का दर्शन दूर से करते हैं, उनके पिता, सखा या प्रेयसी का रूप धारण करके उनमें सम्मिलित नही होते। वस्तुतः भक्ति के क्षेत्र में ऐसा होना स्वाभाविक भी नही था।

मेरे विचार से भक्त और इसके आराध्य के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये लौकिक दृष्टि से भी भक्त शब्द पर्याप्त है। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति गांधीजी का भक्त है तो उसमें उसकी श्रद्धा और प्रेम दोनों की व्यंजना हो जाती है। शान्त और दास मे भावावेग का अभाव होता है, सख्य और वात्सल्य में पूज्य बुद्धि का और दाम्पत्य मे सम्बन्ध की सूक्ष्मता—मानसिकता और पवित्रता का लोप होता जाता है, अतः हम भक्ति के सभी उपभेदों—शान्त दास्य, वात्सल्य, सख्य और दाम्पत्य को भ्रामक समझते हैं। हमारी दृष्टि में सूरदास और तुलसीदास के वर्ण्य विषयों में एवं आराध्यों के स्वरूप मे अन्तर है किन्तु भक्ति भावना दोनों की एक जैसी है। वस्तुतः भक्ति सम्बन्धी ये भेद मुख्यतः इन प्रेरणाओं से किये गये प्रतीत होते हैं—

१—कृष्ण सम्बन्धी मूल ऐतिहासिक पात्र—नन्द, अर्जुन, उद्धव, गोपिकाओं आदि को भक्तों की श्रेणी में लाने के लिये।

२—भक्त कवियों के वर्णन पर आध्यात्मिकता का रंग चढ़ाने के लिये।

३—साहित्य के क्षेत्र में एक नया रस उज्ज्वल-रस प्रतिष्ठित करने के लिये।

४—भक्ति में शृंगारिकता का समन्वय करने के लिये। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि अलग-अलग व्यक्ति इनमें से अलग-अलग प्रेरणाओं से प्रेरित होते रहे है, यथा—भागवतकार ऐतिहासिक पात्रों को भक्तों का रूप देने के लिये सचेष्ट थे, "भक्ति-रसामृत" के रचयिता रूप गोस्वामी जैसे लेखक एक नया रस उज्ज्वल-रस प्रतिष्ठित करना चाहते थे, तो दूसरी ओर श्रीनाथजी के मन्दिर के सुयोग्य अधिकारी अपने ठाकुरजी के ठाठ-बाट की पूर्ण अभिवृद्धि के लिये वेश्याओं तक का प्रबन्ध करके भक्ति की पिचकारी में शृंगार का रंग घोल रहे थे।

अस्तु, प्रेरणायें चाहे कुछ भी रही हों, भक्ति के ये नये-नये रूप उस के वास्तविक स्वरूप को तिरोहित करते जा रहे थे। धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से इन नये रूपों का कुछ भी परिणाम रहा हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं साहित्यिक दृष्टि से तो ये अनुकूल ही सिद्ध हुए। इन रूपों के प्रभावस्वरूप भक्ति के निर्जन प्रदेश में वात्सल्य एवं शृंगार की सरिसताओं का प्रवाह हुआ, जो अनुभूतियाँ किसी अलौकिक रूप के अगाध सागर में जाकर विलीन हो सकती थीं, उन्हें लौकिक सीमाओं में बाँधकर साहित्य-उपवन की क्यारियों को सिंचित किया गया।

भक्ति रस या शृंगार रस ?—अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन भक्त कवियों ने राधा-कृष्ण की जिस मधुर-क्रीड़ा का चित्रण किया है उसे किस रस के अन्तर्गत रक्खें ! कुछ विद्वान् उन्हें शृंगार की संज्ञा से विभूषित करना भक्तों की भावनाओं का अपमान समझते हैं, अत' वे इसे भक्ति रस के अन्तर्गत लेते है। 'भक्ति-रसामृत सिन्धु' और 'उज्ज्वल-नील मणि' के रचयिता रूप-गोस्वामी ने इस प्रकार के वर्णनों में भक्ति भावना के एक उपभेद—मधुरा रति को स्थायीभाव मानते हुए उज्ज्वल-रस की कल्पना की है। पर यदि उनके उज्ज्वल-रस के अन्य अंगों के विवेचन को पढ़ें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शृंगार रस और उज्ज्वल रस में कोई अन्तर नही है, दोनों के दक्षिण, शठ, धृष्ट आदि वही नायक हैं, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि वही नायिकायें हैं और अनुभाव, संचारी आदि वही हैं। आश्चर्य तो यह है कि इनके इस 'उज्ज्वल-रस' के अन्तर्गत शृंगार के समस्त स्थूल कार्य-व्यापारों—संभोग, आलिगन, चुम्बन, नखक्षत, बिम्बाधरपान आदि का भी विस्तृत वर्णन हुआ।[१] अतः केवल नाम-परिवर्तन मात्र को छोड़ कर 'उज्ज्वल-रस' में एक भी ऐसी बात नहीं मिलती जो शृंगार से असम्बन्धित हो और यह नाम भी कोई नया नही है, स्वयं भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र में शृंगार की परिभाषा में उज्ज्वल शब्द का प्रयोग किया है।[२] तथा उनके अनन्तर 'शृंगार-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' में इसका प्रयोग मिलता है। अतः 'उज्ज्वल-रस' भी शृंगार रस का पर्यायवा ी ही समझा जाना चाहिए।

१. उज्ज्वल नील मणि, संभोग भेद प्रकरण, श्लोक संख्या ५८–६१।
२. तत्र शृंगारी नाम रति स्थायि प्रभव उज्ज्वल वेषात्मकः
—नाट्य शास्त्र ६।४६, पृ० ७३

कुछ विद्वान एक दूसरे प्रकार से शृंगार नाम का विरोध करते हैं ! उनका कथन है—"पर यह न समझना चाहिए कि आलंकारिकों के शृंगार और शान्त रस वही हैं जो भक्तों के ! दोनों में तात्त्विक भेद हैं। पहले जड़ोन्मुख होते हैं, दूसरे (भक्तों के) चिन्मुख।"[१] यदि कबीर जैसे निर्गुण निराकार एवं सूक्ष्म ईश्वर के प्रेमियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त बात कही जाती है तो हम इस कथन को स्वीकार कर लेते क्योंकि उस प्रकार के प्रेम में स्थूलता एवं काम तत्व का अभाव होता है, किन्तु कृष्ण भक्तों के आलम्बन में चिन्मुखता का कोई लक्षण नहीं मिलता, वह रूप, कार्य-व्यापार की दृष्टि से आलंकारिकों से जड़ोन्मुख शृंगार से साम्य रखता है, अतः दोनों में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

यह जानते हुए भी कि इन शृंगारी लीलाओं के नायक कोई साधारण व्यक्ति नहीं है, ब्रह्म के अवतार हैं, उसके पाठक की अनुभूति में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। यदि हम एक नाटक देख रहे हों और उसमें एक व्यक्ति गरीब मजदूर का अभिनय कर रहा हो, किन्तु जिसके बारे मे हम यह जानते हों कि वह वास्तव में मजदूर नही एक धनवान सेठ है, तो क्या उससे हमारे हृदय में रंगमंच के दृश्य के अनुरूप अनुभूतियों का संचार नहीं होगा ? हम अनेकानेक फिल्म अभिनेत्रियों को रजत पट पर पत्नी, विधवा या भिखारिन के रूप में देखते हैं और यद्यपि हम उनका वास्तविक परिचय जानते है, फिर भी हमारी अनुभूतियों में कोई अन्तर नही पड़ता।

अतः रसानुभूति की दृष्टि से भी वेष बदल कर लौकिक मंच पर उपस्थित होने वाले भक्त कवियों के नायक राज के प्रेम सम्बन्धी अभिनय (या लीला) से शृंगार-रस का ही पोषण होगा, बशर्ते कि कवि के चित्रण में पूर्ण स्वाभाविकता और प्रेषणीयता का गुण विद्यमान हो। किन्तु कुछ ऐसे कवि जो कृष्ण के लौकिकता के चिह्न भी रख देते है, वहाँ काव्य मे अस्वाभाविकता आ जाती है, सूरदास ने भी ऐसा कही-कही किया है, जिसके फलस्वरूप वहाँ काव्यत्व शिथिल हो गया है। अस्तु, साहित्यिक दृष्टि से भक्त कवियों का राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रणय चित्रण विशुद्ध शृंगार-रस के अन्तर्गत लिया जावेगा। धर्मोपदेशक उसे जो चाहे नाम दें।

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, च० सं० पृ० ८०

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति के इन नये भेदोपभेदों ने उस के मूल स्वरूप को ही बदल दिया। भक्ति-भावना के जिस क्षेत्र में अब तक केवल शान्त रस का ही पोषण होता था अब वह शृंगार की क्रीड़ा स्थली बन गई।

कृष्ण-भक्ति काव्य और आध्यात्मिकता

कुछ विद्वानों ने जो कि आध्यात्मिकता को ही काव्य की सबसे बड़ी विशेषता मानते हैं, कृष्ण-भक्त-कवियों के शृंगार-वर्णन की भी ऐसी आध्यात्मिक व्याख्या की है जिसका कवि की मूल भावना के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिये सूरदास के खंडिता-वर्णन की व्याख्या देखिये—"खंडिता-नायिका के वर्णन मे नायक स्वयं मर्यादा भंग करता है। साथ ही उस की पाग पर जावक की लाल छवि, कपोलों पर सिंदूर का रंग, अरुण अधरों पर अंजन की श्यामिकता आदि चिह्न भी मर्यादा भंग के ही द्योतक है।" पुष्टिमार्गीय भक्ति का निरूपण करने में सूर ने इसी शैली से काम लिया है।[1] इसी प्रकार विरह-वर्णन की यह एक सीधी सादी उक्ति है।

एक गाँव को बास, धीरज कैसे धरों।
लोचन मधुप अटक नहिं मानत, यद्यपि जतन करो।

इसका भी अर्थ करते हुए विद्वान लेखक ने ईश्वर और जीव सम्बन्धी एक जटिल दार्शनिक समस्या उपस्थित की है।[2] अतः हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस शृंगार चित्रण को मूल अर्थ में ग्रहण करें या विद्वानों द्वारा आरोपित अर्थों में? इस सम्बन्ध में ये तथ्य विचारणीय है (१) यदि संभोग सम्बन्धी उपर्युक्त चिह्नों के आधार पर निर्णय करें तो संस्कृत के अमरुक और जयदेव से लेकर हिन्दी के बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि सभी कवियों का खंडिता-वर्णन पुष्टिमार्गीय भक्ति का निरूपण सिद्ध हो सकता है। (२) उद्धव जैसे ज्ञानियों की आध्यात्मिकता का विरोध कर के सूरदास, नंददास आदि ने स्पष्ट घोषित कर दिया था कि विद्वत्ता का यह भार और दर्शन की यह जटिलता उन्हें स्वीकार्य नही है। (३) भागवत के विभिन्न व्याख्याताओं ने भी कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी विभिन्न घटनाओं का आध्यात्मिक अर्थ निकाला है। बालकृष्ण के मिट्टी खाने की स्वाभाविक सी

---

१. देखिये—भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृष्ठ ३५१।
२. वही, पृष्ठ ३६२।

घटना के भी विभिन्न आचार्यों ने ९ अर्थ कर दिये हैं।[1] इन व्याख्याताओं ने ये अर्थ संभवतः इन उद्देश्यों से किये होंगे (क) कृष्ण की लौकिक घटनाओं पर अलौकिकताओं का रंग चढ़ा कर श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये। (ख) कृष्ण की लीलाओं के अध्ययन से पाठक में शृंगार भावना का उद्रेक होता है जो भक्तों के लिये उचित नहीं, अतः इस भावनानुभूति पर अंकुश लगाने के लिये। कदाचित् कुछ विद्वानों ने अपनी मौलिकता-प्रदर्शन के लिये भी ऐसा किया हो।

इसमें कोई सन्देह नही कि ये व्याख्यायें दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्र मे तो अनुकूल पड़ती हैं, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र के तो ये सर्वथा प्रतिकूल हैं क्योंकि ये काव्य के मूल भाव को ही नष्ट करके उसे दर्शन-ग्रन्थ का रूप दे देती है। अतः जहाँ तक काव्य के भाव-सौन्दर्य के आस्वादन का सम्बन्ध है। हमें कृष्ण-भक्त-कवियों के शृंगार-चित्रण को उसके मूल स्वाभाविक अर्थ मे-ही ग्रहण करना चाहिए बलात् आरोपित आध्यात्मिक अर्थों में नही।

कृष्ण-भक्ति काव्य और रीति तत्व

कृष्ण-भक्त कवियों के शृंगार-चित्रण में रीति तत्वों का प्रयोग भी मिलता है। सूरदास की 'साहित्य लहरी' में रस, अलंकार और नायिका भेद का वर्णन मिलता है।[2] नन्ददास की 'रस-मंजरी' में नायिका-भेद, हाव, हेला

---

१. मिट्टी लाने के कारण—(१) श्री कृष्ण ने विचार किया कि मुझमें सत्वगुण रहता है अतः थोड़ा रज का भी संग्रह कर लें। (२) पृथ्वी का नाम क्षमा है अतः ग्वाल बालों के साथ खेल में क्षमा भाव दिखाने के लिये। (३) पृथ्वी का नाम रसा है अतः रसा के रस का आस्वादन करने के लिये। (४) इस अवतार में पृथ्वी का हित करना था अतः उस से द्विजों (दाँतों) को कुछ दान करवाने के लिये। (५) सात्विक द्विजों (दातों) में रजोगुण का संचार करने के लिये। (६) पहले विष भक्षण किया था, मिट्टी लाकर उसका उपचार किया। (७) पहले गोपियों का मक्खन खाया था, मिट्टी खाकर मुँह साफ किया। (८) उदरस्थ जीवों को ब्रजभूमि की रज पहुँचाने के लिये (९) भक्तों की चरण-रज ग्रहण करने के लिये।

देखिये—प्रेम सुधासागर, गीता प्रेस, पृ० सं० ३६

२. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, द्वितीय संस्करण, पृ० १०७-११२।

और रति का सांगोपांग विवेचन हुआ है। 'रस-मंजरी' के आरम्भ में कवि ने अपनी ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य—'नायिका-भेद' को समझाना स्वीकार किया है।[1] इसी प्रकार नंददास की अन्य रचनाओं में से 'विरह-मंजरी' में विरह के विभिन्न शास्त्रीय भेदों का—प्रत्यक्ष-विरह, पलकांतर-विरह—वनांतर-विरह—आदि का नामोल्लेख सहित वर्णन हुआ है। तथा अन्त मे बारहमासा-वर्णन किया है।[2] उनकी 'रूप-मंजरी' में यद्यपि शास्त्रीय भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है किन्तु उसके अध्ययन से यह स्पष्ट बोध होता है कि काव्य-रचना के समय कवि में नायिका की विभिन्न अवस्थाओं वयःसन्धि, प्रथम-समागम, आदि के वर्णन में शास्त्रीयलक्षणों को ध्यान मे रक्खा है। अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी नायिका भेद के उदाहरणों की रचना की है।[3]

भक्त-कवियों के लिये इन शास्त्रीय भेदोपभेदों के पचड़ों मे पड़ना अस्वाभाविक है, इसी लिये प्रारम्भ में कुछ विद्वानों ने सूर की 'साहित्य-लहरी' जैसी रचनाओं को अप्रामाणिक घोषित कर दिया था। कुछ अन्य विद्वानों ने 'रस-मंजरी' के वर्णनों को अध्यात्म-परक कह कर भी भक्त-कवियों के महत्व को बनाये रखने का प्रयत्न किया, किन्तु 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण मिल चुके है[4] तथा 'रस-मंजरी' मे इतनी अधिक स्थूलता, शारीरिकता और लौकिकता है कि उसे अध्यात्मपरक बताना भ्रम मात्र है। और उसका कारण भी स्पष्ट है। गीति-शैली में कृष्ण-काव्य के सर्व-प्रथम रचयिता जयदेव ने रीति-तत्वों का पूरा समन्वय किया था, रीति-

१. एक मीत हम सो अस गुन्यो। में नाइका भेद नहिं सुन्यो।
हाव भाव हेलादिक जिते। रति समेत समझावहु तिते।
—रसमंजरी, नंददास ग्र०, पृ० १४४।

२. सुनि पलकान्तर विरह की बातें। परम प्रेम पहिचानत तातें।
\+ + + +
विरह बनांतर को सुनि लीजै। गोपिन के मन में मन दीजै।
\+ + + +
सुनि देसान्तर विरह विनोद। रसिक जनन मन बढ़वन मोद।
—नंद दास ग्रन्थावली, पृ० १६३

३. देखिये—अष्टछाप परिचय, द्वि० सं० पृ० ३४०–३४१।

४. सूरदास और उनका काव्य—डा० हरवंशलाल शर्मा।

तत्वों का किंचित प्रभाव विद्यापति के काव्य में मिलता है। इनके अतिरिक्त रूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल-नील-मणि' ग्रन्थ में नायक-नायिका भेद, दूतीभेद, नायिका के हाव, अनुभावादि शृङ्गार के विभिन्न भेद आदि का सोदाहरण विवेचन किया है। रूपगोस्वामी स्वयं चैतन्य संम्प्रदाय के अनुयायी थे और उन्होंने यह सारा विवेचन भक्ति-भावना के नाम कर किया है, अतः उससे अन्य भक्त-कवियों का प्रभावित हो जाना स्वाभाविक था। फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने रीति-तत्वों का प्रयोग अपनी बहुत थोड़ी रचनाओं मे अत्यन्त अल्प परिमाण में किया है। परवर्ती रीति-बद्ध शृंगारी कवियों की भाँति वे शास्त्रीय रूढ़ियों से इतने अधिक आबद्ध नहीं कि उनके बिना एक कदम भी आगे न बढ़ सकें।

कृष्ण भक्ति काव्य और अश्लीलता

कृष्ण भक्ति काव्य के मधुर प्रेम-प्रवाह के बीच कुछ रति, विपरीत रति आदि के ऐसे नग्न दृश्यों का चित्रण मिलता है जिन्हें देखकर किसी भी श्रद्धालु पाठक को क्षोभ हुए बिना नही रहता। "रूपे संग्राम रति-खेत नीके"—जैसे पद सूर सागर मे व अन्य कवियों की रचनाओ मे मिलते है जिनमे शारीरिक मिलन का अत्यन्त स्थूल रूप में चित्रण किया गया है। कुछ लोग संभवतः इसे पुष्टिमार्ग की दार्शनिक आवश्यकता मानें किन्तु यह बात सही नही। पुष्टि मार्ग मे बालकृष्ण को ही आराध्य रूप में स्वीकार किया गया था अतः उसके लिये संभोग-दृश्यों की योजना आवश्यक नही थी। फिर भी यदि किसी कारण से कविगण संभोग का वर्णन करना ही चाहते थे तो वे संकेतात्मक या व्यंजनात्मक शैली का आश्रय ग्रहण कर सकते थे। यह भी द्रष्टव्य है कि श्रीनाथ जी के मन्दिरों में पुरुष भक्तों के साथ-साथ महिला सेविकाओं की उपस्थिति में ये पद गाये जाते थे।

वस्तुतः इन पदों के पीछे श्रीनाथ जी के मंदिर के समस्त वातावरण का प्रभाव व्यंजित है। महाप्रभु बल्लभाचार्य के तिरोधान के अनन्तर पुष्टि सम्प्रदाय और मन्दिर के वातावरण में जो परिवर्तन हुआ वह विचारणीय है। एक ओर आचार्यजी के उत्तराधिकारी विट्ठलनाथजी ने शृंगार-रस-मण्डल लिखकर बाल-कृष्ण के स्थान पर युवा-कृष्ण की आराधना का समर्थन किया, दूसरी ओर मन्दिर के मुख्य अधिकारी श्रीकृष्णदास जी ने ठाकुर जी की वैभव-वृद्धि का पूरा प्रबन्ध किया। जहाँ श्रीनाथजी के दुग्धपान के लिये सैकड़ों गायें रखी गईं उनके चलने के लिये हाथी, घोड़े और पालकियाँ सजाईं वहाँ उनके मनोरंजन के

लिये आगरा की प्रसिद्ध रूपवती वेश्या को भी बुलाया गया।[१] बंगाली वैष्णवों को जो कि मन्दिर के पुजारी थे तथा इस परिवर्तन को सहन नहीं कर सकते थे, उनकी झोंपड़ियों में आग लगाकर निर्ममतापूर्वक भगा दिया गया।[२] मन्दिर के अधिकारी कृष्णदास का इतना दवदबा था कि कोई उनके विरुद्ध चूँ भी नहीं कर सकता था। जब स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने कृष्ण दास और महिला गंगाबाई के गुप्त-सम्बन्ध का विरोध किया तो उन्हें भी कई महीनों के लिये मन्दिर से बाहर निकाल दिया गया।[3] एक ओर सेवक सेविकाओं को ब्रह्म-सम्बन्ध स्थापित करने के लिये तन-मन-धन तीनों ठाकुरजी को समर्पित करने का उपदेश दिया गया, दूसरी ओर यह भी घोषणा की गई कि बल्लभ-सम्प्रदाय में गोसाइयों के (अष्टछाप के सदस्यों को भी) श्रीकृष्ण का स्वरूप समझा जाता है इसलिये आत्म-समर्पण गोसाइयों के प्रति भी किया जा सकता है।[४]

अस्तु जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[५] एवं डा० हजारी प्रसाद[६] ने संकेत किया है, मन्दिर के ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण के प्रभाव से मन्दिर के कुछ अधिकारियो मे भोग वृद्धि का विकास हो गया हो, तथा उन्होंने ही ठाकुरजी को काम-शास्त्र और नायिका-भेद सिखाने के बहाने ऐसी संभोगप्रधान रचनाओं को लिखने की प्रेरणा दी हो तो इसमें आश्चर्य की बात नही। सूरदास ने तो अपनी साहित्यलहरी के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से ही लिख दिया है—'नन्दनन्दन

१. देखिये अष्टछाप परिचय, पृ० २१०-२१२।

२. देखिये अष्टछाप परिचय, पृ० २०८।

३. अष्टछाप, पृ० २०८।

४. महाकवि सूरदास—लेखक नंददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ५८।

५. मंदिरों की प्रशंसा केसर की चक्कियाँ चलें—कहकर होने लगी। भोग विलास के आकर्षण का प्रभाव सेवक-सेविकाओं पर कहाँ तक अच्छा पड़ सकता था।

—हि० सा० इति०, पृष्ठ १५७

६. कृष्ण दास की मनचाही नर्तकी की दृष्टि जब उनके भोग की ओर पड़ जाती थी तो (ठाकुरजी भी) भूखे ही सो जाते थे।

—हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १८६

दास हित कीन'—जिसका अर्थ विद्वानों ने कृष्णदास किया है।[1] नन्ददास की 'रस-मंजरी' भी एक मित्र के लिये लिखी गई थी जो सम्भवतः मन्दिर के प्रभावशाली व्यक्तियों में से कोई था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि इन अधिकारियों की इन वर्णनों में रुचि न होती तो वे कवियों को ऐसा संकेत कर सकते थे जिससे कि वे नग्न वर्णन में प्रवृत्त न होते।

सूरदास का शृङ्गार चित्रण

(क) आलम्बन—यद्यपि शृंगार के क्षेत्र में पुरुष और नारी दोनों एक दूसरे के लिये आलम्बन सिद्ध होते हैं, किन्तु फिर भी भारतीय काव्य-परम्परा में नारी-सौन्दर्य को ही प्रधानता मिली है। संभवतः सूरदास पहले कवि हैं जिन्होंने अपने नायक-राज को आलम्बन रूप में उपस्थित करते हुए उनकी छवि का बारम्बार अंकन किया है। गोपियों की दृष्टि से देखते हुए वे कहते हैं :—

देखो माई सुन्दरता को सागर।
तनु अति स्याम अगाध अम्बुनिधि कटिकट पीत तरंग॥
चितवत चलत अधिक रुचि उपजति भँवर परति सब अंग।
नैन मीन मकराकृत कुण्डल भुज सरि सुभग भुजङ्ग॥
देखि सरूप सकल गोपीजन रहीं बिचारि-बिचारि।
तपति सूर तरि सकीं न कोई, रहीं प्रेम पचि हारि॥

भला, इस सौन्दर्य के सागर को पार तो कौन कर सकता है, उसे पूरी तरह निरख लेना ही दुर्लभ है। उस सागर के पूरे अमृत को तो पीना दूर रहा जिसने एक बूँद चखी वही अपने आपको भूल गया :—

स्याम अंग जुवती निरखि भुलानी।
कोउ निरखति कुण्डल की आभा, इतने हिं माझ बिकानी!
ललित कपोल निरखि कोउ, अटकी सिथिल भई ज्यों पानी!
\+ \+ \+
कोउ निरखति दुति चिबुक चारु की सूर तरुनि वितितानी!

१. **श्री महावीर सिंह नन्दनन्दन दास का अर्थ श्रीकृष्ण दास कर इस बात पर जोर देते हैं कि अष्टछाप वाले अधिकारी कृष्ण दास को काव्य ज्ञान कराने के लिये सूरदास ने साहित्य लहरी की रचना की थी।**

—अष्टछाप परिचय, पृष्ठ १४५

सूरके सौन्दर्य-चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सौन्दर्य के स्थूल उपादानों के वर्णन की अपेक्षा उनके प्रभाव की व्यंजना की ओर अधिक ध्यान देते हैं। उनके दृष्टिकोण में भावात्मकता का इतना अधिक आग्रह है कि वे आलम्बन को पूरी तरह देख नहीं पाते कि उससे पूर्व ही उनका हृदय गद्‌गद, नेत्र आर्द्र और दृष्टि धुँधली हो उठती है। लगता है आराध्यदेव को अपने इतने समीप पाकर वे भाव-विभोर हो जाते हैं।

नारी-सौन्दर्य के चित्रण के प्रति कवि ने उपेक्षा दिखाई है पर उसका सर्वथा अभाव नहीं है। राधा की शोभा का एक चित्रण देखिये :—

"खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी !
औचक ही देखी तहँ राधा, नैंन विशाल भाल दिये रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेंनी पीठ रुलति झकझोरी ॥
संग लरिकिनी चलि इति आवति, दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
सूर-स्याम देखत ही रीझे नैंन-नैंन मिलि परी ठगोरी ॥

कवि ने यहाँ अंगों के रूप-रंग एवं वस्त्रों के चुनाव में अपनी सौन्दर्य-दृष्टि की सूक्ष्मता का परिचय दिया है। विशाल-नेत्रों के बीच रोली का तिलक, कटि तक पहनी हुई फरिया पर झूलती हुई वेणी, गोरे तन पर नील वसन और थोड़े दिनों (नव वयस्का) के साथ अति छवि का मेल, किसी भी चित्रकार की तूलिका को उत्तेजित करने मे समर्थ है।

सूरदास के नारी-चित्रण में सुरुचि एवं स्वच्छता का समन्वय है, किन्तु अष्टछाप के अन्य कवियों की रचनाओं मे ऐसा नही है। इसके अतिरिक्त नारी की विभिन्न भाव भंगिमाओं एवं चेष्टाओं का चित्रण नन्ददास को छोड़कर अन्य भक्त कवियों ने बहुत कम किया है।

(ख) उद्दीपन—वृन्दावन की रम्य-क्रीड़ा-स्थली में कवि को सब उपादान अनायास ही प्राप्त हो गये, जिन्हें शृङ्गारोद्दीपन के लिये आवश्यक माना जाता है। प्रकृति का मुक्त आँगन, हरे-भरे कुञ्ज, कालिन्दी का कूल, शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन, चन्द्र की सुधोपम रजत-छटा, बसन्त का वैभव, पक्षियों की चहक और भ्रमरों की गुंजार—इन सबसे एकत्र संयोग से निर्मित मधुर वातावरण का चित्रण कवि ने बड़ी सरसता से किया है। कहीं-कहीं बाह्य दृश्यों को और अधिक मादक और उत्तेजक बनाने के लिये कवि ने अपनी कल्पना-शक्ति का भी

उपयोग किया है। पक्षियों एवं वृक्षों में मानवीय भावनाओं का आरोपण करते हुए कवि ने लिखा है :—

कैंकी कोक कपोत और खग, करल कुलाहल भारी !
मानहुँ लै लै नाउँ परस्पर, देत दिवावत गारी !!
कुंज-कुंज प्रति कोकिल कूजति अति रस बिमल बढ़ी !
मनु कुल-बधू निलज भई, गृह-गृह गावति अटनि चढ़ी !!
प्रफुलित लता जहाँ जँह देखत, तहाँ-तहाँ अलि जात !
मानहुँ बिट सबहिनि अवलोकत, परसत गनिका गात !!

—सूर सागर २८५३

यहाँ सामूहिक गाली-गलौज, युवतियों के निर्लज्ज आलाप और रसिकों की छेड़छाड़ का आयोजन करके दृश्य की मादकता को चरम-सीमा पर पहुँचा दिया गया है।

इन बाह्य-दृश्यों के अतिरिक्त कवि के पास एक ऐसा साधन और है जिसका प्रयोग पूर्व कवियों द्वारा नही हुआ था, वह है वेणु का मादक स्वर ! जहाँ बाह्य दृश्यों का प्रभाव चक्षुओं के माध्यम से हृदय को मन्द-मन्द स्पर्श से जगाने का प्रयास करता है, वहाँ संगीत की लहरियाँ कर्णेन्द्रियों के उन्मुक्त द्वार से प्रविष्ठ होकर हृदय को एकाएक झकझोर देती हैं। मुरली का यह मनोहर प्रभाव किस प्रकार गोपबालाओं को मुग्ध कर देता है यह उन्ही के शब्दों में सुनिये :—

मुरली मोहे कुँवर कन्हाई।
अंचवति अधर सुधा बस कीन्हे, अब हम कहा करें री माई॥
सरबस ले हरि धरयो सवनि को ओसर देति न होति अघाई।
गाजति बाजति चढ़ी दुहूँ कर अपने शब्द न सुनत पराई॥
जिहिं तन अनल दह्यो अपनो कुल तासों कैसे होत भलाई।
अब सुनि सूर कौन बिधि कीजै, बन की व्याधि माँझ घर आई॥

जबकि वेणु-वादन से संपेरे भी क्रूर सर्पों के मन को मोह सकते हैं तो रसिक छैल जैसे कुशल व्यक्ति की बाँसुरी के प्रभाव से भाव-विभोर-गोपबालाओं की ऐसी परवश दशा हो जाय तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है !

(ग) आश्रय—सूर का काव्य गीति-शैली के गुणों से समन्वित होता हुआ भी प्रबन्धात्मकता के सूक्ष्म-सूत्र में आबद्ध है। इसी लिये उसमें हम प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं का विकास क्रमिक रूप में पाते है। राधा और कृष्ण के प्रथम

दर्शन से लेकर वियोग की अन्तिम अवस्था तक शृङ्गार की अनेक भाव-दशाओं का चित्रण सूर-सागर में अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ हुआ है। यहाँ प्रेमाश्रय के हृदय की कुछ अवस्थाओं का निरूपण देखिये :—

१. **प्रेमोदय**—किशोरी राधा के हृदय में प्रेम का अंकुर प्रस्फुटित होते ही उसकी मनोदशा में किस प्रकार परिवर्तन आ जाता है इसका अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन कवि ने किया है :—

नागरि मन गई अरुझाई।
अति विरह तनु भई व्याकुल, घर न नेंकु सुहाई॥
स्याम-सुन्दर मदन-मोहन, मोहिनी सी लाई।
चित्त चंचल कुँवरि राधा, खान-पान भुलाई॥
कबहूँ विहँसति, कबहुँ विलमति, सकुचि रहति लजाई।
मातु-पितु को त्रास मानति, मन बिनु भई बाई॥
\+ + +
सूर-प्रभु कौं खरिक मिलि हौं, गए मोहि बुलाई॥

यहाँ कवि ने प्रेम का उल्लेख तक नही किया किन्तु फिर भी नायिका की प्रणयानुभूतियों की व्यंजना शारीरिक और मानसिक अनुभावों—अन्य-मनस्कता, चंचलता, अरुचि, भोजन-त्याग, हँसना, विलपना, संकोच आदि के माध्यम से सफलतापूर्वक हो गई है।

२. **प्रेम का विकास**—यद्यपि सूरदास ने प्रणय-भावना का उदय सौन्दर्य की प्रेरणा से दिखाया है किन्तु वे उसके विकास के लिये प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन और हास-परिहास के अनेक दृश्यों का आयोजन करते है। गौ-दोहन के समय एक ओर रसिकराज को कुछ शरारत सूझती है, तो उधर राधिका भी मीठी चुटकी लेती है—

तुम पै कौन दुहावे गैया!
\+ + +
इत चितवत, उत धार चलावत, यहै सिखायो भैया।

इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर कृष्ण कुछ शान दिखाते हैं तो गोप बालाएँ व्यंग्य करती हैं :—

तुम कमरी के ओढ़न हारे, पीताम्बर नहिं छाजत।
सूरदास कारे तनु ऊपर कारी कमरी भ्राजत॥

कभी-कभी वाद-विवाद अधिक बढ़ जाता है तो कृष्ण आक्षेप करते हैं—"सूर कहा ए हमको जानैं छाछिहि बेचन हारी।" किन्तु चतुर गोपियाँ भी इसके उत्तर में उनका सारा इतिहास सुना देती हैं—

यह जानति तुम नन्द महर सुत !
धेनु दुहत तुमकौ हम देखति, जबहि जात खरिकहि उत।
चोरी करत रहौ पुनि जानति घर-घर ढूँढत भाँडे॥

यद्यपि ये व्यंगोक्तियाँ ऊपर से शुष्क एवं कटु प्रतीत होती हैं किन्तु वास्तव में ये गोपियों के निश्छल प्रेम और उनके हृदय की सरसता से ओत-प्रोत हैं ! कोई भी युवती ऐसी छेड़-छाड़ और ऐसा हास-परिहास उसी व्यक्ति के साथ कर सकती है जिसे वह अपने बहुत निकट समझती हो, जिसके प्रति कुछ आत्मीयता का भाव हो। मानव-हृदय के पारखी सूर ने परिस्थिति के अनुकूल हास्य का पुट देकर शृङ्गार के वैभव में वृद्धि की है।

३. प्रेम की तन्मयता—गोपियों की प्रेम-भावना साहचर्य के योग से धीरे-धीरे गम्भीरतर होती हुई अन्त मे तन्मयता की उस स्थिति को प्राप्त कर लेती है जहाँ प्रेमी और प्रेमिका दो न रह कर एक हो जाते हैं :—

आँखिन में बसैं, जियरे मे बसैं, हियरे मे बसत निशिदिनि प्यारो।
मन में बसैं, तन में बसैं. रसना मे बसैं, अङ्ग-अङ्ग में बसत नन्दवारो॥
सुधि में बसैं, बुधिहू में बसैं, उरोजन में बसत, पिय प्रेम दुलारो।
सूर श्याम बनहूँ में बसत, थरहू में बसत, संग ज्यों जलरंग न होत न्यारो॥

यहाँ हमें शृङ्गार-भावना के उस उत्कृष्ट रूप के दर्शन होते है जहाँ मन की समस्त स्थूल-आकांक्षायें सूक्ष्म अनुभूति के रूप में, बासना का चंचल आवेग भावना के स्थिर अनुभव में परिणत हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में न तो बाह्य अनुभाव दिखाई पड़ते हैं और न ही आन्तरिक संचारी भाव ! समस्त मानसिक वृत्तियाँ केवल एक ही विषय में इस प्रकार केन्द्रित हो जाती है कि उन्हें किसी और विषय, किसी अन्य अनुभूति का तनिक भी ध्यान नही रहता।

४. वियोग की आशंका—कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिये अक्रूर का आगमन प्रेम-विवश-गोपबालाओं के सुख-स्वप्न के लिये वज्रपात सा सिद्ध होता है। राधा को यह दुःखद समाचार मध्य निशा में प्राप्त होता है। भावी वियोग की आशंका मात्र से उसका हृदय किस प्रकार त्रसित हो जाता है, देखिये :—

सुने हैं श्याम मधुपुरी जात !
सकुचति कहि न सकति, काहू सौं गुप्त हृदय की बात !
शंकित वचन अनागत कोऊ कहि जु गईं अधरात ।
नीद न परै, घटै नहिं रजनी, कब उठि देखौं प्रभात ।।
नन्द-नन्दन तो ऐसे लागे ज्यों जल पुरइन पात ।
सूर श्याम संग तै बिछुरत है कब ऐ है कुशलात ।।

—सूर सागर २५१६

संसार की अन्य विपदाओं में मनुष्य दूसरों से कह सुनकर अपने हृदय के भार को कुछ हलका कर लेता है, किन्तु गुप्त-स्नेहियों के लिये तो यह भी संभव नहीं । विद्यापति के शब्दों में उन्हें चोर पत्नी की भाँति खुलकर रोने की भी स्वतन्त्रता नही होती ।

विदाई की घड़ियाँ—जिस विरह-शोक की कल्पना-मात्र से प्रेमी जनों के कोमल प्राण दहल उठते है, उसे प्रत्यक्ष-रूप मे उपस्थित देखकर उनके हृदय की क्या दशा हो जाती है, इसका अनुमान नही किया जा सकता । राधा भी अपने साँवरे को विदा होते देख जिस प्रकार भावोत्तेजना से ग्रसित होकर मानसिक संतुलन खो बैठती है, इसका चित्रण कवि सूर ने अत्यन्त मर्मज्ञतापूर्वक किया है :—

हौं साँवरे के संग जैहों !
होनी होइ सु होई उभै लै हठ यश-अपयश कहूँ न डरै हों ।
कहा रिसाइ करैगो कोऊ जो रोकि है प्राण ताहि दैहों ।

\+ \+ \+

यह है विदाई की घड़ियों का सबसे अधिक उत्तेजक दृश्य ! वेदना का ज्वार अपने चरम उत्कर्ष पर है । संसार के सारे भय, सारी लज्जा और समस्त बाधायें इस भावावेग को बाँधने में असमर्थ है । प्रेमिका को प्रिय के साहचर्य से बढ़कर यहाँ कुछ और नहीं दिखाई पड़ता, उसके सामने प्राण भी तुच्छ है ! नगण्य है !!

विरह वेदना—प्रेमी अपने स्वप्नों की पूर्ति के लिये प्राण भी न्यौछावर करने को तैयार हो जाता है, पर क्रूर-भाग्य इसे महँगे मोल पर भी उसे साहचर्य का सुख नही देना चाहता । सारी इच्छाएँ, सारी आकांक्षाएँ, सारे सपने, सारा हठ और सारा सब कुछ धरा रह जाता है और आँखों के देखते

देखते प्रेमीजन विदा हो जाते हैं ! प्रणय परिपूर्ण हृदय की कातर पुकार अरण्यरुदन मात्र सिद्ध होकर रह जाती है !! किन्तु हृदय में क्षोभ का कोई वारापार नहीं रहता—पश्चात्ताप, आत्म-ग्लानि और शोकाग्नि में हृदय दहकने लगता है :—

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो !
भयो कठोर वज्र ते भारी, रहिकै पापी कहा कियो !
घोरि हलाहल सुन री सजनी, औसर तेहि न पियो !!
मन सुधि गई संभारति नाहिन पूरो दाँव अक्रूर दियो ।
कुछ न सुहाइ गई सुधि तबसे भवन काज को नेम लियो !
निशि दिन रटत सूर के प्रभु बिनु मरिवो तऊ न जात जियो !

—सूर सागर २५४५

इन शब्दों में वेदना अपनी चरम सीमा पर है किन्तु फिर भी उनमें शारीरिक चंचलता, बाह्य उछल-कूद या व्यर्थ की 'हाय-हाय' का उल्लेख नहीं है । हृदय मानो वियोगाग्नि की मन्द-मन्द आँच पर जल रहा है, वेदना शरीर के किसी एक हिस्से में नही उसके रोम-रोम मे व्याप्त हो रही है । हृदय की निराश एवं दुविधामय स्थिति का दिग्दर्शन कम से कम शब्दों में कर दिया गया है—

"मरिवो तऊ न जात जियो !"

विभिन्न संचारी भाव—गोप-बालाओं के इस विरह-पयोधि में अनेकानेक भाव-वीचियों का संचार अत्यन्त वेग से स्वतः ही हो जाता है । एक ओर प्रिय की स्मृति—"इहि विरियाँ बन ते ब्रज आवते"—से हृदय संवेदशील हो उठता है तो दूसरी ओर मथुरा के द्रुमों को देखकर उनके सौभाग्य के प्रति सहज स्वाभाविक ईर्ष्या—मथुरा द्रुम देखियत न्यारे, वहाँ श्याम हमारे प्रीतम चितवन लोचन हारे !—उद्भुत हो जाती है ! कभी बरसात में पपीहा की पिउ-पिउ सुनकर प्रेमिका का हृदय उद्वेग और अमर्ष से उद्वेलित हो उठता है—"हौं तो मोहन के विरह जरी रे तू कत जारत ! रे पापी पंखि पपीहा पिउ-पिउ अधराति पुकारत !!" तो दूसरी ओर वह 'मति' का आश्रय लेकर अपने हृदय को समझाने का प्रयास करती है :—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो !
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो !

\+ \+ \+

हम जो प्रीत करी माधौ सों चलत न कछू कह्यो !
सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनौ नैनन नीर बह्यो !!

अन्तिम पंक्ति में विवश वेदना बुद्धि के बाँध को तोड़ कर सघन रूप में बह निकलती है। मन समझाने की बातें, और धैर्य के कृत्रिम साधन, मानों इस विरह वेदना के आगे नत-मस्तक हो जाते हैं !

संदेश और उपालंभ—जिस प्रकार डूबता हुआ प्राणी तिनके का भी आश्रय ग्रहण करने को उद्यत हो जाता है, वैसे ही विरह-सरिता को पार करने के लिये वियोगिनियाँ पथिकों के द्वारा संदेश भेजने का उपक्रम करती हैं। वे ज्योंही पथिक के समीप जाती हैं, यह भूल जाती है कि उन्हें कहना क्या है ! बीता हुआ युग और प्रियतम की निष्ठुरता याद आने लगती है, और वे सोचने लगती हैं—"मेरे प्रियतम भी तो पथिक की ही भाँति जीवन में आकर चले गये" और वे उपालंभ देने लगती हैं :—

बटाऊ होहिं न काके मीत !
संग रहत सिर मैलि ठगौरी, हरत अचानक चित्त !

—सूरसागर २७३०

\+ \+ \+

कहा परदेसी को पतिआरो !
प्रीति बढ़ाय चले मधुवन कों, बिछुरि, दियो दुखभारो !
ज्यों जल-हीन मीन तरफत ऐसे विकल प्राण हमारो !
सूरदास प्रभु के दरशन बिनु ज्यों बिनु दीपक-भौंन अँधियारो !

ऐसी ही परिस्थिति में एक उपालंभ भरा संदेश—'संदेश-रासक'—की नायिका ने भी अपने मुलतान वासी प्रियतम को पथिक के द्वारा भेजा था। उसका उपालंभ था—"बताओ, हे पथिक, क्या कहूँ और क्या न कहूँ ! उस स्नेह-हीन ने मेरी यह अवस्था कर दी है। हाय ! उस अर्थ-लोभी, अकृतार्थ ने मुझे इस विरह कोहरे में अकेली छोड़कर यह हाल कर दिया है[1]—हे पथिक ! अन्य संयोगिनियों के लिये दिवस अंगुल-तुल्य हो रहा है जबकि मेरे लिये एक-एक दिन ब्रह्म-युग के समान बीतता है। हाय कन्त ! मैं इस हेमन्त लिये विलप रही हूँ, लौट कर आश्वासित न करोगे तो मूर्ख ! खल ! पापी ! मरने के बाद वैद्य आकर क्या करेगा।"[2]

---

१. हिन्दी काव्य धारा, पृष्ठ २९९ ।
२. वही, पृष्ठ ३०८ ।

यदि इस संदेश की तुलना राधा के संदेश से करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहाँ इस बाला के संदेश में अल्हड़ता है, उत्तेजना है, असंयम और अनुभूति की व्यापकता है वहाँ राधा के शब्दों में मितव्ययिता, गम्भीरता, शालीनता, संयम और वेदना की गहराई है ! अब्दुर्रहमान की नायिका में सघन-दुःख के साथ संभोग-सुख की लालसा विद्यमान है, उसमें प्रेम है किन्तु वासना का वेग अभी मन्द नही पड़ा है जबकि राधा मे भोग-सुखों की लालसा—काम का ज्वार वेदना की आँच में तपकर मानों सदा के लिये मूर्छित हो गया है। उसका प्रेम वासना के आधीन नहीं, उसकी वासनाएँ प्रेम के वशीभूत हो रही हैं। इसी लिये तो वह दूसरे ही क्षण अपने उपालंभ के तीक्ष्ण शब्दों को लौटा लेती है :—

सखी री हरि को दोष जनि देहु !
ताते मन इतनो दुख पावत, मेरोई कपट सनेहु !
विद्यमान अपने इन नैननि सूनो देखति गेहु।
तदपि सखि ब्रजनाथ बिना उर फटि न होत बड़ बेहु !

—सूरसागर, २७३३

निराशा और वेदना की इस घोर अवस्था में भी प्रेमिका का हृदय उसे अपने शब्दों द्वारा प्रियतम को रंच-मात्र भी दुःख पहुँचाने की आज्ञा नहीं देता ! प्रियतम की निष्ठुरता का उतना खेद नही जितना उसे अपने जीवित रहने का आश्चर्य है ! अतः दोष उसी का है !

प्रेम की परिणति—प्रणय-भावना गोपी उद्धव-संवाद में गोपियों की विरह-वेदना-उक्तियों के माध्यम से सघन रूप में व्यक्त हुई है :—

अंखियाँ हरि दरशन की भूखी !
अब कैसे रहति श्याम-रंग राती ए बातें सुनि रूखी !

\+ + + +

ऊधौ प्यारे, कही सौ बहुरि न कहिए !
जो तुम हमें जिवायो चाहत, अनबोले होइ रहिये !!

—वही, ३०६३

इन उक्तियों में हम प्रेम का उत्कर्ष, वेदना की गंभीरता और दैन्य की कोमल अनुभूतियों का अपूर्व समन्वय पाते है ! विरहकातर हृदय की विवशता का ऐसा सूक्ष्म चित्रण बहुत कम कवियों ने किया है।

(घ) स्थायीभाव का उत्कर्ष या रस निष्पत्ति

सूर सागर में शृंगार-भावना के उत्कर्ष पर विचार करने के लिये हम उसमें चित्रित प्रणय को दो कहानियों के रूप में ले सकते हैं—(१) कृष्ण और राधा से सम्बन्धित और (२) कृष्ण और गोपियों की प्रेम कहानी। राधा और कृष्ण के प्रेम को सौन्दर्याकर्षणएवं साहचर्यभाव के योग से अत्यन्त ही स्वाभाविक गति से धीरे-धीरे विकसित किया गया है। यद्यपि प्रेमोदय के अनन्तर राधा-कृष्ण किसी न किसी बहाने एक दूसरे से बराबर मिलते रहते हैं परन्तु उसके साथ-साथ घर वालों के नियन्त्रण के कारण परिस्थितियों की कठिनता और विषमता की व्यंजना भी हुई है। परिस्थितियों की यह कठोरता उनकी चंचल वासना को स्थिर भावना का रूप देने में सहायक सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के प्रति अन्य गोपियों का आकर्षण, एवं उनका चिर-वियोग भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राधा की प्रणय-भावना को गंभीरतम रूप प्रदान कर देता है। यद्यपि अन्त में कृष्ण की रस-लोलुपता के कारण इस प्रेम का स्वरूप एकांगी हो जाता है और उसकी परिणति निराशा मे हो जाती है, किन्तु उससे राधा के प्रेम में कोई अन्तर नही पड़ता। वह उस स्थिति में पहुँच जाती है जहाँ प्रेमिका प्रेमी से किसी भी बात की अपेक्षा नही रखती, उसका प्रणय काम और स्वार्थ से सर्वदा मुक्त हो जाता है। अत: इसमें कोई सन्देह नहीं कि राधा में प्रणय-भावना का पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त होता है।

कृष्ण और गोपियों की प्रेम-कहानी मनोवैज्ञानिक एवं व्यवहारिक दृष्टि से अस्वाभाविक प्रतीत होती है। एक ही नायक का एक के बाद एक के क्रम से तो कई युवतियों से प्रेम करना संभव है किन्तु एक ही साथ, एक ही समय में नायिकाओं के साथ प्रणय-व्यापार चलाना असंभव सा प्रतीत होता है और यह भी आश्चर्य की बात है कि प्रेमिकायें भी इस स्थिति को स्वीकार कर लेती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस स्थिति का विश्लेषण तीन प्रकार से किया जा सकता है—(१) गोपियों का सम्बन्ध श्रद्धा मिश्रित प्रेम अर्थात् भक्ति भावना पर आधारित है। श्रद्धा और भक्ति के क्षेत्र में एक ही आलम्बन का अनेक व्यक्ति एक साथ आश्रय ले सकते है। (२) सभी प्रेमिकायें आलम्बन को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करने मे प्रयत्नशील हों तथा प्रत्येक को यह आशा हो कि वह नायक पर पूर्णाधिकार पाने में सफल हो जायगी। (३) सभी प्रेमिकाओं का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो कि उसमें ईर्ष्या के उद्भव की संभावना ही न रहे।

उपर्युक्त संभावनाओं में से जहाँ तक पहली का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि गोपियों का सम्बन्ध काम-वासना एवं स्थूल शारीरिक आकर्षण से इतना अधिक समन्वय है कि उसे भक्ति का नाम नहीं दिया जा सकता। स्वयं भागवतकार ने भी यह स्वीकार किया है कि उनका सम्बन्ध काम-वासना पर आधारित था। पारस्परिक स्पर्द्धा सम्बन्धी दूसरा विश्लेषण भी ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि गोपियों में हमें इसके कोई लक्षण नहीं मिलते। कहीं भी किसी गोपिका को हम किसी अन्य के विरुद्ध कुछ भी कहते नहीं पाते, अपितु वे परस्पर सहयोग और सहानुभूति की भावना प्रदर्शित करती हैं। वस्तुतः उनके सम्बन्ध में तीसरी स्थिति ही वास्तविक सिद्ध होती है। कृष्ण के परिचय से पूर्व वे सब प्राण-प्रिय सखियाँ थी, कृष्ण से उनका परिचय, मिलन और वियोग आदि एक ही साथ सामूहिक रूप में होता है, अतः उनके सामने प्रतिस्पर्द्धा का प्रश्न नहीं उठता ! संयोग-कालीन लीलाओं—दान-लीला, पनघट लीला, चीरहरण, रास-लीला आदि में कृष्ण के साथ छेड़-छाड़, हास-परिहास आदि का जो सुख मिलता था वह सबके लिये समान और सबका सम्मिलित था, और जहाँ तक अन्तिम दीर्घ-वियोग से प्राप्त होने वाले दुःख का सम्बन्ध है उसमें तो कोई भी हिस्सा बंटा सकता है, ईर्ष्या की बात ही नहीं। इस सामूहिक प्रणय की परिणति यदि सुखान्त में होती तो अवश्य एक समस्या उपस्थित हो जाती, किन्तु उसका अवसर ही नहीं आया।

साहित्यिक दृष्टि से यहाँ एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है। कवि ने इन गोपियों को पृथक-पृथक व्यक्तित्व प्रदान नहीं किया—कृष्ण से छेड़-छाड़ करने वाली, मथुरागमन से उन्हें रोकने वाली, और उद्धव से बहस करने वाली सभी गोपियों में पाठक को एक ही हृदय, एक ही प्राण, और एक ही व्यक्तित्व का आभास होता है, अतः उसकी रसानुभूति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

अब रहा कृष्ण की प्रेम भावना का विवेचन। जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है जहाँ व्यक्ति एक से अधिक वस्तुओं की ओर आकर्षित होता है उसके आकर्षण को प्रेम न कहकर लोभ की संज्ञा देना ही उचित होगा। कृष्ण आध्यात्मिक दृष्टि से चाहे जो कुछ हों, अपने लौकिक रूप में तो रस-लोलुप नायक ही सिद्ध होते हैं। वे वृन्दावन में गोप बालाओं से खेलते हैं, मथुरा में कुब्जा सुन्दरी की सेवायें स्वीकार करते हैं और द्वारका में सोलह सहस्र राजकुमारियों का संग्रह करते हैं ! जिस रनिवास में इतनी पत्नियाँ रह

सकती थीं, वहाँ गोकुल की सारी प्रेमिकाओं के लिये तो न सही—पर क्या प्रेयसी कुमारी (कुंआरी) राधा के लिये भी थोड़ा सा स्थान नहीं बन सकता था ! जिस कवि ने राधा जैसे कोमल मनोहर व्यक्तित्व की कल्पना की क्या वह उसे द्वारका के महलों में पहुँचा कर प्रेम की परिणति भारतीय परम्परा के अनुसार सुखान्त में नहीं कर सकता था ? इस प्रणय-कहानी का अन्त सुखमय किया जा सकता था किन्तु कृष्ण की अति रसिकता को देखते हुए ऐसा अस्वाभाविक होता। गोपियों के मुँह से बार-बार यह कहला कर—"मधुकर तुम रस लंपट लोग !" स्वयं कवि ने इस तथ्य का निर्देश कर दिया है।

अस्तु सूर ने प्रणय को एकांगी एवं वियोग प्रधान रूप में उपस्थित किया है, फिर भी उन्होंने उसमें उन सब अवयवों का सम्मिश्रण कर दिया है, जिससे भावना के विकास में योग मिलता है। चिर-वियोग की आग से गोपियों का प्रणय वासना और स्वार्थ के कर्दम से मुक्त हो कर निखर उठता है ! प्रेम का ऐसा शुद्ध स्वरूप, भावना का ऐसा गांभीर्य और वर्णन की ऐसी स्वाभाविकता बहुत कम कवियों में मिलती है। वस्तुतः सूर का काव्य पाठक के हृदय को द्रवित करने में पूर्णतः समर्थ है। प्रणय को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिये कवि ने परम्परागत भारतीय प्रेम की रूढ़ियों का भी उल्लंघन कर दिया है, जो स्तुत्य है।

सूर का शृंगार वर्णन और श्रीमद्भागवत

सूर-सागर का मूलाधार श्रीमद्भागवत माना जाता है, किन्तु फिर भी दोनों के शृंगार चित्रण में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है, जिस में उल्लेखनीय भेद ये है—

(क) भागवत के कृष्ण अपने ब्रह्म-रूप को कहीं भी नहीं भूल पाते, अतः उनका गोप-बालाओं के प्रति कोई आकर्षण नहीं है, वे गोपियों की इच्छा से बाध्य होकर रास-विहार में प्रवृत्त होते हैं।[1] इस प्रकार भागवत् के कृष्ण निर्लिप्त है जबकि सूर सागर के कृष्ण गोपियों के यौवन एवं सौन्दर्य से प्रभावित होकर संयोग-क्रीड़ाओं में लीन होते है।

(ख) भागवत में रास विहार पूर्व की बहुत सी घटनाएँ एवं पनघट लीला, दान लीला आदि का अभाव है। वियोग काल के पूर्ववत् सूरदास की गोपियाँ कृष्ण से समानता के स्तर पर व्यवहार करती हुईं अवसर के अनुकूल

---

१. श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध अध्याय २२ श्लोक ८।

उनसे हास-परिहास भी करती हैं जबकि भागवत् की गोपियाँ प्रारम्भ से ही कृष्ण की अपेक्षा अपनी हीन स्थिति स्वीकार कर लेती हैं।

(ग) भागवत में कृष्ण की अनुपस्थिति में बलराम वारुणी पीकर गोपियों के साथ रास विहार करते हैं, जो प्रेम की दृष्टि से अस्वाभाविक है।[1]

(घ) भागवत में गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-निरूपण को स्वीकार कर लेती हैं, पर सूर सागर मे ऐसा नही है।[2]

(ङ) भागवत के कृष्ण द्वारकाधीश बन जाने पर कुरुक्षेत्र के मेले पर गोप-बालाओं से मिलते हैं, वहाँ वे अपनी पटरानियों से गोप-बालाओं का कोई परिचय नही करवाते जबकि सूरदास ने इस प्रसंग का अत्यन्त सरसतापूर्वक चित्रण किया है।[3]

(च) भागवतकार ने कृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध का नैतिक दृष्टि से औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया है,[4] जबकि सूरदास इस ओर से निश्चिंत है।

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि सूरदास ने भागवत के उन वर्णनों को छोड़ दिया है जो शृंगार की स्वाभाविकता में बाधक हैं, दूसरी ओर उन्होंने नवीन प्रसंगों को भी उद्भावना की जो रस-सृष्टि में सहायक सिद्ध होते हैं। भागवत में अलौकिकता और साम्प्रदायिकता के आगे उसकी साहित्यिकता अविकसित रह जाती है जबकि सूरदास ने भावात्मकता एवं स्वाभाविकता के लिये आध्यात्मिकता का बहिष्कार कर दिया है। यही कारण है कि जहाँ भागवत धार्मिक ग्रन्थ की कोटि में आता है वहाँ सूरसागर एक सुन्दर साहित्यिक रचना मानी जाती है।

(ङ) सूरदास और विद्यापति

विद्यापति और सूरदास में प्रेम के आलम्बन और वर्णन शैली की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है किन्तु कई दृष्टिकोणों से दोनों में सूक्ष्म भेद है। विद्यापति का दृष्टिकोण सर्वथा धर्म-निरपेक्ष होने के कारण उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम

---

१. श्रीमद्भागवत्, दशम स्कंध अध्याय ६५।
२. वही—अध्याय ४७, श्लोक ५३।
३. वही—अध्याय ८२-८३।
४. वही—अध्याय ३३, श्लोक ३०-३६।

में सामान्य घटनाओं का आयोजन किया है, जबकि सूरदास बहुत कुछ भागवत के इतिवृत्त से बंधकर चलते है : इसीलिये विद्यापति के राधा-कृष्ण सामान्य प्रेमी प्रेमिका के रूप में उपस्थित होते है, जबकि सूरदास के राधा-कृष्ण ब्रज-प्रदेश एवं अहीर कुल की विशिष्टताओं से युक्त है।

प्रेम का आरम्भ दोनों ने ही सौन्दर्याकर्षण से दिखाया है : किन्तु फिर भी दोनों के सौन्दर्य चित्रण में अन्तर है। नारी के उन्मुक्त सौन्दर्य एवं उसकी विभिन्न रूप चेष्टाओं का जैसा मनोमुग्धकारी चित्रण विद्यापति ने किया है उसका सूरदास के काव्य में अभाव है, किन्तु कृष्ण के रूप में पुरुष-सौन्दर्य का विस्तार करने में सूरदास अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त सूरदास ने सौन्दर्याकर्षण मे साहचर्य का योग देकर प्रणय भावना को अधिक दृढ़ आधार प्रदान किया है।

प्रेम की सफल परिणति में नायक राज की रस-लोलुपता दोनों के ही काव्य में बाधक होती है, किन्तु फिर भी दोनों की निराशा में अन्तर है। विद्यापति के रसिकराज की प्रणय-लीला प्रत्येक सुन्दरी से अलग अलग गुप्त रूप से चलती है : वे किसी दूसरी सुन्दरी पर आसक्त होने के अनन्तर पहली प्रेमिका से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं, इस प्रकार विद्यापति की प्रेमिकाओं का वैयक्तिक प्रेम बंचकता के आघात से नष्ट हो जाता है। उसकी अन्तिम निराशा में वियोग की वेदना की अपेक्षा पश्चात्ताप और आत्म-ग्लानि की जलन अधिक है; जिससे उनका प्रेम निर्वेद में परिणत हो जाता है। इसके विपरीत सूरदास की गोपियों का सामूहिक प्रेम अस्वाभाविक सा होता हुआ भी अन्त तक बना रहता है। उनका प्रेमी—जानबूझ कर नही, परिस्थितियों से विवश होकर उन्हें त्याग कर जाता है, अतः नायक के प्रति उनका प्रणय भाव अन्त तक स्थिर रहता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि सौन्दर्य के वैभव और मधुर अनुभूतियों की दृष्टि से विद्यापति का काव्य बहुत समृद्ध है, किन्तु भावना के गांभीर्य एवं प्रणय के चरमोत्कर्ष की दृष्टि से सूर से वे बहुत पीछे रह जाते हैं। सूर की शृंगार-भावना अन्त में शुद्ध पवित्र एवं निष्काम प्रेम की उच्च भूमि का स्पर्श कर लेती है, जबकि विद्यापति का काव्य आरम्भ से अन्त तक रसिकता के ही आवरण से प्रच्छन्न रहता है।

शृंगारोत्तर-काव्य-परम्परायें

(क) संत-काव्य-परम्परा

परम्परा का विकास—"भारतीय-धर्म-साधना में शृंगारिकता का प्रवेश" शीर्षक अध्याय में पीछे विस्तार से बताया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी सिद्धों ने धार्मिकता के आवरण में लौकिक शृंगार का विकास किया। किन्तु आगे चलकर उन सिद्धों में ही गोरक्षपा, जालंधरनाथ, ज्ञाननाथ जैसे उपदेशक हुए जिन्होंने इस सम्प्रदाय की अति लौकिता, अतिकामुकता एवं अति-भोग-साधना से ऊबकर एक नये संप्रदाय—नाथ-पंथ का प्रवर्त्तन किया जिसमें योग एवं आध्यात्मिक प्रेम को स्थान मिला। यद्यपि सिद्धान्तों की दृष्टि से नाथ-पंथ में वज्रयान से गहरा भेद है किन्तु उसमें वज्रयान की कई नई बातें मिलती हैं। एक तो नाथ-पंथी गुरुओं के रूप में वज्रयानी सिद्धों (जिनकी संख्या ८४ मानी जाती है) में से अनेक के नाम ग्रहीत कर लिये गये; दूसरे मुद्रा, शक्ति, सहज योग, आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों को ले लिया गया, (यद्यपि उनका अर्थ भिन्न है); तीसरे वज्रयानी सिद्धों की सभी प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियाँ नाथ-पंथी साहित्य में मिलती हैं। आगे चल कर नाथ-पंथ की जटिल-साधना पद्धति की प्रक्रिया स्वरूप इसके कुछ अनुयायियों ने रामानन्द जैसे आचार्यों से सरल भक्ति-सम्प्रदाय की दीक्षा ली।[1] अस्तु, नाथ-पंथ और भक्ति-सम्प्रदाय के सम्मिश्रण के रूप में ही हिन्दी की उस संत-परम्परा का विकास हुआ जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा' का नाम दिया है। यद्यपि सिद्धान्तों

---

१. "इस बात का तो ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है कि रामानन्द के शिष्यों में से किसी-किसी ने नाथ-मार्गी योगियों के प्रतिष्ठित अखाड़ों को अपने प्रभाव में लाकर उनके शिष्यों को अपना अनुयायी बनाया है।"

—हिन्दी-साहित्य : ले० हजारीप्रसाद द्विवेदी ; प्र० सं०, पृ० १ १४।

की दृष्टि से वज्रयानी, नाथपंथ एवं संत-मत में परस्पर बहुत भेद है, किन्तु साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से इनमें गहरा साम्य है। सिद्ध-कवियों की काव्य-परम्परा ही नाथ-पंथी योगियों में होती हुई हिन्दी के संत-कवियों के पास पहुँची ; यही कारण है कि अपभ्रंश के सिद्ध-साहित्य की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ हिन्दी सन्त काव्य में मिलती है :—

१—सिद्ध और संत कवि अशिक्षित एवं निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं; दोनों वर्ग के कवियों ने पारिवारिक एवं गार्हस्थ्य-जीवन की अवहेलना की।

२—दोनों वर्ग के कवियों ने अन्य धर्मों की बाह्य-पद्धतियों एवं विधि-निषेधों का खंडन स्पष्ट शब्दों में किया।

३—दोनों वर्ग के कवियों ने परम्परागत वर्ण-व्यवस्था एवं सामाजिक आदर्शों का विरोध किया।

४—दोनों वर्ग के कवियों ने मुक्तक पद-शैली का प्रयोग करते हुए तत्कालीन लोक-भाषा में काव्य-रचना की।

५—दोनों वर्ग के काव्य में रूपक, उलट बासियों, एवं श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भारी संख्या में हुआ है।

६—दोनों वर्ग के कवियों ने बाह्य-विषय के निरूपण की अपेक्षा स्वानुभूति की अभिव्यंजना को प्रधानता दी है।

७—संत-काव्य परम्परा मे सिद्धों के लौकिक शृंगार का उन्नयन अलौकिक प्रेम के रूप में प्राप्त होता है।

उपर्युक्त समानताओं को देखते हुए संत-काव्य परम्परा को सिद्ध-काव्य-परम्परा का ही विकसित रूप कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा।

प्रेम का स्वरूप—जिस प्रकार जायसी, कुतुबन, मंझन आदि प्रेमाख्यानक कवियों पर सूफी-मत के प्रभाव का भ्रम प्रचलित है, उसी प्रकार संत कवियों का प्रेम-तत्व भी सूफी-मत की देन के रूप में बताया जाता है। किन्तु सिद्ध-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों की भाँति संत-काव्य-परम्परा का प्रेम-तत्व भी सिद्धों के शृंगार का ही नाथ-पंथी योगियों के द्वारा विकसित परिवर्तित एवं परिष्कृत रूप है। नाथ-पंथी योगियों के काव्य में अलौकिक प्रेम या रहस्यवाद के वे सब तत्व उपलब्ध हो जाते हैं जिनका विकास हिन्दी के संत कवियों में हुआ। उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियों का अनुवाद देखिये—

१—अद्वैतवाद—

जो परमात्मा सोइ हौं, जो हौं सो परमात्म।
एह जाने बिनु जोगिया, अन्य न करहु विकल्प ।।[1]

—योगीन्द्र, १००० ई०—योग-सार

२—आत्मा और परमात्मा का प्रणय-सम्बन्ध—

शून्य करुणा अभिन्न काय-वाक चित्ते।
विलसै दारिक गगन तें पारिम कूले।
अलख लखै चित्त महा सुखे।
विलसै दारिक गगनतें पारिम-कूले।[2]

—दारिक पा (८४० ई०)

साँभलि राजा बोल्या रे अवधू। सुणै अनुपम वाणी जी।
निरगुण नारी सूँ नेह करंता। झबकै रैणि बिहाणी जी।
डाल न मूल पत्र नहिं छाया। बिण जल पिंगुला सीचै जी।
बिणही मढीयाँ मंदला बाजै। यण विधि लोका रीझै जी ।।[3]

—गोरख नाथ (अविर्भाव-काल ?)

इसके अतिरिक्त संत कवियो के काव्य मे कुछ ऐसे साक्ष्य भी उपलब्ध होते है, जिनसे सिद्ध होता है कि इन कवियों पर सूफीमत का प्रभाव नहीं है—

५—इन कवियों ने अन्य सम्प्रदायों का विरोध स्पष्ट शब्दों मे किया है किन्तु तत्कालीन वैष्णव-भक्ति सम्प्रदाय के प्रति इन्होंने गहरी 'श्रद्धा का परिचय दिया है—

मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णों एक राम।
वोहै दाका मुकति का, वो सुमिरावै नाम ।।

—कबीर-ग्रन्थावली, ५४९

वैश्नों की छपरी भली, ना साषत का नड गाँउ ।।

—वही, पृ०५५२

१. राहुल सांकृत्यायन कृत अनुवाद—हिन्दी-काव्य-धारा, पृ० २५१।
२. वही—पृ० १४१।
३. वही—पृ० १६०।

साषत बाँभरण मत मिलै, बैसनों मिले चंडाल।
अंक माल दे भेटिये, मांनो मिले गोपाल॥

—वही, पृ० ५३

इसी प्रकार गुरु गोरखनाथ के प्रति भी कबीर ने श्रद्धा व्यक्त की है—"साखी गोरखनाथ ज्यूँ अमर भया कलि माँही" (वही, पृ० ५१); किन्तु इन्होंने सूफीमत के प्रति कहीं भी कोई श्रद्धा प्रकट नहीं की। इसके विपरीत वंदगी, निवाज, हज्ज आदि (इन्हें सूफी प्रथम सीढ़ी—शरीअत के रूप में स्वीकार करते हैं) तथा सूफी-साधकों—'शेख' दरवेश आदि का विरोध कठोर शब्दों में किया है—

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जिनकी दिल स्याबित नहीं, तिनकौ कहाँ खुदाइ॥

—वही, पृष्ठ ४३

यहु सब झूठी बंदगी, बंदियाँ पंच निवाज।
साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज॥

—वही, पृष्ठ ४२

\+ \+ \+

है कोई दिल दरवेश तेरा।
नासूत, मलकूत, जबरूप को छोड़िकै,
जाइ लाहूत पर करै डेरा॥

—कबीर का रहस्यवाद (वर्मा), पृष्ठ १५६

२—इन संत कवियों ने खण्डन क्षेत्र में ईश्वर के पर्यायवाची के रूप में अल्लाह, खुदा, आदि शब्दों का प्रयोग किया है; किन्तु प्रेम के आवेश में वे सर्वत्र राम, गोविन्द, हरि आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिनका सूफीमत से कोई सम्बन्ध नहीं।

३—इन्होंने भारतीय अद्वैतवाद और नाथ-पंथी योग-साधना के सभी पारिभाषिक शब्दों—ब्रह्म, माया, आत्मा, सहज-साधना, शून्य, योग, चेतावनी, परिचय, सूक्ष्म-मार्ग, कुण्डली, षट-चक्र, इड़ा, पिंगला, शुषुम्ना आदि का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है किन्तु अपनी साधना-पद्धति के प्रतिपादन में सूफी शब्दावली—क्लब, सिर्र, अक्ल, शरीअत, तरीकत, मारिफत, हकीकत आदि का प्रयोग प्रायः नहीं किया है।

४—सूफी प्रेम में ब्रह्म की प्रेमिका के रूप में तथा साधक की प्रेमी के रूप में कल्पना की जाती है, जबकि कबीर, दादू आदि संत कवियों ने ईश्वर को पति तथा अपने आपको पतिव्रता-पत्नी का रूप दिया है। कबीर ग्रन्थावली 'निहकरमी पतिव्रता को अंग' 'पीव पिछापन को अंग' आदि प्रसंग प्रमाण-स्वरूप देखे जा सकते हैं।

५—हमारे विद्वान आलोचकों ने कबीर के रहस्यवाद पर सूफीमत के प्रभाव का उल्लेख तो बार-बार किया है, किन्तु उन्होंने यह बताने का कष्ट नहीं किया कि सूफी प्रेम की कौन-कौन सी विशेषताएँ कबीर आदि संतों मे मिलती हैं, जो भारतीय-साधना पद्धति से असम्बद्ध है। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'कबीर के रहस्यवाद' शीर्षक ग्रन्थ में 'सूफीमत और कबीर' का विवेचन किया है, इसमें पहले सूफीमत का परिचय दे दिया है और आगे कबीर के काव्य से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर दी गई हैं, किन्तु दोनों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया। यही नहीं, उन्होंने विरोधी उदाहरण भी दिये हैं—जैसे निम्नांकित पद देखिये—

हम सब माँही सकल हम माँही।
हम थे और दूसरा नाँही।
तीन लोक में हमारा पसारा।
आवागमन सब खेल हमारा।
खट - दरशन कहियत भेखा।
हमही अतीत रूप नहीं रेखा।
हमहीं आप कबीर कहावा।
हमहीं अपना आप लखावा॥[1]

डा० वर्मा ने इस पद्य में सूफियों की आध्यात्मिक भावना का प्रभाव बताया है, किन्तु हमें इसमें ऐसी कोई बात नहीं दिखाई देती। घट में अघट को देखने की साधना का प्रचार नाथ-पंथी एवं सिद्ध योगियों द्वारा भारत में सूफियों के आगमन से पूर्व हो चुका था। इसके अतिरिक्त इस पद में 'तीन-लोक' 'आवागमन' 'षट-दर्शन' आदि शब्द भारतीय-दर्शनों के प्रभाव के द्योतक हैं—न कि सूफी प्रभाव के। यही-नही, कई स्थानों पर कबीर में सूफी प्रेम से भेद मिलता है—इसका आभास डा० वर्मा की इन पंक्तियों में भी मिल जाता है—"रूमी ने अपनी मसनवी में लिखा है.....। कबीर ने इसी विचार

---

१. कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, सातवाँ संस्करण, पृष्ठ ९८

को बहुत परिष्कृत रूप में रखा है। वे यह नहीं कहते कि जब लहर समुद्र में पहुँची तो समुद्र बन गई, पर वे यह कहते हैं कि हम इस प्रकार दिखेंगे जैसे तरंगिनी की तरंग, जो उसी में उत्पन्न होकर उसी में मिलती है। रूमी तो कहता है कि जब तरंग समुद्र में पहुँची तब वह समुद्र बनी। पहले वह समुद्र का भाग नहीं थी। कबीर का कथन है कि तरंग तो सदैव तरंगिनी में वर्तमान है। उसी में उठती है और उसी में गिरती है—

ऐसे जलहि तरंग तरंगिनी,
ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर,
हंसहि हंस मिलावहिंगे॥[1]

यहाँ डा० वर्मा ने यह नहीं बताया कि कबीर और सूफी कवि रूमी में ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में यह मतभेद क्यों मिलता है? वस्तुतः यह भेद कबीर और रूमी का ही नहीं है—भारतीय अद्वैत-साधना एवं सूफी रहस्यवाद का भेद है, कबीर का सम्बन्ध नाथपंथी योगियों की रहस्य-पद्धति से था न कि सूफी कवि रूमी, अतः दोनों में यह भेद मिलना स्वाभाविक है।

अस्तु, उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी के संत कवियों का प्रेम-तत्व सूफी मत से उधार लिया हुआ नहीं है, उसका विकास सिद्धों, नाथ-पंथियों एवं वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों के प्रभाव से हुआ। फिर भी इतना स्पष्ट है कि संतों ने उपर्युक्त सम्प्रदायों से प्रेम को ज्यों का त्यों ग्रहीत नहीं किया—उसका पर्याप्त विकास एवं परिष्कार किया है। सिद्धों का प्रेम कामुकता से ओत-प्रोत था तथा वह लौकिक आलम्बन—मुद्रा (नारी) से सम्बन्धित था, नाथ-पंथी योगियों ने इसे विशुद्ध भावना का रूप देकर अलौकिक शक्ति की ओर प्रेरित किया। नाथ-पंथियों में प्रेम की अपेक्षा योग-साधना का अधिक महत्व है अतः उसमें प्रणयानुभूतियों की व्यंजना नहीं मिलती। हिन्दी के संत-कवियों का प्रेम अदृष्ट की ओर उन्मुख है तथा उसमें योग-साधना की शब्दावली का भी प्रयोग मिलता है किन्तु फिर भी उसमें प्रणय-अनुभूति की मात्रा नाथ-पंथियों से बहुत अधिक है। वैष्णव-भक्तों के प्रभाव से संत-कवियों के प्रेम में कुछ नये तत्वों का भी मिश्रण मिलता है जिनका पूर्ववर्ती सिद्धों एवं नाथ-पंथियों के साहित्य में अभाव है :—

---

१. वही—पृष्ठ ९५

(क) इन्होंने अपने अलौकिक ईश्वर का नामकरण वैष्णव भक्तों की शब्दावली में किया—जैसे राम, गोविन्द, हरि। यह ध्यान रहे कबीर की आत्मा—"हम घर आये हो राजा राम"—तो कहती है; किन्तु वह अल्लाह, या खुदा से मिलने की चर्चा कभी नहीं करती।

(ख) इन्होंने आत्मा और परमात्मा की एकता स्वीकार करते हुए भी आत्मा की अपेक्षा परमात्मा को अधिक महत्व प्रदान किया है जिससे इनमें आत्म-दैन्यता का भाव भी मिलता है, जैसे—

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाऊँ॥

—क० ग्र०, पृष्ठ २०

यही नहीं इन्होंने आत्मा को प्रिय की अपेक्षा हीन, अबोध एवं मलिन भी स्वीकार किया है :—

जा कारणि मैं ढूँढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव उजला, लागि न सकौं पाइ॥

—वही, पृष्ठ १५

अस्तु, इनके प्रेम में कहीं-कहीं श्रद्धा का ऐसा मिश्रण मिलता है कि वह भक्ति की सीमा में पहुँच जाता है।

रहस्यवाद का विकास—अन्त में हम कह सकते हैं कि भारतीय साहित्य में रहस्यवाद का विकास सिद्धों, नाथ-पंथियों एवं वैष्णवों की दीर्घ परम्परा की देन है। इसके प्रारम्भिक अंकुर ८वीं शताब्दी से ही—भुसुकपा, लुईपा, विरूपा, दारिकपा, गोरक्षपा, योगीन्दु आदि अपभ्रंश कवियों की रचनाओं में मिलने लगते हैं।[1] अतः यह समझना कि हिन्दी-काव्य मे रहस्यवाद का उदय सूफीमत के प्रभाव से हुआ एक भ्रम मात्र है। इसके अतिरिक्त संत-कवियों की अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी इस बात की द्योतक हैं कि हिन्दी संत-काव्य का उद्गम-स्रोत अपभ्रंश का सिद्ध एवं नाथ-पंथी साहित्य है, फारसी का सूफी काव्य नहीं। हाँ भारतीय अद्वैतवाद का अध्ययन आठवी-नवीं शताब्दी में कुछ अरब और फारसी के विद्वानों ने भी किया था।[2] अतः सूफीमत और भारतीय-अद्वैत के प्रतिपादन में कहीं-कहीं उदाहरणों का साम्य मिलना स्वाभाविक है। हिन्दी

---

१. हिन्दी-काव्य-धारा—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १३६-१५६।
२. विश्व-साहित्य की रूप-रेखा—डा० भगवतशरण उपाध्याय,
—पृष्ठ ९६; ३५०।

के संत-कवियों में फारसी के सूफी कवियों से कहीं कोई साम्य मिलता भी है तो वह घुणाक्षर-न्याय से ही है, उसमें कारण और कार्य का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता।

(ख) शृङ्गार-निरूपण

निर्गुण-ज्ञानाश्रयी शाखा के संत-कवियों ने अपनी अलौकिक प्रेमानुभूतियों का चित्रण लौकिक रूपकों—मुख्यतः आत्मा को पत्नी रूप में तथा परमात्मा को पति रूप में—के माध्यम से किया है, जिसे रहस्यवाद में भी लौकिक प्रेम की ही भाँति, आत्मा रूपी प्रेयसी का लक्ष्य परमात्मा रूपी प्रिय को प्राप्त कर लेना, उससे मिलकर एक हो जाना—होता है। अतः उसमें विरह और संयोग का वर्णन उसी शब्दावली में होता है जो साधारणतः शृंगार के क्षेत्र में प्रयुक्त होती है। यही कारण है कि दार्शनिक और बौद्धिक दृष्टि से रहस्यवाद का स्वरूप लौकिक शृंगार से सर्वथा भिन्न होते हुए भी साधारण पाठक की भावानुभूति की दृष्टि से वह उससे बहुत कछ साम्य रखता है। उदाहरण-स्वरूप इस काव्य-परम्परा के प्रमुख कवि कबीर के द्वारा चित्रित भाव-दशाओं का थोड़ा विश्लेषण करके देखा जा सकता है।

वियोग दशा—लौकिक दाम्पत्य में संयोग के अनन्तर वियोग की उपस्थिति होती है, किन्तु अलौकिक प्रणय में स्थिति इसके विपरीत है। आत्मा की परमात्मा में अनुरक्ति होते ही उसे सांसारिक विषयों से विरक्ति का अनुभव होने लगता है—

को बीने, प्रेम लागो री माई को बीने।
राम-रसायन माते री, माई को बीने॥[1]

जब साधक की आत्मा परमात्मा के मिलन के लिये उत्सुक हो जाती है तो उसकी वही अवस्था हो जाती है जो लौकिक क्षेत्र में प्रेमी की पूर्वराग में होती है :—

कब देखूँ मेरे राम सनेही!
जा बिन दुख पावे मेरी देह।
हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वामी।
कब रे मिलहुगे अन्तर-जामी॥[2]

---

१. कबीर का रहस्यवाद—ले० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १२०।
२. वही, पृष्ठ सं० ११४।

आत्मा की यह मिलनाकांक्षा धीरे-धीरे बढ़ती हुई तीव्र वेदना का रूप धारण कर लेती है। वह अपने हृदय के वेग पर संयम रखने में असमर्थ हो जाती है और अपने प्रिय को उच्च स्वर में पुकार-पुकार कर बुलाने लगती है—

वाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।
+ + +
एक मेक ह्वै सेज न सोवे तब लग कैसा नेह रे!
अन्न न भावे, नींद न आवे ग्रिह बन धरे न धीर रे।
वाल्हा आव हमारे गैह रे.....।।[1]

रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है, देह का देह से नहीं। अतः प्रश्न उठता है फिर कबीर ने यहाँ देह के दुःखी होने का वर्णन क्यों किया? संभवतः कवि ने अपनी अनुभूतियों को अधिक से अधिक प्रेषणीय बनाने के लिये ही ऐसा किया हो। फिर भी इतना स्पष्ट है कि यदि यह न बताया जाय कि यह गीत किसी रहस्यवादी कवि का लिखा हुआ है तो, निस्संदेह पाठक इसे लौकिक दाम्पत्य से ही सम्बन्धित मानेगा।

संचारी भाव—कबीर के विरह-वर्णन में विभिन्न संचारी भावों का चित्रण भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। यहाँ कुछ उदाहरण देखिये—

औत्सुक्य—विरहिन उभी पंथ सिर पंथी बूझै धाई।
एक सबद कही पीव का, कबरे मिलेंगे आई।।[2]

विवशता—आइ सकों न तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाय।
जियरा योंही लेहुगे, विरह तपाइ-तपाय।।[3]

विकलता—कै विरहिणि कूं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का बाझणा, मो पैं सह्या न जाइ।।[4]

कबीर जैसा व्यक्ति जो कभी काशी के विद्वानों से डट कर शास्त्रार्थ किया करता था, विरह-वेदना से पीड़ित होकर दैन्य से ओत-प्रोत हो जाता है। वह जन-जन के सामने भिक्षा के लिये हाथ फैलाने लगता है—

है कोई ऐसा पर उपकारी, हरि सूं कहै सुनाय रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जिय जाय रे।।

---

१. वही, पृष्ठ सं० १०७।
२,३,४. कबीर ग्रन्थावली, विरहिणी को अंग।
५. कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ सं० १०७।

वे दूसरों की स्थिति से अपनी तुलना करते हुए कहते हैं :—

सुखिया सब संसार, खाये अरु सोवै ।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवै ।।[1]

कबीर के ये उद्‌गार बताते हैं कि विरह चाहे लौकिक हो या अलौकिक उसकी वेदना असह्य होती है। विरहानुभूति की पीड़ा से चाहे प्रिय-वियुक्ता अबला हो या जटिल साधनाओं में पारंगत पहुँचा हुआ संन्यासी—दोनों की दशा एक जैसी हो जाती है। आधुनिक युग की कुछ कवयित्रियाँ भले ही विरह से प्यार करने की बात कहें, किन्तु जिन्हें इसकी सच्ची अनुभूति है वे तो इस के नाम से ही काँप उठते हैं।

संयोगानुभूतियाँ—कबीर के इस भावुक जीवन में मिलन की घड़ियों का भी आगमन होता है। वे अपना सारा पौरुष, सारा गर्व एवं सारी अक्खड़ता को भूलकर किसी नवीना किशोरी बाला के हृदय की भाँति कोमलता से गद्‌गद्, लाज से विभोर और प्यार से विह्वल हो उठते हैं। प्रियतम के महल की ओर अग्रसर होते हुए उनके पैर सौ-सौ बल खाने लगते हैं, हृदय की धड़कन द्रुततर हो जाती है और घूँघट का पट कुछ आगे खिसक आता है। एक ओर सास का भय, दिवरानियों की लज्जा और नणदों का उपहास, दूसरी ओर किसी अपरिचित से प्रथम-मिलन की अज्ञात आशंकायें—इन सबसे उस मुग्धा की जो दशा हो जाती है वह अवर्णनीय है :—

पिया मोरा जागे मैं कैसे सोऊँ री ।
पाँच सखी मेरे संग की सहेली,
उन रंग रंगी पिया रंग न मिली री ।
सास सयानी ननद द्योरानी,
उन डर-डर-डरी पिय सार न जानी री ।
द्वादस ऊपर सेज बिछानी,
चढ न सको मारी लाज लजानी री ।।[2]

\+ \+ \+

यदि वह अपरिचित सो रहा हो तो उसके पार्श्व में जाकर चुपचाप लेट जाना कुछ और बात है; और उसके जागने समय कुछ और ! इस दूसरी

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ सं० ८ ।
२. कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ सं० ६ ।

परिस्थिति में नवीना का कार्य बहुत ही दुष्कर होता है। यद्यपि वह आगे बढ़ती है किन्तु उसका हृदय शंकाकुल हो उठता है :—

मन प्रतीत न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जाणों उस पीव सूं कैसे रहसी रंग ॥[1]

और अन्त में मधुर-मिलन के वे क्षण भी आते हैं जब कि उसकी सारी शंकायें, सारी लज्जायें, और सारे तर्क-वितर्क रस के प्रवाह में बह जाते हैं। यद्यपि वह आरम्भ में थोड़ा निषेध करती है—

धीरे पाँव धरो पलंगा पर, जागत ननद जिठानी।[2]

किन्तु दूसरे ही क्षण—

जोग जुगत री रंग महल में, प्रिय पाये अनमोल रे।
कहत कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे।

\+ + +

कहै कबीर सुनो भई साधो, लोकलाज बिलछानी ॥[3]

कबीर के इस अलौकिक दाम्पत्य में सपत्नियों की प्रतिस्पर्द्धा का भी चित्रण मिलता है। माया रूपी सपत्नी जो उसके पड़ौस में ही रहती है जब तब उसके प्रियतम को बुलाती है, उधार माँगती है, किन्तु वह ऐसी पगली नही है कि अपने प्रिय को क्षण भर के लिये भी इधर-उधर जाने दे :—

परोसनि माँगे कन्त हमारा।
पीव क्यूं बोरी, मिलही उधारा ॥
मासा मागे रती न देउँ।
घटे मेरा प्रेम तो का सनि लैउँ ॥[4]

रस का उत्कर्ष—यद्यपि कबीर की इन अलौकिक अनुभूतियों को शृंगार-रस की संज्ञा देना उसका खुले शब्दों में अपमान करना है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि कवि कबीर ने साधक कबीर की उन अनुभूतियों का इतना अधिक साधारणीकरण कर दिया है कि उनकी असाधारणता रसानुभूति में बाधक सिद्ध नहीं होती। यदि हम एक ऐसा शृंगार-काव्य पढ़ें जो सौन्दर्य के

---

१. कबीर ग्रंथावली।
२. कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ सं० १६०।
३. वही, पृष्ठ सं० १६०, १६३।
४. वही, पृष्ठ सं० ११८।

स्थूल अवयवों एवं मिलन के नग्न दृश्यों से शून्य हो, तथा जिसमें कामुकता, अहं और स्वार्थ का सर्वथा विगलन हो गया हो तो उसकी अनुभूति लगभग वैसी ही होगी जो रहस्यवादी कवियों के इस काव्य से होती है। काव्यानुभूति के क्षेत्र में जबकि असामान्य सामान्य में, अलौकिक लौकिक में, वीभत्स सौन्दर्य में और शोक आनन्द में परिणत हो सकता है तो अलौकिक प्रेम का परिष्कृत शृंगार में परिवर्तित हो जाना भी स्वाभाविक है, अन्यथा रहस्यवादी साहित्य काव्य न कहलाकर धार्मिक या दार्शनिक ग्रन्थों की कोटि में रखा जायगा। कहना न होगा कि इस दृष्टि से कबीर का काव्य बहुत कुछ सफल सिद्ध होता है।

(ख) राजस्थानी काव्य परम्परा

अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्ध—राजस्थानी काव्य-परम्परा का पूर्ववर्ती अपभ्रंश-काव्य से गहरा सम्बन्ध है। अपभ्रंश में जैन-कवियों द्वारा प्रारम्भ में प्रेमाख्यानक-काव्यों का विकास हुआ तथा आगे चलकर इन्होंने वीर-रस प्रधान रासो-काव्य—जम्बू स्वामि-रास (धर्म-सूरि) नेमिनाथ रास (जिन पुत्र सूरि) बाहु बलि रास (शालिभद्र सूरि) आदि—लिखे। राजस्थानी में उपर्युक्त दोनों परम्पराओं का विकास मिलता है। जहाँ 'ढोला मारू रा दूहा'[1] बेलिक्रिस्न रुकमणी री[2] जैसी रचनाएँ प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा को आगे बढ़ाती हैं, वहाँ वीसलदेव-रासो[3], खुमाण-रासो आदि काव्य रासो-परम्परा से सम्बन्धित हैं। यद्यपि राजस्थानी कवि वीर-रस की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति के लिये विख्यात हैं, किन्तु इन्होंने अपनी रचनाओं में प्रेम की कोमल अनुभूतियों की भी व्यंजना मार्मिक रूप में की है। उनके वीर-रस प्रधान काव्यों में भी युद्ध के कारण—स्वरूप किसी अनुपम सुन्दरी के सौन्दर्य और प्रेम की कल्पना की गई है। जिससे उनमें शृंगार रस के विभिन्न अंगों का चित्रण विस्तार से हुआ है।

राजस्थानी काव्य का नायक—राजस्थानी काव्य का नायक मध्यकालीन सामन्त है। उसके रनिवास में अनेक पत्नियाँ है फिर भी वह किसी नई प्रेयसी से प्रेम करता है : इसके दो कारण हैं—एक तो वह अनुपम सुन्दरी है तथा

---

१. रचयिता कल्लोल, रचना काल संवत् १५३० वि० देखिये राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० १०१।
२. रचयिता पृथ्वीराज, रचनाकाल १६३७ वि०।
३. रचयिता नरपति नाल्ह, रचना काल विवादास्पद।

दूसरे, उसने उसे पति रूप में स्वीकार किया है। नायक प्रेयसी के प्रणय-सन्देश या विवाह-प्रस्ताव की प्राप्ति के अनन्तर ही उस की ओर उन्मुख होता है। "ढोला-मारू रा दूहा" में पहले मारू ही ढोला को संदेश भेजती है, बेलि में रुकिमणी कृष्ण को आमंत्रित करती है तथा रूठे हुए राजा वीसलदेव को मनाने के लिये भी रानी राजमती ही अपना दूत भेजती है। अस्तु, इस काव्य-परम्परा में प्रेम का आरम्भ नायिका की प्रेरणा से दिखाया गया है। इन क्षत्रिय नायिकों मे अपने पौरुष, बल एवं अधिकार का इतना गर्व है कि वे प्रेम के मंदिर में भी सिर झुका कर प्रवेश नहीं करते। प्रेयसियों का संदेश प्राप्त होते ही वे कूच का डंका बजा देते हैं, इसलिये नही कि उनका हृदय संदेश की मार्मिकता से पिघल जाता है, अपितु इसलिये कि उन्हें उस संदेश में किसी नवयौवना के सुकुमार सौन्दर्य की गन्ध मिलती है। मारवणी का संदेश है—"ढाढी ! ढोला से समझा कर कहना कि यौवन रूपी आम फल रहा है, आकर उसकी फसल क्यों नही खाते[१] ?" वीसलदेव को राजमती में अनुरक्त करने के लिये उसकी भावज भी कुछ ऐसी ही आकर्षक वात कहती है—"हे राजन, रत्नों से भरा हुआ कटोरा यदि भिक्षा में भी मिले तो उसे स्वीकार करना चाहिए, उसे पैर से ठुकराना उचित नही। ऐसी सुन्दर स्त्री किसी भी राजा के महल में नही, न ही ऐसी सुन्दर मूर्त्ति किसी मंदिर में है। ऐसे सलौने नेत्रों वाली और ऐसी मिष्टभाषिणी सुन्दरी अन्यत्र कहाँ ! चतुर बढ़ई भी ऐसी पुतली का निर्माण नही कर सकता, अधिक क्या—रवितल में ऐसी सुन्दरी कोई और दिखाई नहीं देती[२]।

जिस प्रेम के मूल में कोरी रस-लोलुपता हो, उसमें स्थिरता और गंभीरता का विकास नहीं हो पाता। यही कारण है कि इन नायकों में हमें प्रेम का

---

१. ढाढी, एक संदेसड़उ कहि ढोला समझाई।
जोबण आंबउ फलि रह्यउ, साख न खाअउ आई॥
—ढोला मारू रा दूहा, सं० ११२

२. उभी भावज दइ छइ सीख। रतन कचोलो राय सांपजै भीख॥
ते नाउ पगसूं ठेली जे। इसी न राया तणों नहीं च आवास।
इसी न देवल पूतली। नायण सलूना वचन सुमीत।
इसीय न खाती को घड़ई। इसी स्त्री न ही रवि तलै बीठ।
—बीसल देव रासो, प्रथम खंड

बहुत ही छिछला रूप देखने को मिलता है। जब राजकुमार ढोला अपनी प्रेयसी से मिलने के लिये जा रहा था तो मार्ग में चारण की केवल एक उक्ति से—"अब तेरी प्रेयसी तो वृद्ध हो गई, तू जाकर क्या करेगा।" उसका उत्साह मन्द पड़ जाता है और वह लौटने की बात सोचने लगता है।[1] दूसरी ओर राजा वीसलदेव भी अपनी पत्नी के एक छोटे से उपहासपूर्ण वाक्य परं उसे त्याग कर चला जाता है। यही नहीं, हम रासो-काव्यों में ऐसी घटनायें भी पढ़ते हैं कि पहले विवाह की अभी मेंहदी भी नहीं धुली कि दूसरे विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं।

नायिकाओं का प्रणय संदेश और विरह-शोक—नायिकाओं के प्रेम और विरह के चित्रण में राजस्थानी कवियों को पर्याप्त सफलता मिली है। मारवणी का संदेश प्रेममयी मार्मिक उक्तियों से भरा है—

कागल नहीं क मसि नहीं, लिखतां आलस थाई
कइ उण देस संदेसड़ा, मोलइ बड़इ बिकाई ॥[2]
तुही ज सज्जण मित्त पूं, प्रीतम तूं परिवांण।
हियड़ई भीतर तूं वसई, भावई जाण म जांण।[3]

अर्थात् "हे प्रिय! तुम्हारे देश में कागज नहीं या स्याही नहीं या लिखते हुए आलस्य होता है अथवा संदेश बहुत मंहगे बिकते हैं, पत्र क्यों नहीं लिखते? हे सज्जन! तूही मेरा प्रीतम है, मेरे हृदय के भीतर भी तू ही बसा रहता है—भले ही इसे मानो या न मानो!

इसी प्रकार मालवणी की वियोगानुभूतियों का भी चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक हुआ है। प्रिय को चुपचाप जाते देख कर वह चीख पड़ती है—"दौड़ो, दौड़ो, हे सखियो! लाज और पर्दा छोड़ो! मेरा प्रियतम जा रहा है, रोक सको तो रोको!"[4] किन्तु जब प्रियतम चला गया तो वह अपने दुःख को व्यक्त

---

१. ढोलई मन चिंता हुई, चारण वचन सुणेह।
हिव आन्यउ पाछत वलइ, करहा केम करेह॥
—ढोला मारू रा दूहा, सं० ४४४

२. ढो० मा० दूहा सं० १४१।

३. वही—दोहा सं० १७५।

४. धावउ, धावउ हे सखि, को दांवणि को लाज।
साहिब म्हांकउ चालियउ, जइ कउ राखइ आज।
—वही, दो० सं० ३४८

करती हुई कहती है—"हे सखी, जाते हुए साल्हकुमार को मैंने झरोखे पर चढ़ कर देखा तो हृदय वहीं से उनके साथ चला गया ,और नेत्रों को तो बड़ी कठिनता से लौटा पाई[1] साथ ही वह अमर्ष, अनुताप एवं पश्चात्ताप से पीड़ित हो कर कहती है :—

हइ रे जीव निलज्ज तूं, निकस्यू जात न तोहिं ।
प्रिय विछड़त निकस्यउ नही, रह्यउ लजावण मोहिं ॥[2]

—"हाय रे जीव ! तू बड़ा निर्लज्ज है तू निकलता नहीं, प्रिय विछोह पर भी नही निकला, मुझे लज्जित करने के लिये अभी तक ठहरा हुआ है !"—"वीसलदेव–रासो" के रचयिता ने भी वियोगिनी राजमती की शोकाकुल-दशा का चित्रण पूरी सहानुभूति से किया है—"भला, प्रियतम के अभाव में घर, मन्दिर, चौखंड आदि सब सूने पड़े हों, जहाँ पंथियों की राह देखते-देखते नैनों की ज्योति चली गई हो और जहाँ से भूख प्यास विदा हो गई हो वहाँ भला ऊँघ और नींद कैसे आ सकती है ।[3] जब फागुन के महीने में सारा ससार होली देखने में मस्त है तो इस वियोगिनी बाला के नन्हे से हृदय का हाल कुछ और ही हो जाता है । वह सोचती है—मैं होली खेलने कैसे जाऊँ ! हाय, मैं तो किसी दूर गये हुए प्रियतम की गौरी हूँ ![4] कहना न होगा कि इन उक्तियों में विरह वेदना की अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिक रूप में हुई है ।

प्रेम का विकास—यद्यपि राजस्थानी काव्यों के आरम्भ में नायक को कामुकता एवं विलासिता से ग्रस्त दिखाया जाता है । किन्तु आगे चलकर किसी ऐसी घटना का आयोजन किया जाता है जिससे उसकी अनेकोन्मुख लालसा, एकोन्मुख प्रेम में परिणत हो जाती है । जब ढोला मरवण को लेकर लौटते हैं तो राह में उसे सर्प डस जाता है तो ढोला के साथी उन्हें आश्वासन देते हुए कहते है कि—"चिन्ता मत करो, तुम्हारा विवाह मरवण की दूसरी बहिन से कर देंगे"—तो ढोला तिरस्कार पूर्वक उत्तर देते हैं—"इस जन्म में तो

---

१. साल्ह चलंतउ हे सखि गउखे चढि मईं दीठ ।
हियड़उ उवांही सूं गयउ, नयण बहोड्या नीठ ॥

२. वही, दो० सं० ३७३ ।

३. प्रीय तौ चालियो कातिग मास । सूना मंदिर घर कविलास ॥
सूना चउरा चौखण्डी । नयण गमायो पंथी सिर जाई ॥
भूख नहीं त्रीस ऊछली । उणी घडां नींद कहाँ थो होई ॥
—बीसलदेवरासो

४. म्हां क्युं होली खेली खेलवा जाई ।
उलीगाणा की गोरड़ी ॥

मरवण ही मेरी पत्नी रहेगी, मेरा अन्न जल इसी के साथ है। तुम लोग पूगल लौट जाओ, मेरे भविष्य की चर्चा बन्द करो[1]।" इसी प्रकार राजा वीसलदेव में भी दीर्घ प्रवास के फलस्वरूप प्रेम का विकास दिखाया गया है, जब उड़ीसा का नरेश उसे रोकने के लिये अपनी रूपमती कन्या से विवाह का लोभ देता है तो वह उसे ठुकरा कर अपने प्रेम की एकोन्मुखता का परिचय देता है।

अस्तु, राजस्थानी काव्य सामन्तवादी जीवन की रूढ़ियों से प्रभावित है फिर भी उसके शृंगार-चित्रण मे कुछ ऐसी विशेषतायें मिलती है जो हिन्दी-काव्य की अन्य परम्पराओं में उपलब्ध नही होती। भारतीय काव्यों में प्रायः नायक आदि से लेकर अन्त तक एकसा दिखाया जाता है, उसके चरित्र में क्रमशः विकास नहीं दिखाया जाता, किन्तु राजस्थानी काव्यों के नायक में प्रेम का क्रमिक विकास मिलता है, न उसमें धर्म और दर्शन की गुत्थियाँ हैं, न काव्यशास्त्र और काम-शास्त्र का उधार लिया हुआ आडम्बर। तीसरे, इनमें स्थूल सौन्दर्य एवं शारीरिक मिलन का चित्रण अत्यन्त संकेतात्मक शैली में किया गया है, जिससे इनका शृंगार-वर्णन शिष्टता और श्लीलता की सीमा को पार नहीं करता। राजस्थानी काव्य परम्परा की एक विशेषता यह भी है कि उसमें स्थूल सौन्दर्य वर्णन की अपेक्षा सूक्ष्म प्रेमानुभूतियों की अभिव्यंजना पर अधिक ध्यान दिया गया है, जो प्रशंसनीय है।

(ग) राम-भक्ति-काव्य-परम्परा

महाकवि तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में नायक के रूप में धर्म रक्षक अवतार पुरुष राम की प्रतिष्ठा की है। यद्यपि उनका (राम का) दाम्पत्य जीवन माधुर्यपूर्ण था किन्तु फिर भी उसका उनके जीवन मे गौण स्थान था। उनके क्रिया-कलापों का प्रेरणा-स्रोत दाम्पत्य-प्रेम नही अपितु धर्म-रक्षा की भावना ही थी। संभव है ऐतिहासिक राम ने शिव का धनुष-भंग, खर-दूषण का वध, स्वर्ण मृग का आखेट और रावण से युद्ध आदि सब कुछ दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा से प्रेरित होकर किया हो, किन्तु तुलसी के राम यह सब अधर्म का नाश करने के उद्देश्य से करते हैं। फलतः रामचरित मानस में शृङ्गार रस को अत्यन्त गौण स्थान प्राप्त हुआ है।

प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम—सारे 'रामचरित-मानस' में बालकाण्ड का पुष्प-वाटिका प्रसंग ही ऐसा है जहाँ कवि ने प्रेमानुभूतियों का चित्रण किया

---

१. **इणि भवि भारू कांमिणी, अन पाणी इणि सथ्थ।**
पूगलनूं सहु को वलउ, न करहु म्हां की कथ्थ। दो० सं० ६१४।

है। इस प्रसंग में राम और सीता के प्रथम दर्शन, एवं तज्जन्य अनुभूतियों का वर्णन अत्यन्त मार्मिक रूप मे हुआ है। जब राम ने मंजुल मनोहर वाटिका में प्रवेश करने के अनन्तर किसी हंस गवनी की पद-ध्वनि और उसके कंकन, किंकिन और नूपुरों की झंकार सुनी तो उन्हें कुछ ऐसा अनुभव हुआ मानों कामदेव ने अपनी विजय का नगाड़ा बजाया है :—

कंकन, किंकिन, नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि॥
मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विस्व विजय कहं कीन्ही॥[1]

इसके अनन्तर जब उन्होंने सीता के अगाध सौन्दर्यामृत का पान किया तो उनकी अवस्था बेसुध की सी हो गई :—

अस कहि चितए तेहि ओरा। जिस मुख-ससि भए नयन चकोरा।
देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत वचनु न आवा।
मनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विस्व कहं प्रगटि देखाई।[2]

दूसरी ओर जनक-तनया भी कौशल-किशोर के रूप पर मुग्ध हो गई। उनके सौन्दर्य को देखकर उसके नेत्र इस तरह उल्लसित हो उठे मानो उन्हें अपना खोया हुआ धन मिल गया हो। उस सौन्दर्य को एक टक देखते-देखते उसके नेत्र थक गये थे, पर उसके भोले हृदय की अनुरक्ति बढ़ती ही जा रही थी। मानो वह आँखों के रास्ते राम को हृदय में बैठा कर, पलकों के किवाड़ लगा रही थी।[3] इस प्रकार प्रथम दर्शन से ही दोनों के हृदय में उस भावना का उद्भव हो गया जिसे प्रेम कहते हैं। यद्यपि सखियों के अनुरोध से मिथिलेश कुमारी को वाटिका से लौटना पड़ा, किन्तु उसका हृदय मानों वहीं रह गया था—

देखन मिस मृग, विहग, तरु, फिर बहोरि-बहोरि।
निरखि-निरखि रघुवीर छवि, बाढ़ई प्रीति न थोरि॥[4]

---

१. रामचरित मानस, बाल काण्ड, पुष्प वाटिका संग्रह।

२. वही।

३. देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निजि निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छवि देखे। पलकन्हिहूं परिहरी निमेषे॥
अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद सीसहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥
—वही

४. वही।

इस समय राम की अवस्था भी कुछ ऐसी ही हो रही थी। प्रेयसी को रोकना तो उसके वश की बात नही थी किन्तु अपने हृदय-पटल पर उसका चित्र अवश्य अंकित कर लिया—

प्रभू जब जात जान की जानी। सुख, सनेह, सोभा गुन खानी।
परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित भीतीं लिखि लीन्ही ॥[1]

वस्तुतः प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम (Love at first sight) का यह चित्रण कवि की रसिकता एवं भाव-प्रवणता का एक सजीव प्रमाण उपस्थित करता है। यह प्रसंग बाल्मीकीय रामायण में नही मिलता, अतः कहना चाहिए कि तुलसी ने राम-सीता का प्रेमोद्भव दिखाने के लिये ही इसकी उद्भावना की होगी। पर कदाचित् उनकी आत्मा को भक्ति में शृंगार का यह मेल स्वीकार नही हुआ, अतः आगे उन्होंने प्रसंग उपस्थित होने पर भी अपने काव्य को प्रेमानुभूतियों के चित्रण से बचाया है—यहाँ तक कि नव-दम्पति के मिलन की प्रथम-रात्रि के वर्णन से बचने के लिये उन्होंने नवबधू जनक-दुलारी को अपनी सास के पास सुला दिया।[2]

वियोग वर्णन—शृंगार वर्णन के प्रति उदासीन होते हुए भी तुलसी ने कहीं-कही राम सीता के विरह वर्णन में रुचि प्रदर्शित की है। सीता-हरण के अनन्तर राम की शोकपूर्ण अवस्था का चित्रण करते हुए कवि ने लिखा है—

आश्रम देखि जानकी हीना। भयउ विकल जस प्राकृत दीना।
हा! गुन खानि जानकी सीता। रूप, सील व्रत नेम पुनीता ॥

\+ \+ \+

हे खग, मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृग-नैनी ॥

उपर्युक्त उद्गारों में राम के शोक के साथ-साथ सीता के प्रति उनके गहरे अनुराग की भी व्यंजना हुई। यद्यपि यह वर्णन संयत है किन्तु प्रभावोत्पादन में पर्याप्त समर्थ है। राम की कुछ अन्य मानसिक अवस्थाओं का भी चित्रण कवि ने सफलतापूर्वक किया है। बन में सभी मृगों को अपनी प्रयेसियों के साथ देखकर उनका क्षोभ बढ़ जाता है मानो ये मृग-दम्पति भी मेरी भूल का—कंचन-मृग के पीछे दौड़ने की भूल का उपहास कर रहे हैं :—

---

१. वही।

२. सुन्दर बधुन्ह सासु ले सोई। फनिकन्हु जनु सिर मनि अस गोई ॥

नारि सहित सब खग, मृग-वृन्दा। मानहु मोरि करत हहिं निंदा ।।
हमहि देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहं भय नाहीं ।।
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ए आए ।।

इसके अतिरिक्त विभिन्न ऋतुओं के आगमन पर रामकी विरह-व्यथा की ओर संकेत किया गया है।[1] सीता की वियोग की व्यंजना उसके द्वारा हनुमान को दिये गये संदेश में हुई है।[2]

प्रेम का विकास—यद्यपि रामचरित मानस में पूर्वराग और विरह का चित्रण उपलब्ध हो जाता है किन्तु संयोग-पक्ष के वर्णन का उसमें नितान्त अभाव है। राम सीता के विवाहोत्तर मिलन की ही भाँति रावण-बध के पश्चात् होने वाले पुनर्मिलन को तुलसी ने राम के मुख से कुछ दुर्वचन कहलवा कर समाप्त कर दिया।[3] अस्तु, जैसा कि हमने भक्ति भावना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दिखाया था भक्ति और शृंगार में प्रकृति की दृष्टि से गहरा वैषम्य है, अतः तुलसी के काव्य में शृंगार-रस का विकास उनकी भक्तिभावना के अनुकूल सिद्ध नहीं होता। फिर भी प्रेम का जितना चित्रण उन्होंने किया है उससे उनकी अपूर्व प्रतिभा एवं अगाध अनुभूति का परिचय मिलता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

निष्कर्ष—तीनों शृंगारेतर काव्य परम्पराओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि इनमें इनकी मूल भावना शृंगार से भिन्न होते हुए भी इसमें शृंगार रस को किसी न किसी रूप मे स्थान अवश्य मिला है। राजस्थानी काव्य की कुछ रचनाओं में तो शृंगार रस स्थायी भाव के रूप में ही विद्यमान है, किन्तु शेष में भी वह वीर रस के अंगी रूप में उपस्थित है। संत-काव्य-परम्परा में भी जहाँ तक दाम्पत्य सम्बन्धी रूपकों का प्रश्न है प्रेम के लौकिक रूप की ही प्रधानता है क्योंकि उसके स्वरूप का वह अंश जो कि अलौकिकता से सम्बन्धित है, पाठक की अनुभूति का विषय नहीं बनता।

---

१. **बसन्त—देखहु तात बसन्त सुहावा। प्रिया हीन मोहि भय उपजावा।**
वर्षा—वरषा काल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाए।

२. **कोमल चित, कृपालु रघुराई। सो कपि केहि हेतु धरी निठुराई।**
\+ \+ \+ \+
मन क्रम वचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी।

३. **तेहि कारन करुना निधि कहे कछुक दुर्वाद।**

तुलसी के काव्य में अवश्य रति भाव का चित्रण संचारी रूप में हुआ है, किन्तु मानस में चित्रित किसी अन्य संचारी भाव से वह कम प्रभावोत्पादक नहीं है। इसके अतिरिक्त शृंगार रस के कुछ अंग तो इनमें इतने अधिक पुष्ट एवं विकसित मिलते हैं जो संभवतः किसी शृंगार-प्रधान रचना में भी सुप्राप्य नहीं। राजस्थानी काव्य में व्यंजित नायिका के विरहोद्गार, कबीर-काव्य में चित्रित दाम्पत्य जीवन के मधुर दृश्य और तुलसी के काव्य में वर्णित प्रथम-दर्शन-जन्य प्रेम सम्बन्धी अनुभाव हिन्दी के किसी भी शृंगारी कवि के मन में ईर्ष्या उत्पन्न कर सकते है। अस्तु, कह सकते हैं कि हिन्दी के प्रारम्भिक (भक्तिकाल) की सभी काव्य परम्पराओं में रस राज के अमूल्य रत्नों एवं अतुल्य निधियों का संग्रह किसी न किसी रूप में अवश्य हुआ है। शृंगारी, योद्धा, भक्त या संत प्रकृति के कवियों ने अपने काव्य में शृंगार-रस को स्थान किसी न किसी रूप में अवश्य दिया है।

हिन्दी-साहित्य का मध्य काल (१६५० से १९०० वि० तक)[1]

(क) आरम्भ १६५० वि० क्यों ?—विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम काल से ही हिन्दी साहित्य में उन प्रवृत्तियों का उदय होने लगता है जिनके आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीति-काल की स्थापना की है। संवत् १५९८ में कृपाराम ने शृंगार-रस वर्णन के उद्देश्य से 'हित-तरंगिणी' की रचना की। सूरदास ने अपनी साहित्य-लहरी (१६०७ वि०) में नायिका के सभी भेदों तथा अलंकारों का निरूपण नामोल्लेखपूर्वक किया। मोहनलाल (शृंगार-सागर–१६१६ वि०), बलभद्र मिश्र (नख-शिख–१६४० वि.), रहीम (बरबै नायिका-भेद–१६४० वि०), केशवदास (रसिकप्रिया–१६४८ वि०), मोहनदास (बारह मासा–१६३० वि०), बालकृष्ण (रस चन्द्रिका–१६३७ वि०), व्रजपति (रंग भाव माधुरी–१६८७ वि०), मुबारक (अलक-शतक–१६६० वि०), सुन्दर कवि (सुन्दर शृंगार–१६८८ वि०), लीलाधर (नख-शिख–१६७६ वि०), तोष (सुधानिधि–१६९१ वि०)[2]—आदि कवियों की रचनाओं तथा कथिक रीतिकाल की सभी प्रवृत्तियाँ—शृंगार रस, नख-शिख, नायिका भेद, अलंकार निरूपण सम्बन्धी—का विकास समुचित रूप से मिलता है। फिर भी प्रारम्भिक ३० वर्षों में रीति की परम्परा को गौणरूप में मान लिया जाय तो भी १३३० वि० से रीति-काल का आरम्भ मानना सर्वथा उचित है।

---

१. इस युग की बाह्य परिस्थितियों का विवेचन इस प्रबन्ध के चतुर्थ खण्ड के आरम्भ में 'बिहारी का युग' शीर्षक अध्याय में देखिये।

२. उपर्युक्त रचनाओं का उल्लेख निम्नांकित ग्रंथों के आधार पर किया गया है—

(क) हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल।

(ख) हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास—डा० भागीरथ मिश्र।

(ग) 'बिहारी' की भूमिका—डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

✓(ख) **रीति शब्द की व्याख्या**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल न इस काल का नामकरण—'रीतिकाल'—करते हुए यह स्पष्ट नहीं किया कि 'रीति' शब्द से उनका क्या अभिप्राय: है। फलस्वरूप परवर्ती विद्वानों को इस शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करनी पड़ी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—"यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकार-शास्त्र का ही जोर रहा है जिसे उस काल मे 'रीति' 'कवित्त-रीति' या 'सुकवि-रीति' कहने लगे थे, संभवत: इन शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओं को 'रीति-काव्य' कहा है।"[1] डा० नगेन्द्र और डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इसी से मिलती-जुलती व्याख्या प्रस्तुत करते हुए 'रीति' शब्द को 'काव्य-रीति' का संक्षिप्त-रूप बताया है।[2] आचार्य शुक्ल के द्वारा इस शब्द के प्रयोग को रखते हुए इसमे कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने भी इसका प्रयोग 'काव्य-रीति' के अर्थ में ही किया था तथा आज भी हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में इसका व्यवहार इसी अर्थ मे होता है।

रीति कवियों का उद्देश्य—अस्तु, रीति शब्द की व्याख्या से स्पष्ट है कि इस काव्य-परम्परा का नामकरण इस धारणा पर आधारित है कि इस परम्परा के सभी कवियों का उद्देश्य काव्यांगों का निरूपण या विवेचन करना था, किन्तु वास्तविकता यह है कि इनमें से अधिकांश का लक्ष्य 'काव्य-रीति' नहीं 'रस-रीति' अर्थात् रसिकता का शिक्षा देना है, जिसका समर्थन इन तथ्यों के आधार पर किया जा सकता है :—

(१) विभिन्न रीति-ग्रन्थों में ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं जिससे उनके उद्देश्य का स्पष्ट परिचय मिलता है यथा :—

(क) एक मित्र हमसों अस गुन्यों।
मैं नायिका भेद नही सुन्यों।
जब लगि इनके भेद न जानें।
तब लगि **प्रेम-तत्व** न पहिचानें।।

---

१. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २९१।

२. "यहाँ काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों के विधान को ही समग्रत: रीति नाम दे दिया गया है।" (रीति काव्य की भूमिका—ले० डा० नगेन्द्र, पृ०सं०१२९)
डा० विश्वनाथ का मत देखिये—'बिहारी' की भूमिका।

बिन जाने ये भेद सब, प्रेम न परचे होय।
चरनहीन ऊचें अचल, चढत न देख्यो कोय ।।[1]

(ख) सुरबानी याते करी, नरबानी में ल्याय।
जाते मग **रस-रीति**, को सबतें समझो जाय ।।[2]

(ग) बरनत कवि **सिंगार-रस** छन्द बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यो दोहान बिच, यातें सुघरि विचारि ।।[3]

(घ) बाढ़ै रति मति अति पढ़ै जाने सब **रस-रीति**।
स्वारथ परमारथ लहै, रसिक-प्रिया की प्रीति ।।

\+ \+ \+

रसिकन को रसिक-प्रिया कीन्ही केशवदास।[4]

उपर्युक्त अंशों में **प्रेम-तत्व सिंगार-रस** और **रस-रीति** आदि शब्द एक ही विषय के द्योतक हैं। जिस प्रकार काम के क्षेत्र में 'काम-कला' या 'कोक-कला' का प्रचलन है वैसे ही रसिकता के क्षेत्र में 'रस-रीति' या 'प्रेम-मार्ग' का है, अस्तु 'रस-रीति' का सम्बन्ध भरत द्वारा प्रतिपादित 'काव्य-रस' से नहीं अपितु रसिकता या विलासिता से प्राप्त होने वाले रस या आनन्द से है।

(२) इन कवियों के ग्रन्थों का नामकरण भी उसके इसी उद्देश्य को सूचित करता है, यथा 'रस-प्रबोध', 'शृंगार-सागर', 'रस-रहस्य', 'बधू-विनोद', 'रस-विलास', 'भाव-विलास', 'जगत-विनोद' आदि नामों में रस, शृंगार, विलास या विनोद आदि शब्द रसिकता के पर्यायवाची हैं।

(३) इनकी रचनाओं में शृंगार-रस का ही विर्णन मिलता है, काव्य के अन्य अंगों की विवेचना का उनमें अभाव है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि कुछ काव्य-ग्रन्थ विशुद्ध 'काव्य-रीति' के विवेचन के उद्देश्य से भी लिखे गये थे किन्तु उनका नामकरण दो प्रकार से किया गया है :—

---

१. रस मंजरी—नन्ददास।
२. सुन्दर कवि—सुन्दर शृंगार।
३. कृपाराम—हिततरंगिनी।
४. केशवदास—रसिक प्रिया।

(१) जिनमें काव्य के सभी अंगों का विवेचन हुआ है, उनके नामकरण में 'कवि' या 'काव्य' शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे—'काव्य-निर्णय', 'काव्य-सिद्धान्त', 'काव्य-सरोज', 'काव्य-कल्पद्रुम', 'कवि-प्रिया' आदि। (२) ऐसे ग्रन्थ जिनका लक्ष्य कोरे अलंकारों का निरूपण करना था, उनके नामकरण में भूषण, आभरण, आभूषण आदि अलंकार के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है यथा—'भाषा-भूषण', 'शिवराज-भूषण', 'अलंकार-माला', 'कंठाभूषण', 'कर्णाभरण' आदि।

उपर्युक्त दोनों वर्गों के ग्रन्थ विशुद्ध आचार्यत्व की दृष्टि से लिखे गये थे, जबकि 'रस-रीति' के ग्रन्थ रसिकता की शिक्षा के निमित्त। किन्तु हमारे इतिहासकारों ने इस अन्तर को ध्यान में न रखने के कारण 'रस-रीति' वाले ग्रन्थों में भी आचार्यत्व ढूँढ़ने का असफल प्रयास किया है।

रीति बद्ध शृंगार काव्य का स्वरूप—'रस-रीति' से सम्बन्धित ग्रन्थों में शृंगार निरूपण मुख्यतः निम्नांकित रूपों में हुआ है :—

(क) शृंगार-रस के विभिन्न अवयवों के रूप में।
(ख) नायिका-भेद के रूप में।
(ग) नख-शिख वर्णन के रूप में।
(घ) षट-ऋतु वर्णन के रूप में।

उपर्युक्त चार विषयों में भी सबसे अधिक विस्तार नायिका-भेद को ही दिया है शेष विषयों का तो अधिकांश कवियों ने चलता सा वर्णन कर दिया है। श्री प्रभुदयाल मित्तल, एवं श्री राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी अपने ग्रन्थों[1] में नायिका-भेद का सांगोपांग परिचय दे चुके हैं, अतः यहाँ उसका परिचयात्मक विवरण न देकर, कुछ नवीन दृष्टिकोणों से विवेचन एवं विश्लेषण-मात्र प्रस्तुत करना उचित होगा।

नायिका-भेद सम्बन्धी समूह—नायिका के विभिन्न भेदों को स्थूल-रूप से इन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

१—जाति के अनुसार चार भेद —पद्मिनी, चित्रिनी, शंखिनी और हस्तिनी।

---

१. देखिये श्री मित्तल का "ब्रज-भाषा काव्य में नायिका-भेद" और श्री चतुर्वेदी का "रीति कालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन।"

२—कर्मानुसार तीन भेद	—स्वकीया, परकीया और सामान्या (वेश्या)।
३—दशानुसार तीन भेद	—गर्विता, अन्य संभोग-दुःखिता और मानवती।
४—अवस्थानुसार दस भेद	—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, उत्कंठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहांतरिता, प्रवत्स्य-पतिका, प्रोषितपतिका और आगतपतिका।
५—गुणानुसार तीन भेद	—उत्तमा, मध्यमा और अधमा।
६—वयक्रमानुसार अनेक भेद	—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि।

इनके अतिरिक्त देश और जाति के अनुसार भी भेद किये गये है।

वर्गीकरण के आधार—उपर्युक्त समूहों में से जाति अनुसार किये गये पहले वर्गीकरण में नायिका की शारीरिक विशेषताओं को, दूसरे में उसकी सामाजिक स्थिति को, तीसरे और चौथे वर्गीकरण में प्रेम मार्ग की विभिन्न परिस्थितियों को, पाँचवे में चारित्रिक गुणों को, छठवें मे यौवन के विकास को, आधार बनाया गया है। इनमे नायिका के व्यक्तित्व से सम्बन्धित वर्गीकरण पहला पाँचवां और छठवां ही है शेष का सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियों से है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचना–उपर्युक्त समूहों मे से जाति, कर्म, गुण देश तथा व्यवसाय के आधार पर किये गये वर्गीकरणों का मनोविज्ञान से विशेष सम्बन्ध नही है। दशानुसार एवं अवस्थानुसार वर्गीकरण मे नायिका की मनोदशा पर बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव को आधार माना गया है, जो मनोविज्ञान सम्मत् है। वयक्रमानुसार किये गये वर्गीकरण के प्रारम्भिक भेद—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तो स्वाभाविक है, किन्तु आगे चल कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपभेद किये गये हैं (इनमें नायिका की १२ वर्ष से लेकर २४ वर्ष की अवस्था तक के प्रत्येक वर्ष के आधार पर अलग-अलग भेद किये गये है) जो अनावश्यक है, क्योंकि सभी युवतियाँ एक ही वय मे एक जैसी मनोदशा को प्राप्त नहीं हो सकतीं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नायिका भेद में एक दोष यह है कि इसमें नारी जाति को बाह्य परिस्थितियों से सम्बद्ध रूप में ही देखा गया है जिससे उनकी व्यक्तिगत विशिष्टताओं का सर्वथा लोप हो जाता है। एक ही अवस्था या परिस्थिति मे दो नायिकाओ की मानसिक स्थिति या गति व्यवहार में व्यक्तिगत दृष्टिकोण के कारण अन्तर भी हो सकता है, इसे नायिका भेद में भुला दिया गया है।

नायिका-भेद और रस के अवयव—नायिकाओं के जाति, वयक्रम, देश और पेशे के अनुसार किये गये भेदों में उनका शारीरिक सौन्दर्य एवं बाह्य चेष्टाओं का चित्रण होता है, अतः इन में ये आलम्बन रूप में उपस्थित होती हैं जबकि दशा और अवस्था सम्बन्धी वर्गों में नायक के व्यवहार से प्रभावित मनोदशाओं का उद्घाटन होता है, अतः वे आश्रय रूप से चित्रित की जाती हैं। शेष वर्ग की नायिकाएँ आलम्बन और आश्रय दोनों रूपों में उपस्थित की जा सकती हैं। नायिकाओं को आलम्बन और आश्रय रूप में चित्रित करते समय हावों, अनुभावों और संचारी भावों की आयोजना तथा अप्रत्यक्ष रूप से नायक के व्यक्तित्व की भी अभिव्यक्ति हो जाती है। इस प्रकार नायिका भेद के क्षेत्र में शृंगार रस के सभी अवयवों के समावेश के लिये स्थान है।

नायिका-भेद में प्रेम का स्वरूप—नायिका भेद मे तत्कालीन कवियों एवं आचार्यों के प्रेम सम्बन्धी आदर्श का भी प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। सामाजिक दृष्टिकोण से किये गये वर्गीकरण में प्रेमिकाओं की तीन स्थितियाँ—स्वकीया, परकीया और सामान्या सम्बन्धी, स्वीकार की गई हैं, किन्तु एक चौथी स्थिति पर जिसमें नायक और नायिका दोनों अविवाहित हो किसी का ध्यान नही गया। कुछ आचार्यो ने अविवाहिता नायिका को अनूढ़ा नाम दिया है। किन्तु उसे परकीया के भेदों के अन्तर्गत रखा गया है। यद्यपि संस्कृत काव्य की अनेक नायिकायें—शकुन्तला, कादम्बरी, दमयन्ती आदि अनूढ़ा स्वकीया के रूप में चित्रित मिलती है, फिर भी नायिका भेद के कवियों ने इस भेद को स्थान नही दिया। अनूढ़ा की ऐसी उपेक्षा का कारण संभवतः तत्कालीन समाज में प्रचलित बाल-विवाह प्रथा ही है। नायक-नायिकाओं को यौवनावस्था से पूर्व ही विवाह बन्धन में बाँध दिया जाता था। अतः ऐसी स्थिति में अविवाहित नायक नायिकाओं का स्वतन्त्र-प्रेम-व्यवहार चलना संभव नहीं था।

अब स्वकीया के उप-भेदों पर भी दृष्टिपात कीजिये। उसके तीन प्रमुख भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा और फिर उनके भी अवान्तर-भेद अंकुरित यौवना उन्नत कामा, सुरति विचित्रा, उद्भट यौवना, मदनमत्ता, रति कोविदा—आदि यही सूचित करते है कि इन कवियों की दृष्टि में दाम्पत्य जीवन केवल रति-क्रीड़ा मात्र तक सीमित था। प्रेम भाव की न्यूनता या अधिकता की दृष्टि से या व्यक्तित्व की अन्य विशेषताओं के आधार पर भी पत्नियों का वर्गीकरण करने की बात इन्हें नहीं सूझती। हाँ, एक ऐसा वर्गीकरण अवश्य किया गया है, जिसके अनुसार जो अपने पति को पर स्त्री में रत देखकर भी अप्रसन्न नहीं

होती, वह उत्तमा है; जो मान करती है वह मध्यमा है और जो पूरी तरह कलह करने पर उतारू हो जाती है वह अधमा है। भला वह पत्नी ही क्या जो पति के आनन्द-भोग में बाधक सिद्ध हो।

स्वकीया के अन्य भेद मानवती, खंडिता, अन्य संभोग-दुःखिता कलहांतरिता आदि भी तत्कालीन पुरुष की विलासिता और नारी की हीन-दशा के परिचायक हैं।

परकीया के उपभेद—इन कवियों ने सबसे अधिक विस्तार परकीया के भेदों का किया है। ऊढ़ा परकीया के दो मौलिक भेद, असाध्या और सुख-साध्या किये गये हैं। सुख-साध्या के सभी दस भेद वृद्ध-बधू, बाल-बधू, नपुंसक-बधू आदि हैं। सुख-साधना शब्द का ही अर्थ है जिसे सरलतापूर्वक फुसलाया जा सके, इसका अर्थ है—ये नायिकायें स्वाभाविक प्रेम की प्रेरणा से नायक में अनुरक्त नही होती थी अपितु नायक इनकी परिस्थिति से लाभ उठाकर इन्हें अपनी काम-तृप्ति का साधन बनाता था ऐसी स्थिति मे सच्चे प्रेम की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

परकीया के अन्य भेद भी नायिका की हीन स्थिति को ही व्यक्त करते हैं। नायक के संकेत पर वह अभिसारिका का रूप धारण करती है, वासक-सज्जा के रूप में संकेत स्थल पर नायक की दीर्घ प्रतीक्षा करती है, किन्तु कुछ दिनों के रस-पान के अनन्तर रसिक भ्रमर किसी और में अनुरक्त हो जाता है और फल-स्वरूप उसे निराश विप्रलब्धा के वेप में घर लौटना पड़ता है।

इसी प्रकार निवास स्थान और पेशे के अनुसार किये गये परकीया सम्बन्धी भेद भी पुरुष वर्ग की अति रसिकता के परिचायक हैं, अन्यथा मालिन, धोबिन, तेलिन आदि का व्यवसाय चाहे कुछ भी हो अपने-अपने घर में तो वे स्वकीयायें ही है।

वस्तुतः नायिका-भेद में हम जिस शृंगारिकता के दर्शन करते हैं वह सर्वथा कामुकता और रसिकता से ही ओत प्रोत है, उसमें पुरुषों की काम-लोलुपता एवं वंचकता, नारी की परवशता और दीनता, दाम्पत्य जीवन की विषमता और बाह्य सामाजिक जीवन की गर्हितावस्था का दर्शन होता है। प्रेम-भावना को ध्यान में रख कर किया गया वर्गीकरण केवल एक रसलीन का—कामवती, अनुरागिनी, प्रेमासक्ता—मिलता है: किन्तु इसे अन्य कवियों ने स्वीकार नहीं किया।

नायिका-भेद का मूल उद्गम-स्रोत—नायिका-भेद की परम्परा के मूल उद्गम-स्रोत पर विचार करते हुए डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ने अपने प्रबन्ध में "नाट्य-शास्त्र" के रचयिता भरतमुनि को इसका आदि प्रवर्त्तक बताया है तथा अभिनय को ही नायिका भेद की उत्पत्ति का प्रेरक कारण सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1] किन्तु उनका यह मत स्वीकार्य नहीं है। नायिका-भेद की उत्पत्ति का मूल कारण अभिनय नहीं अपितु काम-शास्त्रीय विश्लेषण है तथा इसकी परम्परा का प्रवर्त्तन काम-शास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्य शास्त्र की रचना से बहुत पूर्व हो चुका था। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं :—

(क) वात्स्यायन के काम सूत्र का रचनाकाल स्वयं डा० राजेश्वरप्रसाद ने चन्द्रगुप्त का शासनकाल कल्पाब्द २४२२ (ई० ५ : ३२४–३००) स्वीकार किया है।[2] जबकि भरत का नाट्य शास्त्र प्रथम शताब्दी से पूर्व का नहीं माना जाता। जो विद्वान दोनों ही ग्रन्थों को बाद की रचना मानते हैं वे भी 'काम-सूत्र' को 'नाट्य-शास्त्र' से पूर्व रचित मानते हैं।

(ख) वात्स्यायन ने अपने पूर्व के आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए आचार्य चारायण के द्वारा कृत नायिका के पाँच भेदों, सुवर्ण नाम के छः भेदों, घोटकमुख के सात भेदों की आलोचना की है। इससे सिद्ध होता है कि नायिका-भेद की परम्परा वात्स्यायन से भी बहुत पूर्व प्रचलित हो चुकी थी।

(ग) जहाँ वात्स्यायन ने नायिका भेद सम्बन्धी अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है वहाँ वे भरत के नायिका भेद के सम्बन्ध में मौन हैं। यदि भरत का नाट्य शास्त्र पहले निर्मित हो चुका होता तो वे उसका उल्लेख अवश्य करते परन्तु इसके विपरीत 'भरत-मुनि' ने अपने ग्रन्थ में 'काम-सूत्र' का स्पष्ट उल्लेख किया है![3]

(घ) भरतमुनि का नायिका-भेद से बहुत अधिक विकसित एवं बाद का है, यह दोनों की तुलना से सिद्ध हो जाता है। वात्स्यायन ने नायिका के कुल आठ भेद किये हैं जबकि भरत के नाट्य-शास्त्र में इनकी संख्या ७२ तक पहुँच गई है। भरत-मुनि द्वारा अवस्थानुसार किये गये ८ भेदों में तो वात्स्यायन

---

१. रीति कालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन पृ० २६४।

२. वही—पृ० ११०।

३. उपचार विधि सम्यक काम सूत्र समुत्थितम्।

—नाट्य शास्त्र। २४।१४२।

खंडिता और अभिसारिता से ही परिचित हैं, शेष भेद बाद के विकसित हैं। वात्स्यायन ने अविवाहित कन्या को नायिका भेद में सर्वोपरि स्थान दिया है, किन्तु भरत ने इसकी उपेक्षा कर दी है, इसका कारण भी परवर्ती युग में बाल-विवाह का प्रचलन हो जाना था। जहाँ पूर्व युग के स्मृतिकारों में मनु जैसे भी उपयुक्त वर के न मिलने पर कन्या को दीर्घकाल अविवाहित रखने की आज्ञा देते है वहाँ याज्ञवल्क्य, नारद आदि परवर्ती स्मृतिकार हर स्थिति में कन्या का विवाह ऋतु-काल से पूर्व ही कर देने का आदेश देते है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि 'काम सूत्र' 'नाट्य-शास्त्र' से पूर्व रचित है तथा नायिका भेद परम्परा का मूल स्रोत काम-शास्त्रीय ग्रन्थ है जिनसे भरतमुनि ने भी लाभ उठाया।

नायिका भेद सम्बन्धी सामग्री के मूल आधार—हिन्दी के कवियों ने नायिका-भेद के विवेचन एवं वर्णन में मुख्यतः इन ग्रन्थों से सहायता ली है :-

१—संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों से जिनमें नाट्य शास्त्र (भरत मुनि), दश रूपक (धनंजय), साहित्य दर्पण (विश्वनाथ), रस मंजरी (भानुदत्त) आदि मुख्य हैं।

२—काम शास्त्रीय ग्रन्थ जिनमे 'काम-सूत्र' प्रमुख है।

३—संस्कृत की काव्य रचनाएँ—गीत गोविन्द, 'अमरु शतक' आदि।

हिन्दी के रीतिबद्ध शृंगारी कवि उपर्युक्त ग्रन्थों के कितने ऋणी है इसकी सम्यक परीक्षा करने के लिये आधार-भूत ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करना उचित होगा।

(क) **संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ**—हिन्दी कवियों के नायिका भेदों में से कर्मानुसार, दशानुसार, अवस्थानुसार, गुणानुसार और वय क्रमानुसार किया गया वर्गीकरण 'साहित्य-दर्पण' और 'रस-मजरी' में मिल जाता है। इन वर्गो के अवान्तर भेद भी इन ग्रन्थों मे मिल जाते है, यथा देव ने वयक्रमानुसार जो १३ भेद किये हैं वे साहित्य दर्पण में इस प्रकार मिलते है:—

साहित्य दर्पण	देव	नायिका की अवस्था
१—प्रथमावतीर्ण	१—वयः सन्धि	१२ वर्ष
२—यौवना		
३—मदन विकारा	२—नवल-वधू	१३ ,,
४—रति वामा	३—नवयौवना	१४ ,,

५—मान मृदु	४—नवल अनंगा	१५ वर्ष
६—समधिक लज्जावती	५—सलज्ज रति	१६ ,,
७—विचित्र सुरता		
८—प्ररूढ़ स्मरा	६—रूढ़ यौवना	१७ ,,
९—ईषत् प्रगल्भवचना	७—प्रगट मनोजा	१८ ,,
१०—मध्यम ब्रीड़िता	८—प्रगल्म वचना	१९ ,,
११—स्मरान्धा	९—विचित्र सुरता	२० ,,
१२—गाढ़ तारुण्या	१०—लब्धा-पति	२१ ,,
१३—समस्त-रत-कोविदा	११—रति-कोविदा	२२ ,,
१४—भावोन्नता	१२—आक्रान्ता	२३ ,,
१५—दर-ब्रीड़ा		
१६—रति-क्रान्ता	१३—सविभ्रमा	२४ ,,

यद्यपि देव ने १६ की संख्या को घटा कर १३ कर दी तथा नामों में भी परिवर्तन कर दिया फिर भी 'साहित्य-दर्पण' का प्रभाव पूरी तरह छिप नहीं सका है। दोनों के कई भेदों में—यौवना और नवयौवना, समधिक-लज्जावती और सलज्ज रति, ईषत् प्रगल्भवचना और प्रगल्भ वचना, रत कोविदा और रति कोविदा, रति-आक्रान्ता और आक्रान्ता आदि में—नामकरण का इतना अधिक साम्य है कि वह देव की मौलिकता को धूमिल कर देता है। देव की एक नवीनता अवश्य है कि जहाँ 'साहित्य-दर्पण' कार ने इन दशाओं का निर्णय नायिका के स्थल विकास के आधार पर किया है वहाँ देव ने इन्हें उसकी वय के साथ दृढ़ता से बाँध दिया जो कि स्वाभाविक नहीं! क्या यह आवश्यक है कि प्रत्येक नायिका १८ वर्ष की अवस्था में प्रगल्भवचना या २२ वर्ष की अवस्था मे रति-कोविदा हो जायगी। अस्तु, देव की यह मौलिकता भी नायिका भेद को विकृत करने वाली ही सिद्ध होती है।

वस्तुतः हिन्दी कवियों ने संस्कृत आचार्यों की नायिका भेद सम्बन्धी समस्त सामग्री ज्यों की त्यों ग्रहण कर ली है: उसमें उन्होंने या तो कोई परिवर्तन किया ही नहीं और यदि कोई किया भी तो वह महत्वपूर्ण नहीं है। संस्कृत आचार्यों एवं हिन्दी कवियों के प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी पर्याप्त साम्य है। दोनों के ही वर्गीकरण में कामुकता एवं नायिका की बाह्य परिस्थितियों का प्राधान्य है, अविवाहित नायिका एवं सामान्या की उपेक्षा भी दोनों

ने ही समान रूप से की है। यदि इसमें कोई भेद है तो यही कि संस्कृत लेखकों का मुख्य उद्देश्य आचार्यत्व होने के कारण उन्होंने दूसरे कवियों के उदाहरण उद्धृत किये हैं जबकि हिन्दी कवियों का लक्ष्य काव्य-रचना होने के कारण उदाहरणों की रचना उन्होंने स्वयं की है।

(ख) **काम सूत्र से तुलना**—हिन्दी कवियों का जाति अनुसार, देशानुसार और व्यवसायानुसार किया गया वर्गीकरण संस्कृत आचार्यों की रचनाओं में नहीं मिलता। इन वर्गीकरणों के मूलाधार काम शास्त्रीय ग्रन्थ हैं। जाति अनुसार पद्मिनी, हस्तिनी, चित्रिनी आदि वाला वर्गीकरण 'काम-सूत्र' में तो नहीं मिलता किन्तु परवर्ती काम शास्त्रीय ग्रन्थों 'रति-रहस्य' (कोक-शास्त्र) आदि में प्रचलित है। 'काम-सूत्र' के द्वितीय अधिकरण के पाँचवें अध्याय में 'देश्या-उपचारा' प्रसंग के अन्तर्गत मध्य देश वाल्हीक, आवन्तिक, मालव्य, सिन्धु लाटदेश, कौशल आदि प्रदेशों की स्त्रियों की विशेषताओं का अलग-अलग वर्णन किया है, अतः हिन्दी कवियों के देशानुसार वर्गीकरण का मूलाधार यही कहा जा सकता है। व्यवसाय के आधार पर नायिकाओं का वर्गीकरण 'काम-सूत्र' में नहीं मिलता किन्तु विभिन्न वर्ण, जाति एवं व्यवसाय वाली दूतिकाओं का वर्णन उसमें है, अतः इस प्रकार के वर्गीकरण की प्रेरणा भी संभवत हिन्दी कवियों को यहीं से मिली होगी। रसलील ने ऊढ़ा, परकीया के दो भेद असाध्या एवं सुखसाध्या किये है जो संस्कृत काव्य ग्रन्थों में नहीं मिलते। 'काम-सूत्र' के पाँचवें अधिकरण के पहले अध्याय में परकीयाओं के दो भेद दुर्लभ और अयत्न-साध्या करते हुए प्रत्येक के २५–२५ उपभेद किये गये है जिनमें रसलीन के सारे भेद मिल जाते हैं।

यद्यपि 'काम-सूत्र' से हिन्दी कवियों ने बहुत कुछ सहायता ली है किन्तु फिर भी दोनों में पर्याप्त वैषम्य है। जहाँ काम-सूत्रकार ने अविवाहित नायिका का सूक्ष्मतिसूक्ष्म विवेचन किया है, हिन्दी कवियों ने उसकी उपेक्षा करदी है। काम-सूत्रकार का शृंगार सम्बन्धी दृष्टिकोण भी हिन्दी कवियों की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है। साधारणतः लोग 'काम-सूत्र' का उद्देश्य स्थूल मिलन की शिक्षा देना मात्र समझते हैं किन्तु वात्स्यायन का लक्ष्य सूक्ष्म हार्दिक मिलन का रहस्य समझाना ही है, वहाँ यदि शारीरिकता है भी तो वह मानसिकता की पूर्ति के लिये है। एक ओर उसने विवाह का आधार प्रेम को बताया है तो दूसरी ओर वेश्याओं तक का वर्गीकरण प्रेम भावना के आधार पर किया गया है, जैसे 'एक निष्ठ प्रेम' वाली, बहुतों से प्रेम करने वाली और किसी से भी प्रेम

न रखने वाली। इसके अतिरिक्त वात्स्यायन ने प्रेम के भी सात भेद रागवद, आहार्य राग, कृत्रिम प्रेम, व्यवहित, पोटारत, खलरत और नियंत्रित—किये हैं जिनके आधार पर हिन्दी कवि नायिका भेद निरूपण कर सकते थे : पर ऐसा लगता है, काम सूत्र से भी इन कवियों ने कामुकता को ही ग्रहण किया, उसके प्रेम सम्बन्धी पक्ष की ओर इनका ध्यान नहीं गया।

वात्स्यायन के दृष्टिकोण से हिन्दी कवियों का एक मौलिक भेद यह भी है कि जहाँ 'काम-सूत्र' में नायिका की शारीरिक एवं मानसिक तुष्टि को सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है, वहाँ हिन्दी कवियों के लिए वह उपभोग्य मात्र रह गई है। वात्स्यायन वेश्याओं और कुलटाओं तक के साथ शिष्ट एवं सम्मान-पूर्ण व्यवहार की शिक्षा देते है। कभी प्रेमिकाओं को विप्रलब्धा भी बनना पड़ेगा, इसकी तो काम सूत्रकार संभवत: कल्पना भी नही कर सकते थे।

वस्तुत: 'काम-सूत्र' में मौर्य युग की उस संस्कृति और सभ्यता का प्रतिबिम्ब है जिसमें भारतीय नारी का ऐसा पतन नहीं हुआ था कि वह पुरुष की भोग सामग्री मात्र रह जाय। हिन्दी कवि यदि अपने युग प्रभाव से ऊँचे उठकर काम-सूत्र से ही प्रेम तत्व ग्रहण करना चाहते तो कर सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

(ग) जयदेव और हिन्दी कवि—अब तक जिस प्रभाव की चर्चा की गई है वह हिन्दी कवियों के नायिका-भेद के सैद्धान्तिक पक्ष से ही सम्बन्धित है, उसके व्यवहारिक पक्ष या काव्य मय उदाहरणों से नही। इस दूसरे पक्ष पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जयदेव का बहुत अधिक प्रभाव है। जयदेव की ये प्रवृत्तियाँ हिन्दी नायिका-भेद में मिलती हैं—

१—धार्मिकता के वातावरण में रसिकता की तुष्टि।
२—राधा कृष्ण को नायिका और नायक के रूप में उपस्थित करना।
३—शास्त्रीय लक्षणों का उल्लेख करना।
४—काम शास्त्र और काव्य-शास्त्र के नियमों का पालन।
५—मुक्तक-शैली।

गीत गोविन्द से हिन्दी कवियों का थोड़ा वैषम्य भी है। गीत गोविन्द में नायिका भेद का निरूपण एक ऐसे क्रम से किया गया है जिससे सारा काव्य कथा वस्तु के सूक्ष्म तन्तु में आबद्ध रहता है। दूसरे जयदेव ने गीत शैली को अपनाया जबकि रीति बद्ध कवियों ने कवित्त और सवैयों में काव्य रचना की।

स्थूल शारीरिकता एवं अश्लीलता की दृष्टि से हिन्दी कवि जयदेव की अपेक्षा अधिक संयत है।

(घ) **अमरुक शतक और हिन्दी कवि**—नायिका-भेद के उदाहरणों की रचना में हिन्दी कवियों ने अमरुक शतक से भी पर्याप्त सहायता ली है। अमरुक-शतक के एक श्लोक (४६) का अर्थ है—"तन्वी के समक्ष किसी अन्य स्त्री का नाम मुँह से निकल जाने पर मैंने चकित होकर अपना मुँह नीचा कर लिया, तथा लज्जावश धरती पर कुछ लिखने लग गया। पर हाय रे दुर्भाग्य! धरती पर भी उन रेखाओं से उसी तरुणी का चित्र बन गया जिसका मैंने नाम लिया था।" इस प्रसंग को लेकर मतिराम ने लिखा है :—

दोऊ आनंद सां आंगन मांझ बिराजे, असाढ की सांझ सुहाई।
प्यारी की पूंछत आन तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आयो उन्हें मुँह सौ कोह तिया सुरचापसी भौंह चढ़ाई।
आंखिन तें गिरे बूंद से आंसू, हुलास गयो उड़ि हंस की नाई॥

मतिराम ने उपर्युक्त छन्द में मूल श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों को बदल कर उसे अधिक स्वाभाविकता एवं सरसता से समन्वित कर दिया है।

पद्माकर ने भी कई छन्दों की रचना अमरुक-शतक के आधार पर की है। उनका निम्नलिखित छन्द तो शतक के ५३वें छन्द का बिल्कुल अनुवाद सा ही है।

ए बलि कहाँ किन ? का कहत कंत ? अरी रोस तज,
रोप के कियो में का अचाहे को ?
कहै पद्माकर यहै तो दुख दूरि करो,
दोस न कछू है तुम्हें नेह निरबाहे को ?
तो पै इत रोवति कहा हो ? कहो कौन आगे ?
मेरे ईजु आगे किये आसुन उभारेको ?
को हों मैं तिहारी ? तू तो मेरी प्रान प्यारी,
अजू होती जो पियारी तब रोती कहो काहे को ?

इसके अतिरिक्त भी केशव, मतिराम, पद्माकर, दास, बिहारी आदि कवियों की रचनाओं में अनेक ऐसे छन्द मिलते हैं जो 'अमरु शतक' के आधार पर रचित हैं। 'अमरु शतक' के सम्पादक श्री ऋषीश्वर नाथ भट्ट ने ऐसे बीसों छन्द 'अमरु शतक' के श्लोकों की टीका के साथ-साथ उद्धृत किये हैं (देखिये बम्बई संस्करण)। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं इस युग के कवियों पर अमरु शतक का पर्याप्त प्रभाव पड़ा होगा। प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण में अति रसिकता का

समावेश है। दूसरे, संस्कृत साहित्य मे अमरुक संभवतः पहला कवि है जिसने शृङ्गार सम्बन्धी दृश्यों की आयोजना के लिये देवी-देवताओं, राजाओं और विदूषकों, को भूल कर सामान्य जीवन में होने वाली रात-दिन की घटनाओं से सामग्री ढूँढी। यद्यपि अमरुक अपने काव्य में एक व्यभिचारी नायक के रूप में उपस्थित होता है तथा सदैव ही अपनी पत्नी से छल-कपट करता है किन्तु फिर भी वह अपने कृत्यों को पाठक के सम्मुख निस्संकोच रूप मे खोल कर रख देता है। हिन्दी कवियों के शृङ्गार का नायक अमरुक की ही कोटि का है। इसमें कोई सन्देह नही कि इन कवियों को गार्हस्थ्य जीवन के दृश्यों से ही काव्य सामग्री ढूँढ़ने की प्रेरणा बहुत कुछ अमरुक से ही मिली होगी। हां, इतना अवश्य है कि इन में अमरुक का सा साहस न होने के कारण वे अपनी अनुभूतियों को भी किसी अन्य नायक से सम्बन्धित बता कर चित्रित करते हैं। वस्तुतः हिन्दी के रीतिबद्ध कवियों के शृङ्गार-वर्णन मे जयदेव और अमरुक की विशेषताओं का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है।

इस प्रकार हम देखते है कि रीति-बद्ध कवियों ने अपनी काव्य सामग्री जुटाने के लिये संस्कृत के 'काम-शास्त्रों', 'काव्य-शास्त्रों' और 'काव्य ग्रन्थों' से बहुत कुछ ऋण लिया, किन्तु फिर भी यह न समझना चाहिए कि हिन्दी कवियों ने जो कुछ लिखा है वह संस्कृत साहित्य का ही पिष्टपेषण मात्र है। यह ठीक है कि ईंट, चूना, गारा, लकड़ी आदि सब कुछ हिन्दी कवियों ने संस्कृत से उधार लिया है, किन्तु उसमें अपनी कलाकारिता का योग देकर जैसा काव्य-भवन इन्होंने तैयार किया वह अपूर्व है। यह तथ्य इस बात का भी द्योतक है कि रीति बद्ध-कवि काव्य रचना करने से पूर्व प्राचीन काव्य का व्यापक अध्ययन करते थे। यह बात उनके महत्व को बढ़ाने वाली सिद्ध होती है। संस्कृत के प्रबन्ध नाटक, गद्य मुक्तक आदि अनेक प्रकार के काव्य रूप सुप्राप्य थे किन्तु इन कवियों ने केवल एक मुक्तक को ही चुना। संस्कृत में आचार्यत्व और काव्य रचना के क्षेत्र भिन्न-भिन्न थे, पर इन्होंने दोनों को मिलाकर एक कर दिया। अमरुक की रसिकता को हिन्दी कवियों ने आत्मसात कर लिया पर फिर भी उन्होंने अमरुक की भाँति धार्मिकता, एवं देवी-देवताओं का स्पष्ट विरोध नहीं किया, प्रत्युत राधा-कृष्ण की भक्ति के आवरण को स्वीकार किया। जयदेव की सब विशेषताओं को ग्रहण करते हुए भी उनकी मधुर गीति शैली को इन्होंने ठुकरा दिया। ये तथ्य इस बात के प्रमाण है कि हिन्दी कवियों ने जो कुछ भी लिखा वह संस्कृत के काव्य का अन्धानुकरण मात्र नहीं है। उसमें

उनकी रुचि, प्रतिभा, और अनुभूति तथा उनके युग की प्रवृत्तियों का पूरा योग है।

रीति-बद्ध कवियों का शृंगार-चित्रण

(क) **आलम्बन**—रीत-बद्ध कवियों ने शृंगार-चित्रण के अन्तर्गत सबसे अधिक रुचि नायिका के सौन्दर्य में प्रदर्शित की है। नारी की मधुर छवि एवं उसकी सूक्ष्म चेष्टाओं के अंकन के लिये उन्होंने नख-शिख-वर्णन की परम्परागत शैली में थोड़ा संशोधन करके नई पद्धति का विकास किया। नख-शिख-वर्णन प्रणाली में नायिका के सभी स्थूल अंगों का क्रमशः वर्णन किया जाता था जो रूढ़िबद्ध हो जाने के कारण अपना प्रभाव खो चुकी थी, अतः इन कवियों ने केवल कुछ अंगों को लेकर एक समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया, जिसमें पर्याप्त सफलता मिली है। उदाहरण के लिये एक छन्द देखिये :—

कुंदन को रंग फीको लगे, झलके ऐसी अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहे मुसुकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये, नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरे सी निकाई॥

यहाँ नायिका के समस्त नख-शिख को न लेकर कुछ अंगों को ही लिया गया है, दूसरी विशेषता यह है कि अंगों की स्थूलता, दीर्घता आदि बाह्य गुणों को न लेकर, कान्ति, वर्ण, माधुर्य, चंचलता, मुस्कराहट आदि सूक्ष्म गुणों पर ध्यान दिया गया है और तीसरे, सौन्दर्य को स्थिर रूप न देकर उसे पल-पल परिवर्तित छवि के रूप में उपस्थित किया गया है। शब्दों की दृष्टि से सीमित होता हुआ भी इस प्रकार का वर्णन प्रभाव की दृष्टि से विशद् एवं गम्भीर सिद्ध होता है।

कहीं-कहीं इन कवियों ने नायिका के सौन्दर्य की एक विशेषता को लेकर ही पूरे छन्द की रचना कर दी है, पर फिर भी वह ऊबा देने वाला नहीं है। देखिये :—

घाँघरि झीन सौ, सारी महीन सौ, पीन नितम्ब भार उठे सचि।
बास-सुबास सिंगार-सिंगारनि, बोझनि ऊपर बोझ उठे मचि॥
स्वेद चले, मुख चंद ते च्वै, डग द्वैक धरे मति फूलन सों पचि।
जात है पंकज वारि बयारि सौं, वा सुकुमारि कौं लंक लला लचि॥

—भिखारीदास

यहाँ नायिका की सुकुमारता को लेकर अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है किन्तु इसमें सरसता विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त रीति-बद्ध कवियों के सौन्दर्य-निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता नायिका की चेष्टाओं को अत्यन्त स्वाभाविक रूप में चित्रित करना है। देखिये :—

छुटि के कटि रंचक छीन भई, गति नैननि की तिरछानि लगी।
ससिनाथ कहै उर ऊपर तें, अंचरा, उघरे तें लजान लगी।
लरकाई के खेल पछेल कछुक, सयानि सखीन पत्यान लगी।
पिय नाम सुने तियद्यौसक तें दुरिके मुरिके मुसक्यान लगी।

यहाँ कवि ने उसी वयःसन्धि या यौवनागम की अवस्था का वर्णन किया है जिसका कालिदास[1] आदि पूर्व कवि वर्णन कर चुके थे, किन्तु फिर भी इस चित्रण की कुछ विशेषताएँ हैं। कालिदास ने शारीरिक परिवर्तनों का तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण आलंकारिक भाषा में प्रस्तुत किया है, पर उसमें उन चेष्टाओं का निरूपण नहीं मिलता जो विद्यापति और शशिनाथ के वर्णनों में है। विद्यापति की नायिका अपने आप में ही विभोर है, उसकी चेष्टाओं के पीछे भावना का वह माधुर्य नहीं जो शशिनाथ की नायिका में (पिय नाम सुने तिय द्योसक तें दुरिके मुरिके मुसक्यान लगी) मिलता है। वस्तुतः रीति बद्ध कवियों

---

१. यौवनागम का वर्णन कालिदास ने इस प्रकार किया है—यौवन के भार से अवनत पार्वती की गति ऐसी मनोहर थी मानों चरणनूपुर का वादन सीखने के बदले में राजहंसों ने पहिले ही उसे अपनी विलास-युक्त गतियाँ सिखादी हों। उसकी कटि अत्यन्त पतली थी और पेट पर त्रिवली सुशोभित थी—मधुर भाषिणी पार्वती के बोलने पर स्वर से मानो अमृत झरता था। और तुलना में कोयल की कूक तक कर्कश और बेसुरी वीणा के समान जान पड़ती थी (कुमार-संभव, प्रथम सर्ग ३६–३८)।

२. विद्यापति—

खने खन नयन कोर अनुसरई। खने खन बसन धूलि तन भरई।
+ + + +
चउँकि चलए खनेखन चलु मंद। मनमथ पाठ पहिल अनुबन्ध।
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर। खने आँचर दए, खने होए भोर॥

का सौन्दर्य चित्रण भारतीय शृंगार परम्परा को नई विशेषताओं से समन्वित करता है। इस क्षेत्र मे ये कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों से आगे बढ़ गये है, इसमें कोई सन्देह नही।

(ख) **उद्दीपन**—भावोद्दीपन के उपयुक्त पृष्ठभूमि एवं वातावरण के लिये इन कवियों ने भी परम्परागत ऋतु-वर्णन को ही अपनाया है पर इनका लक्ष्य यहाँ भी स्थूल वर्णन के स्थान पर सूक्ष्म प्रभाव के चित्रण का ही है। पावस के आर्द्र वातावरण में नायिका की आकर्षण शक्ति में किस प्रकार वृद्धि हो गई है इसका एक उदाहरण देखिए :—

ऐसी झरी में बूंदन में दूंदन उठायो काम, मूंदे मुख प्यारी बनी गूंदे न बहरि के।
कहै कवि सिवनाथ झिल्ली गन गाजत है, सावन में बहै रस लहरी छहरि के॥
उन री सु कंज, दुति दूनरी दृगन बाढ़ी, हून री कहित खौर देन री गहरि के।
ऊनरी घटा में गोरी, तू न री अटा पै बैठ, खून री करैगी, लाल चूनरी पहिरि के॥

इसी प्रकार बसन्त के वैभवपूर्ण दृश्यों को देख कर नायक नायिका प्रेम विह्वल हो जाते हैं :—

उमग्यो परत अनुराग बन बागनि में, राखि है सोहाग सोहागिन ह्वै कंत की।
कोकिल कलापी अकुलावत अकेलिन को, अलिन अलापी धुनि आनन्द अनत की।
या रितु सोहाई में सोहाई न करोरी काई, फिरत दोहाई 'देव' मैन मति मंतकी।
चाहति सुजान नवलाल मधुकर मिल्यौ, नवला विमल नव जोबन बसन्त की।

उपर्युक्त छन्द मे प्रकृति के स्थूल अवयवों का सूक्ष्म चित्रण नही किया गया है, केवल कुछ विशेषताओं की ओर संकेत मात्र किया गया है, फिर भी कवि की अनुभूति का गहरा पुट होने के कारण यह वर्णन हृदयस्पर्शी बन गया है।

जो प्रकृति संयोगियों के लिये एक अभिन्न मित्र का काम करती है, वही वियोगी हृदय के लिये शत्रुवत् हो जाती है। प्रिय की उपस्थिति में जो पावस मधुरतम आनन्द प्रदान करती थी वही एकाकीपन में कठोरतम प्रतीत होती है। संध्या के सलोने मद भरे बादल अंग-प्रत्यंग में कसक-सी उत्पन्न करने लगते है : मयूर की कहू-कहू और झिल्ली की झंकार हृदय को चीरती-सी प्रतीत होती हैं। पावस के ऐसे निष्ठुर अत्याचारों से पीड़ित होकर एक विरहिणी कहती है :—

सांझ के सलौने घन सबुज सुरंगन सों कैसे कै अनंग अंग अंगनि सताउतौ।
कहै पद्माकर झकोर झिल्ली सोरन की, मोरन को महत न कोऊ मन ल्याउतौ।
काहु विरही की कही मानि लेतौ जो पै दई, जग में दई ते दयासागर कहाउतौ।
पावस बनायो तो न विरह बनाउतौ, जो विरह बनायौ तो न पावस बनाउतौ॥

वस्तुतः इन कवियों ने प्रकृति का चित्रण अपनी अनुभूतियों के अनुरूप ही किया है जो अतिशयोक्तिपूर्ण होता हुआ भी पाठक के हृदय को गुदगुदाने में समर्थ है। भले ही इनके ऋतु वर्णन में बाह्य जगत का संश्लिष्ट चित्रण न हुआ हो किन्तु उसमें भावना का ऐसा तारल्य, कल्पना का ऐसा वैभव एवं शैली का ऐसा नैपुण्य विद्यमान है कि वह किसी भी सहृदय को प्रभावित किये बिना नहीं रहता।

(ग) **आश्रय**—रीति-बद्ध कवियों ने मुक्तक शैली को अपनाया था, अतः उसमें वे चाहते तो निजी प्रेमानुभूतियों को आश्रय रूप में अभिव्यक्ति कर सकते थे, किन्तु नायिका भेद के ढांचे में उलझ कर वे ऐसा नही कर सके। जहाँ आलम्बन रूप में भी वे नारी की बाह्य शोभा का अंकन करते है आश्रय रूप में भी उसी के हृदय का उद्घाटन करते है। इनके द्वारा चित्रित नारी की अनुभूतियों को भी मुख्यतः दो वर्गों में रख सकते है—दाम्पत्य जीवन से सम्बन्धित और स्वतन्त्र-प्रेम जन्य। दाम्पत्य जीवन में भी पत्नी को दो अवस्थाओं का अनुभव होता है। विवाहित जीवन के आरम्भ में नई नवेली वधू के रूप में वह पति का प्रेम प्राप्त करती सुई सुख-विभोर हो जाती है जबकि दूसरी अवस्था में उसके यौवन और सौन्दर्य के ह्रास के साथ-साथ उसके पति के प्रेम का स्रोत भी सूख जाता है, वह किसी अन्य में अनुरक्त हो जाता है इन दोनों पक्षों का चित्रण इन कवियों ने विस्तार पूर्वक किया है। यहाँ दाम्पत्य-जीवन के आरम्भ का एक चित्र देखिये :—

आपुने हाथ सों देत महाबर, आप ही वार संभारत नीके।
आपुन ही पहिराबत आनिकै, हार संवारि के मौरि सिरी के॥
हौं सखि लाजन जात मरी, मतिराम सुभाव कहा कहौं पी के।
लौंग मिलें घर घेर कहें, अबई ते ए चेरे भए दुलही के॥

यद्यपि नववधू यहाँ लज्जा का अभिनय कर रही है किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उसका हृदय उस माधुर्य एवं प्यार से उद्वेलित हो रहा है जो उसे प्रियतम से मिला है। अन्तिम दो पक्तियों में तो दाम्पत्य जीवन की सुखद अनुभूतियाँ छलकती सी दिखाई पड़ती है। लालसा, अतृप्ति, उल्लास एवं माधुर्य से ओत-प्रोत एक दूसरा दृश्य महाकवि देव के इस शब्द चित्र में दृष्टव्य है—

प्यारे तन प्यारी पेखि, प्यारी पियतन,
पियत न खात नेकहूँ न अनखात हैं।
देखि ना थकत, देखि देखि ना सकत, देव,
देखिबे की घात, देखि-देखि ना अघात हैं।

यहाँ कवि ने केवल शारीरिक चेष्टाओं एवं बाह्य अनुभावों के माध्यम से उस मधुरिमा का प्रत्यक्षीकरण कर दिया है जो नव दम्पत्ति की गहराई में छिपी हुई है।

पाश्चात्य जीवन प्रणाली की बाह्य चंचलता को देखकर कुछ लोग सोचते हैं कि हमारी संयुक्त परिवार प्रथा नव-दम्पत्तियों के आंतरिक उल्लास को पूरी तरह व्यक्त नहीं होने देती। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि यह नियंत्रण भी प्रेम विवाह को कभी-कभी चोरी के आमों की सी अद्भुत सरसता प्रदान करता है : विशेषतः जबकि रोमांटिक प्रवृत्ति की देवरानी-जेठानियों से घर भरा हो। ऐसे ही सरलता पूर्ण जीवन की एक झाँकी यहाँ द्रष्टव्य है—

केलि की रेनि अघाने नहीं दिनही में लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोऊ पानी दै जइयो भीतर बैठि के बात सुनाई॥
जिठानी पठाइ, गई दुलही, हंसि हेरि हरैं मतिराम बुलाई।
काम्ह के बोल पै कान दियो नहीं, गेह की देहरी पै धरि आई॥

अब दाम्पत्य जीवन के उस दूसरे पक्ष को लीजिये जबकि रसिक नायक ने .पनी जीवन संगिनी को पुरानी घोषित करके किसी नवीना किशोरी से सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। ऐसी स्थिति में पत्नी के हृदय की क्या दशा हो जाती है, इसकी अभिव्यक्ति इन शब्दों में मिलती है—

को न भयो दिन चार नयो, नव जोबन जो तिहि जात समाते।
पै अब मेरी हितु हमें बूझे को, होत पुरानेन सों हित हाते॥
देखिए देव नए नित भाग सुहाग नए ते भए मदमाते।
नाह नए औ नई दुलही भए नेह नये औ नये-नये नाते॥

इस सवैये का प्रत्येक शब्द तिरस्कृत नारी की मर्म-वेदना को व्यंजित कर रहा है। "को न भयो दिन चारि नयो"—में यदि बीते दिनों की स्मृतियाँ कसक रही हैं, "हमें बूझे को"—में उपेक्षा और अपमान का क्षोभ चुभ रहा है, तो "नई दुलही—नेह नए" में ईर्ष्या की आग धधक रही है! यहाँ स्मृति, अमर्ष, ईर्ष्या आदि संचारियों से मिश्रित नायिका की वेदनानुभूतियों को सफलता पूर्वक चित्रित कर दिया है।

प्रणय-वंचिता नारी के प्रति यदि उसका पति कभी-कभी कृत्रिम सहानुभूति का भी प्रदर्शन करता है तो वह भी उसके दग्ध हृदय की ज्वालाओं को बढ़ाने वाला ही सिद्ध होता है। तुम रोती क्यों हो ? क्या रूठ गई हो ? हाय, मानिनी, प्रसन्न हो जाओ ! ये छलपूर्ण शब्द उसके क्षुब्ध मन को किस प्रकार उत्तेजित कर देते हैं, इस सत्य का चित्रण इन कवियों ने अत्यन्त ही स्वाभाविकता एवं मार्मिकता के साथ किया है। एक उदाहरण देखिये :—

आंखिन के जल की जु है रीति, सदा तुम सांझहू भोर निहारत।
ते द्विजदेव जू क्यों कहिजाय, परे छत जे हिय कों करे आरत॥
बात बिचारिबे की यह लाल, कहा बकवाद कै मो तन जारत।
मान रहेगौ कितै बलि जाउँ, सो 'मानिनी' 'मानिनी' काहि पुकारत॥

ये उक्तियाँ नारी की विवशता, दीनता और वेदना की गंभीरता से ओत-प्रोत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दम्पत्य जीवन के चित्रण के लिये इन कवियों ने अपने गुण के वास्तविक जीवन का पर्यवेक्षण किया था। इसीलिये इनके वर्णन ऐसे स्वाभाविक एवं हृदय-ग्राही बन गए हैं।

स्वतन्त्र प्रेम की अनुभूतियाँ—नायिका के परकीया सम्बन्धी भेदों का निरूपण करते हुए इन कवियों ने स्वतन्त्र प्रेम की अनुभूतियों का भी चित्रण किया है। इस प्रेम का उदय कहीं काम की प्रेरणा से होता है और कहीं सौन्दर्य के प्रभाव से। वचन विदग्धा नायिकाओं के चित्रण में प्रायः उनकी कामासक्ति की व्यंजना हुई है :—

ननद निनारी, सासु माय के सिधारी, अहै रैन अंधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन कविराज न सोहात भौन, दारुन बहत पौन, लग्यो मेघ झरु है।
संग ना सहेली, बैस नवल अकेली, तन परी तलबेली महा, लाग्यौ मेन सरु है।
भई अधिरात, मेरो जियरा डरात, जागु जागु रे बटोही ! यहाँ चोरन को डरु है।

—सुखदेव मिश्र

उपर्युक्त पंक्तियों से विशुद्ध काम की लोलुपता व्यंजित होती है सौन्दर्य या प्रेम की स्थिति का कोई चिह्न उसमें नहीं मिलता। पर ऐसे वर्णन इन कवियों के काव्य में थोड़े ही हैं, अधिकांश में तो हम सौन्दर्य का आकर्षण ही पाते हैं। एक युवती जो होली खेलने गई थी, छैल छबीले कृष्ण के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती है। उसकी इस सौन्दर्यानुभूति का वर्णन उसी के मुँह से सुनिये :—

घोई घोई हारी, पद्माकर तिहारी सोंह,
अब तो उपाय एको चित्त पै चढ़े नही ।
कैसी करों ? कहाँ जाऊँ ? कासों कहों ? कौन सुने ?
कोऊ तौ निकासौ जासौ दरद बढ़ै नही ।।

\+ + + +

ऐरी ! मेरे बीर, जैसे तैसे इन आंखिन ते,
कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं ।

यहाँ सौन्दर्याकर्षण प्रेम दशा के रूप में परिवर्तित हो चुका है। ऐसी अवस्था में प्रेमाश्रय की सारी वृत्तियाँ प्रिय मे ही केन्द्रित हो जाती हैं, उसके अभाव में उसे सारा संसार नीरस-सा प्रतीत होने लगता है :—

घर ना सुहात, ना सुहात बन बाहर हूँ,
बाग ना सुहात जे, खुसाल खुस बोही सों ।

\+ + + +

साँझ ना सुहात, ना सुहात दिन माँझ कछू ।
व्यापी यह बात सो बखानत हों तोही सों ।।
राति ना सुहात, ना सुहात परभात आली ।
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों ।।

—पद्माकर

कुछ लोगों का विचार है कि आध्यात्मिक रति से ही मानव हृदय में निर्वेदभाव का संसार होता है, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नही है । उपर्युक्त पंक्तियों मे लौकिक प्रेम जन्य विरक्ति का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शब्दों मे किया गया है, जो बहुत ही मार्मिक है ।

प्रेम की विभिन्न अवस्थायें—परकीया नायिका के प्रसंगों में इन कवियों ने स्वतन्त्र प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं एवं दशाओं का चित्रण भी अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है । प्रेमोदय के अनन्तर नायिका को समाज की निन्दा, घर वालों की भर्त्सना एवं सखी सहेलियों के उपदेशों का सामना करना पड़ता है, जिन से प्रभावित होकर वह चाहती है कि अपने प्रेम को समाप्त कर दे : पर हृदय के आगे वह विवश है, लाचार है ! देखिये :—

जीभ कुजाति न नेकु लजाति गने कुल जाति न बात बह्यो करे ।
देव नयो हिय नेह लगाय बिदेह कि आंचन देह दह्यो करे ।।

जीव अजान न जान जो नैन अयान के ध्यान रह्यो करे।
काहे को मेरो कहावत मेरो, जु पे मन मेरो, न मेरो कह्यो करे॥

यहाँ कवि ने वेदना, ग्लानि, एवं अमर्ष मिश्रित विवशता का चित्रण अत्यन्त सहृदयतापूर्वक किया है। प्रेम की कुछ अन्य भाव-दशाओं का भी चित्रण देखिये :—

(क) मिलन की आतुरता :—

गोकुल के छैल ढूँढ़ि ढूँढ़ि बन सेल, हों अकेली यहि गेल,
तो को एल करि थाकी हों॥
मंद मुसक्याय ले, समाय जी में ल्याय लेरे,
प्याइले पियूष प्याली अधर सुधा की हों।
मेरे सुखदाई देरे देव जू दिखाई नेकु,
एरे ब्रजभूप, तेरे रूप रस छाकी हों।

—देव

(ख) आकांक्षा :—

फागुन का गुन विचारि ना दिखाई देत,
एती बार लाई उन कानन में नाईं आउ,
+ + +
ऐरी इन नैनन के नीर में अबीर घोरि
बोरि पिचकारी, चितचोर पै चलाइ आउ।

—पद्माकर

(ग) प्रेमासक्ति :—

मूति जो मन मोहन की, मन मोहिनी के मन ह्वै थिरकी सी।
देव गुपाल को बोल सुनै छतियां सियराति सुधा छिरकी सी॥
नीकें झरोखा ह्वै झांकि सकै नहिं नैननि लाज घटा थिरकी सी।
पूरन प्रीति हिएँ हिरकी, खिरकी खिरकिनि फिरै फिरकी सी॥

(घ) निराशा, ग्लानि और विषाद :—

कैसी ही लगन, जामें लगन लगाई तुम,
प्रेम की पगनि के परेखे हिएँ कसके।
केति को छिपाइ के उपाय उपजाय प्यारे,
तुम तें मिलाप के बढ़ाए चोप चसके॥

भनत कबिंद हमें कुंज में बुलाइ करि,
बसै कित जाय, दुख देकर अबस के।
पगन में छाले परे, नांघिवे कों नाले परे,
तऊ लाल ! लाले परे राउरे दरस के ।।

(ङ) **दीनतापूर्ण अनुनय—**

अकंहू न लागी पै कलंकिनी कहाई यातें,
अरज हमारी एक याही अनुसरिये।
साँझ के सबेरे, दिन दसवें दिवारी फाग,
कबहूँ भलेजू भले आइबो तो करिये ।।

उपर्युक्त उदाहरणों में हम देखते हैं कि कम से कम शब्दों में हृदयस्थ भावना का प्रत्यक्षीकरण कर दिया गया है। भाव-व्यंजना के लिये अनुभावों और संचारी भावों का तो सफल प्रयोग इन कवियों द्वारा हुआ ही है, साथ ही इन्होंने उक्तियों का माध्यम भी अपनाया है जो बहुत ही प्राभावोत्पादक सिद्ध हुआ है। अत: यह कहना कि इनके काव्य में कला-पक्ष की प्रधानता है, भावपक्ष गौण है,[1] उचित नहीं। इनका कलापक्ष प्रौढ़ है किन्तु वह भावाभिव्यक्ति के मार्ग को अवरुद्ध नहीं करता। देव, मतिराम, पद्माकर, दास, दिजेन्द्र, कवीन्द्र आदि कवियों ने कहीं भी ऐसे श्लेष, वकोक्ति या कूट शब्द का प्रयोग नहीं किया जो अर्थ या भाव की व्यंजना में अवरोध उपस्थित करे। हिन्दी के अनेक भक्त कवियों ने दार्शनिकता में पड़कर या सम्प्रदायों से प्रभावित होकर अपने काव्य-सूत्र को कही-कहीं इस प्रकार उलझा दिया है कि वहाँ भावना का अस्तित्व ही बुद्धि की सूक्ष्म तेज धार पर आश्रित है, किन्तु इन कवियों ने कहीं भी ऐसा नही होने दिया।

भावना का विकास—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस धारा के कवियों के पास प्रतिभा का अगाध भण्डार था उनका अध्ययन भी कम व्यापक नहीं था, उन्होंने नारी-सौन्दर्य के चित्रण एवं विभिन्न भाव-दशाओं के उद्घाटन में भी अपूर्व सफलता प्राप्त की, इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि प्रेम भावना का पूर्ण विकास इनके काव्य में नहीं मिलता। इनका समस्त प्रेम-वर्णन नायिका से ही सम्बन्धित है, नायक को प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होने का अवसर इनके काव्य-मंच पर प्रायः नहीं मिला है।

---

१. रीतिकालीन कविता और शृंगार रस ।

अतः इनका चित्रण एकांगी हो गया है। नायिका के सम्बन्ध से नायक का अप्रत्यक्ष रूप में जितना परिचय मिलता है, उससे स्पष्ट है कि वह कामी है, रसिक है, शठ है और वंचकता से ओत-प्रोत है। एक ओर वही अपनी पत्नी के साथ विश्वासघात करता है, दूसरी ओर परकीया-प्रेयसियों का भी साथ अधिक दिन नहीं देता। नायिकायें भी—अविवाहित बालाएँ नहीं हैं अपितु ऐसी रस-लोलुप युवतियाँ है जो अपने की दृष्टि बचाकर किसी अन्य से गुप्त सम्बन्ध स्थापित करती हैं। ऐसी स्थिति में प्रणय की सफल परिणति की सम्भावना नहीं हो सकती।

एक ऐसा प्रेम जहाँ नायक और नायिका दोनों कष्ट सहन करते हुए, अपूर्व त्याग का परिचय देते हुए आगे बढ़ते हों, दोनों एक दूसरे के लिये प्राणों की आहुति देने को तैयार हों—इन कवियों में कहीं नहीं मिलता। यहाँ तो एक सामान्य सी बात है, दोनों में से कोई एक आसक्त होता है, फिर दूसरे को तैयार किया जाता है (अपितु फुसलाया जाता है), संकेत स्थलों पर पहुँचते हैं और फिर कुछ दिनों तक रसपान के अनन्तर प्रणय लीला समाप्त हो जाती है। मानों एक बुलबला उठता है जो फैलने से पूर्व ही फूट जाता है।

इन्होंने राधा-कृष्ण का भी आश्रय लिया पर फिर भी उन मनोरम स्थलों की इन्होंने उपेक्षा कर दी जिनका विकास सूर ने किया था। गार्हस्थ्य जीवन की अनेक मधुर झाँकियों के कारण संयोग पक्ष तो इनका परिपूर्ण है किन्तु वियोग पक्ष का चित्रण नगण्य सा है। सूरदास के भ्रमरगीत से इन्हें इस क्षेत्र में कोई प्रेरणा नही मिली। प्राचीन विषयों को भी नवीन अनुभूतियों के मेल से मौलिक रूप प्रदान करने की क्षमता इनमें थी, अतः ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि सूर की महानता इनके मार्ग में बाधक हुई! नायिकाओं के वियोग का जो थोड़ा बहुत निरूपण इनके द्वारा हुआ है, उसमें क्षणिक दुःख की सी विकलता तो है पर वह गम्भीर वेदना नहीं मिलती जो दीर्घ वियोग से विकसित होती है। वस्तुतः इनकी शृंगार भावना का विकास रसिकता की श्रेणी तक ही होता है, गम्भीर प्रणयावस्था का विकास उसमें नहीं मिलता। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि नायिका की मानसिक वृत्तियों, अनुभूतिपूर्ण उक्तियों, बाह्य चेष्टाओं एवं उनके सौन्दर्य की सूक्ष्म विशेषताओं के चित्रण की दृष्टि से इनका काव्य समस्त हिन्दी साहित्य में अपूर्व है। इनसे पूर्व विद्यापति, सूर और जायसी आदि ने भी नारी-सौन्दर्य का चित्रण किया है, पर

उसमे भावना की वह तरलता, चित्रण की वह सूक्ष्मता एवं प्रभाव की वैसी अन्विति नही मिलती जो इनके काव्य में है। आगे चलकर छायावादी कवियों ने भी सौदर्य का चित्रण किया पर उनकी अति सूक्ष्मता, अति प्रतीकात्मकता और अति दुरूहता के कारण वह इनके सौन्दर्य वर्णन की समता करने में असमर्थ है।

रीति-मुक्त शृङ्गार काव्य-परम्परा

यद्यपि संस्कृत के कुछ प्रेमाख्यानों में संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता का चित्रण हुआ है किन्तु उसका समाज की वास्तविक स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं है। संभवतः वैदिक एवं उत्तर वैदिक युग में जबकि विवाह कन्या की इच्छा के अनुसार होता था प्रेम के क्षेत्र मे थोड़ी बहुत प्रतिद्वन्द्विता रही हो किन्तु ईसवी शताब्दी के आरम्भ से भारतीय समाज में दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी व्यवस्था में कुछ ऐसा परिवर्तन हुआ कि उसमें संघर्षपूर्ण प्रेम के लिये कोई स्थान नहीं रहा। एक तो युवक-युवतियों का विवाह उनके माता-पिता द्वारा उनकी अबोध अवस्था में ही होने लगा, अतः विवाह पूर्व प्रतिद्वन्द्विता का तो प्रश्न नही उठता। दूसरी ओर कुछ ऐसे नियमों का विकास हुआ जिससे पति-पत्नी का सम्बन्ध विच्छेद किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता था, अतः विवाहोपरान्त नारी के लिये अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य से स्थायी प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया। तीसरे, पुरुषों के लिये बहु विवाह विहित था, अतः यदि उनका किसी अविवाहित युवती से सम्बन्ध हो भी जाता तो वह बिना किसी कठिनाई से विवाह में परिणत हो सकता था। अस्तु, पुरुष वर्ग के लिये प्रत्येक स्थिति मे प्रेम का मार्ग निर्द्वन्द्व ही था, उसमे दीर्घ संघर्ष की आशंका नही थी। किन्तु भारत में मुसलमानों के आने के अनन्तर इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। विवाह सम्बन्धी नियमों के अनुसार कोई भी हिन्दू अपने से निम्न वर्ग की अनेक हिन्दू स्त्रियों को पत्नी या प्रेयसी के रूप में अपने घर में रख सकता था, किन्तु विधर्मिणी युवती से वह किसी दशा में विवाह नही कर सकता था। मान लीजिये किसी हिन्दू युवक का मुस्लिम युवती से प्रणय हो गया, तो उसे या तो हिन्दू धर्म त्याग देना होगा अथवा अपने सहधर्मियों से रात-दिन संघर्ष करना होगा। प्रस्तुत काव्य परम्परा के कवियों मे से घनानन्द, बोधा, आलम, भारतेन्दु आदि कवि ऐसे ही थे जिन्होंने प्रेम के क्षेत्र में मनुष्य मात्र को समान समझ कर

धर्म की संकुचित परिधियों का उल्लंघन कर दिया।[२] रसखान, मुबारक, ठाकुर द्विजदेव आदि भी प्रेम पर धार्मिक मतभेदों का नियंत्रण स्वीकार नहीं करते थे। फलतः इन्हें अपने सहधर्मियों द्वारा दिये गये कष्टों का सामना करना पड़ा। तथा अधिकांश कवियों को अपने प्रेयसियों के सान्निध्य से वंचित होना पड़ा। इससे इनका प्रेम नष्ट नहीं हुआ अपितु वह और अधिक गम्भीर और वेदनापूर्ण हो गया। यही कारण है कि इनकी कविता में हम प्रणय-वेदना का ऐसा स्वाभाविक एवं अनुभूतिपूर्ण चित्रण पाते है जो भारतीय शृंगार-परम्परा के लिये सर्वथा नवीन है।

शृंगार-वर्णन

विभाव पक्ष—इस परम्परा के कवियों ने अपनी प्रणयानभूतियों की व्यंजना की ओर ही अधिक ध्यान दिया, अतः उनके काव्य मे विभाव पक्ष के चित्रण को पर्याप्त स्थान नहीं मिला, फिर भी इसका सर्वथा अभाव नही है। यहाँ नारी सौन्दर्य का चित्रण देखिये :—

झलके अति सुन्दर आनन गौर, छकै दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलनि में छवि फूलन की बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै॥
लट लोल कलोल कपोल करे, कलकंठ बनी जल जावलि द्वै।
अंग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनो रूप अबै घर च्वै॥

—घनानन्द

उपर्युक्त चित्रण कवि की विशुद्ध सौन्दर्य दृष्टि का परिणाम है, जिस में कामुकता का लवलेश भी नहीं। कवि के लिये किसी अंग-विशेष की पृथुलता या उन्नतता में आकर्षण नहीं है, उसे तो प्रिया के रोम-रोम में सौन्दर्य की तरंगे उठती हुई दिखाई दे रही है।

कहीं-कहीं नायिका की चितवन, मुस्कराहट, लज्जा आदि प्रेम चेष्टाओं का चित्रण भी अत्यन्त सरस हुआ है। एक उदाहरण देखिये :—

---

१. **घनानन्द, बोधा, आलम (मूलतः हिन्दू), भारतेन्दु ने मुस्लिम प्रेयसियों से प्रेम किया था, इनकी प्रेयसियों का नाम क्रमशः सुजान, सुभान, शेख और माधवी था। यद्यपि भारतेन्दु में और भी कई काव्य-प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, किन्तु प्रेम वर्णन की दृष्टि से हम उन्हें इसी काव्य परम्परा में रखना उचित समझते हैं।**

लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी
लसति ललित लाल चख तिरछानि में।
छबि को सदन गोरो बदन, रुचिर भाल
रस निचुरत मीठी मृदु मुसुक्यानि में।
दसन-दमक फैलि हियें मोती माल होति
पिय सों लड़कि प्रेम पगी बतरानि में।
आनन्द की निधि जगमगाति छबीली बाल
अंगनि अनंग रंग ढरि मुरि जानि में।

—घनानन्द

इसमें कोई संदेह नहीं कि उपर्युक्त छबीली बाला की यौवनावस्था का आभास उसकी लज्जा एवं स्नेह पूर्ण चितवन, नेत्रों में वक्र भंगिमा, मृदुल मनोहर मुस्कराहट आदि से मिलता है, फिर भी उसकी चेष्टाओं से काम-लालसा की व्यंजना नहीं होती अपितु प्रेम का उल्लास ही व्यक्त होता है। यह भी दृष्टव्य है कि वहाँ कवि ने प्रचलित उपमानों और अलंकारपूर्ण उक्तियों का प्रयोग किये बिना ही नायिका के सौन्दर्य का अत्यन्त स्वच्छता, सूक्ष्मता और स्वाभाविकता से चित्रित कर दिया है।

इन कवियों की सौन्दर्य दृष्टि मे सर्वत्र सुरुचि का ही समन्वय मिलता है। यही कारण है कि अश्लील, नग्न एवं स्थूल शारीरिक चित्रण इनके काव्य में नही मिलते। फिर भी आलम इसके अपवाद है! उनके आलमकेलि में कही-कहीं शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण अत्यन्त कामोत्तेजक रूप में हुआ है।

(ख) आश्रय की अनुभूतियाँ—इन कवियों के शृंगार चित्रण में प्रणय गाथा का ही वर्णन है। वह प्रणय गाथा अन्य शृंगारी कवियों की सुहागरात से आरम्भ होने वाली किसी नववधू की कहानी से अथवा दूतिकाओं के सहयोग से संकेत स्थलों पर आयोजित होने वाली काम-क्रीड़ाओं से सर्वथा भिन्न है। उनके प्रेम का आरम्भ किसी बाह्य चेष्टा या किसी विशेष आयोजन के फलस्वरूप नही होता, अपितु उनके जीवन में स्वतः ही किसी ऐसी दुर्भाग्य की वेला का प्रवेश होता है जिससे वे किसी सुभान या सुजान के सौन्दर्य पर अज्ञात रूप में मुग्ध हो जाते हैं। उन्हें इस दुर्घटना का पता तब चलता है जबकि उनका हृदय कुछ उद्विग्न सा, मस्तिष्क कुछ चंचल सा और जीवन कुछ सूना सा प्रतीत होने लगता है। प्रेयसी के मिलन के लिये उनकी विकलता क्षण प्रति क्षण बढ़ने लगती है। उस समय वे अनुभव करते हैं :—

कबहूँ मिलिबौ, कबहूँ मिलिबौ, यह धीरज ही में धरैबौ करैं।
उर तैं कढ़ि आवैं गरैं तैं फिरैं, मन की मनही में सिरैबौ करैं॥
कवि बोधा न चाव सरी कबहूँ नितही हरवा सौ हिरैबौ करैं।
सहतेई बने कहते न बनैं, मन ही मन पीर पिरैबौ करैं॥

यहाँ मिलनाकांक्षा का चित्रण अत्यन्त ही वेदनापूर्ण शब्दों में किया गया है। ऐसा लगता है, मानो प्रेमी का हृदय भीतर ही भीतर प्रेम की आँच में जल रहा हैं, किन्तु वह उसका धुआँ बाहर प्रकट नही होने देना चाहता।

प्रेम की विवशता और दृढ़ता—इसके अनन्तर प्रेम-मार्गियों के जीवन में वह अवस्था आती है जबकि उनके हृदय की गुप्तनिधि से सारा संसार परिचित हो जाता है और वह निन्दा, बुराई और भर्त्सना में लीन होकर उन्हे तरह-तरह के कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न करता है, पर प्रेम मार्ग के दृढ़ पथिक इससे विचलित नहीं होते। अपनी निन्दा करने वालों को वे स्पष्ट उत्तर देते हैं :—

देखि हमें सब आपुस में जो कुछु मन भावै सोई कहती है।
ए घरहाई लुगाई सबै, निसि द्योस नेवाज हमें दहती हैं॥
बातें चबाई भरी सुनिकैं रिस आवतु पै चुप ह्वै रहती हैं।
कान्ह पियारे तिहारे लिये, सिगरे ब्रज को हँसिबौ सहती है॥

—नेवाज

\+ \+ \+

हम एक कुराह चली तो चली, हटकौ इन्हें ए न कुराह चलैं।
इहि तो बलि आपुनो सूझती हैं, प्रन पालिए सोइ जौ पालैं पलैं॥
कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सौं टेरे कहौं सुनो ऊँचे गलैं।
हमें नीकी लगी सो करी हमने, तुम्हें नीकी लगौ न लगौं तो भलैं॥

—ठाकुर

\+ \+ \+

मिलि गाँव के नाँव धरौ सब ही चहुँधा चौगुनो चाव करौ।
सब भाँति हमें बदनाम करौ कटि कोटिन कोटि कुदाँव करौ॥
हरिचन्द जु जीवन कौ फल पाय चुकीं अब लाख उपाय करौ।
हम सोवत हैं पिय अंक निसंक चबाईने आओ चबाव करौ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

वस्तुतः सच्चे प्रेम में एक ऐसी मस्ती, एक ऐसी निर्भयता तथा एक ऐसे साहस का उद्रेक हो जाता है जिसके बल पर प्रेमी सारे संसार से जूझने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

वियोगानुभूतियाँ—इन कवियों को अपने कंटकाकीर्ण प्रेम मार्ग में संयोग क्रीड़ाओं के लिये स्थान मिलना कठिन था और यदि मिला भी तो वह उनसे शीघ्र ही छिन जाता था। आलम अवश्य एक ऐसे कवि थे जिन्होंने द्रोही हिन्दू समाज को तिलांजलि देकर अपनी प्रणय-लीलाओं के स्थान को सुरक्षित रखा। उनके अतिरिक्त अन्य कवियों में संयोग वर्णन का प्रायः अभाव ही है। इस धारा की मुख्य प्रवृत्ति वियोग-निरूपणात्मक ही है।

स्मृति—विरह के दिनों में सबसे अधिक दुःखदायिनी होती है, प्रिय की स्मृति। प्रेमी चाहने पर भी, यत्न करके भी प्रिय को भुला नहीं पाता। वह स्मृति किस प्रकार हृदय को झकझोर देती है, इसका अनुभव घनानन्द के इन शब्दों में पढ़िये :—

वहै मुसक्यानि वहै मृदु बतरानि, वहै,
लड़कीली बानि आनि उर में अरति है।
वहै गति लैन, औ बजावनि ललित नैन,
वहै हँसि दैन हियरा तैं न टरति है॥
वहै चतुराई सौ चिताई चाहिबे की छवि,
बहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनन्द निधान प्राण प्रीतम सुजान जू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करति है॥

यह स्मृति भी आश्रय और आलम्बन के प्रेम की प्रकृति के अनुरूप ही स्वरूप धारण करती है। मेघदूत के यक्ष को सदा प्रिया के अंग विशेषों की पृथुलता एवं उसके साथ बिताई हुई रात्रियों की ही स्मृति सदा बेचैन बनाये रखती थी। इसीलिये वे सरिताओं की मस्ती एवं लताओं की प्रफुल्लता में ही अपने मन को रमाने का प्रयत्न किया करते थे। इन कवियों की स्मृति प्रेममयी है। उन्हें प्रिया के स्थूल अंगों की अपेक्षा उसकी सूक्ष्म चेष्टाओं की याद अधिक विह्वल करती है।

चिन्तन—हमारे काव्य-शास्त्रियों ने विरह की दश दशाओं का निरूपण करते हुए स्मृति, गुण-कथन, चिन्ता आदि का उल्लेख किया है। यद्यपि इन स्वच्छन्द प्रेमियों ने शास्त्रीय विवेचन को ध्यान में रखकर काव्य रचना नहीं की किन्तु फिर भी विरह की सभी दशाओं का चित्रण इनकी रचनाओं में स्वाभाविकता से हो गया है। यहाँ चिन्तन का एक उदाहरण देखिये :—

तब तो छवि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित पोष के तोष सु प्रान बिललात महादुख दोष भरे॥
घन आनन्द मीत सुजान बिना सब सुख साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे, अब आनि के बीच पहार परे॥

यहाँ अतीत की सुखपूर्ण अवस्था से वर्तमान की शोकावस्था की तुलना अत्यन्त मार्मिक शब्दों मे की गई है। वस्तुतः इन कवियो का विरह सम्बन्धी प्रत्येक छन्द वेदना से परिपूर्ण है, आलोचक के सामने यह समस्या बन जाती है कि वह इन छन्दों में से किसको उद्धृत करे और किसको छोड़े, यहाँ कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

उन्ही के सनेहन सानी रहै,
उनही के जु नेह दीवानी रहै।
उन्ही की सुनें न औ बैन त्यों सैन,
सो चैन अनेकन ठानी रहै॥
+ + +
उनही बिन ज्यों जल मीन ह्वै मीन सी,
आँखि मेरी अंसुवानी रहे।

—रसखान

अंतर हौ किधों अंत रहो, दृग फारि फिरौ कि अभागिनि भीरौं।
आगि जरौ अकि पानि परौं, अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं॥
जो घनआनन्द ऐसी रुची, तौ कहा बस है अहाँ प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें, धरनी मे धंसौ कि अकासहि चीरौं॥

—घनानन्द

हम कौन उपाय करें इनको हरिचन्द महाहठ ठानती है।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

उपालम्भ—वेदना की इस दाहक अनुभूति से पीड़ित होकर प्रेमी जन प्रिय को उपालम्भ भी देने लगते है। इन कवियों के कुछ उपालम्भपूर्ण छंद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :—

कित कौ ढरिगौ वह ढार अहौ जिहि मो तन आँखिन ढोरत हे।
अरसानि गही उहि बानि कछू सरसानि सो आनि निहोरत हे॥
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनो, तब यों सब भाँतिन भोरत हे।
मन माँहि जौ तोरन ही, तो कहौ बिसवासी सनेह क्यों जोरत हे॥

—घनानन्द

कित को दुरिगो वह प्यार सबे क्यों रुखाई नई यह साजत हौ।
हरि चन्द भयै हौ कहा के कहा अनबोलिबै ते नहिं छाजत हौ॥
नित कौ मिलनौ तौ दूर रह्यौ, मुख देखत ही दुरि भाजत हौ।
पहिले अपनाय बढ़ाय के नेह न रूसिबे मैं अब लाजत हौ॥

—भारतेन्दु

इन उपालम्भों में हृदय के अनेक संचारी भावों—दैन्यता, अनुराग, रोष, अमर्ष, विषाद, पश्चात्ताप आदि—का मिश्रण अनायास ही हो गया है।

संदेश—विरही जनों के संदेश को लेकर भी अनेक शृंगारी कवियों ने 'मेघदूत' 'सन्देश-रासक' जैसे काव्यों की रचना की है। वियोग की अन्य परिस्थितियों का पता लगाना कठिन हो जाता है किन्तु सन्देश देते समय उसकी वाणी मुखर हो जाती है, उसके हृदय की अनुभूतियाँ स्पष्ट रूप में व्यक्त हो जाती हैं। देखिये :—

व्याकुल हौं तड़पौं बिनु पीतम कोऊ हौ नैकु दया उर लाओ।
प्यासी तजौं तन रूप-सुधा, बिनु पापिन पी को पपीहे पिआओ॥
जीउ में हौस कहूँ रहि जाय न हा हरिचन्द कोऊ उठि धाओ।
आवै न आवै पियारो अरे कोऊ हाल तो जाइके मेरो सुनाओ॥

संदेशवाहक के प्रति दैन्यता और कृतज्ञता से ओत-प्रोत हो जाना भी वियोगियों के लिये स्वाभाविक है। किसी और संदेशवाहक के न मिलने पर वे प्रकृति की सहायता से संदेश भेजने की कल्पना करने लगते हैं। कहीं वे बादलों से अपने आँसुओं को प्रिय के आँगन सें बरसाने की प्रार्थना करते हैं तो कहीं पवन से प्रियतम के पैरों की धूलि ला देने की दीन-याचना करते हुए कहते हैं :—

एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन, बीरी
तो सो और कौन, मनै ढरकौंही बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सों समान घन,
आनन्द निधान, सुखदान दुखियान दै॥
जान उजियारे, गुन भोर अन्त मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठी पहिचान दै।
बिरह बिथा की मूरि, आँखिन में राखौ पूरि,
धूरि तिन पायन की हा ! हा ! नैकु आनि दै॥

यह तो हुआ संदेश ले जाने वाले के प्रति दैन्य-प्रदर्शन ! पर संदेश लेकर आने वाले व्यक्ति के प्रति तो वियोगी का रोम-रोम कृतज्ञ हो उठता है। ऐसे पथिक के कदम-कदम पर वह अपने प्राणों को न्यौछावर करने के लिये सहर्ष प्रस्तुत हो जाता है। उसका हृदय प्रिय का सन्देश सुनने के लिये किस प्रकार आतुर हो उठता है, इसका चित्रण घनानन्द ने अत्यन्त मार्मिकता से किया है :—

जहाँ ते पधारे, मेरे नैननि ही पाँव धारे,
बारे ये बिचारे प्रान, पैंड-पैंड पै मनो।
आतुर न होहु हाहा नैकु फैंट छोरि बैठौ,
मोहि वा बिसासी को है व्योरो बूझिबे घनौ।
हाय निरदई कों हमारी सुधि कैसें आई,
कौन बिधि दीनी पाती दीन जाति कें भनौ॥

यहाँ प्रेमिका ने एक ही श्वास में इतनी बातें कहदीं हैं, जिनका उत्तर देना संदेशवाहक के लिये संभव नहीं। इन पंक्तियों में संदेश-प्राप्ति का उल्लास और हर्ष, प्रिय के पूरे समाचार जानने का औत्सुक्य, और प्रिय की विगत उदासीनता—संदेश न भेजने की निष्ठुरता के प्रति रोष—ये सारे भाव एक ही साथ सफलतापूर्वक व्यंजित किये गये हैं।

अनिर्वचनीयता—स्मृति, गुण-कथन, चिन्तन, उपालंभ, संदेश के द्वारा हमें प्रिय-वियुक्त जनों की वेदना का थोड़ा परिचय मिल जाता है, किन्तु फिर भी उनकी अनुभूतियों का एक बड़ा भारी अंश तो अव्यक्त ही रह जाता है, प्रेम दीवानी मीरा के शब्दों मे वह तो घायल की पीड़ा है जो घायल ही समझ सकता है। इसी लिये प्रणय-वेदना की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में इन कवियों ने लिखा है :—

कहिबे को विथा, सुनिवे को हँसी, को दया सुनि के उर आनतु है।
अरु पीर घटे तजि धीर सखि ! दुःख को नहीं का पै बखानतु है॥
कवि बोधा कहे में स्वाद कहा; को हमारी कही पुनि मानतु है।
हमें पूरी लगी के अधूरी लगी, यह जीव हमारोई जानतु है॥

सचमुच विरह-वेदना से त्रस्त प्राणों का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वे संसार की सहानुभूतियों से भी वंचित हो जाते हैं। इनकी प्रणय-पीड़ा से अपरिचित लोगों को ये पागल प्रतीत हों तो आश्चर्य ही क्या। वे यदि इनसे

दुःख का हाल पूछते भी हैं तो इनका उपहास करने के लिये। इसी लिये तो इन्होंने स्पष्ट कह दिया है :—

का कहिए, किहि सौं कहिए, तन छीजत है, पै न छीजतु है।
—ठाकुर

\+ + +

मारग प्रे म को समुझै हरिचन्द यथारथ होत यथा है।
लाभ कछु न पुकारन में बदनाम ही होन की सारी कथा है॥
जानत है जिय मेरी भली बिधि और उपाय सबै बिरथा है।
बावरे हैं वृज के सगरे मोहिं नाहक पूछत कौन बिथा है॥
—भारतेन्दु

प्रेम का विकास—वस्तुतः इन कवियों ने शृंगार के एक ही पक्ष वियोग को लेकर हृदय की शत-शत भावनापूर्ण झाँकियों का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ किया है। विरहानुभूति से ओत-प्रोत ऐसे वैयक्तिक उद्गार संस्कृत और हिन्दी के समस्त साहित्य में भी ढूँढ़ने पर नहीं मिलेंगे। इन उद्गारों में प्रेम-भावना का ऐसा चरम विकास मिलता है जहाँ एक ओर काम वासना और अहं का सर्वथा विगलन हो जाता है तो दूसरी ओर वेदना की गम्भीरता से देह जड़, हृदय स्तब्ध और वाणी मूक हो जाती है। भारतीय काव्य के इतिहास में विरहोद्गारों का यह भव्य चित्रण एक अपूर्व घटना है। 'मेघदूत' के रचयिता ने विरह-काव्य लिखा था किन्तु वहाँ कवि बाह्य जगत और भौतिक आकर्षण के चित्रण में ही अधिक तन्मय है। उसके कामातुर यक्ष की चंचलता, विकलता एवं आतुरता से इन कवियों की विरह वेदना का कोई साम्य नहीं। विरह को अत्यन्त प्रचण्ड रूप में चित्रण करने में कादम्बरीकार सर्वोच्च है, किन्तु उनके पात्र प्रेमाग्नि के प्रथम स्पर्श में ही प्राण त्याग देते हैं, विरह की आग मे निरन्तर जलते रहने से जो दीर्घ वेदना उत्पन्न होती है, वह उनमें कहाँ !! हाँ, श्याम के विरह में रात-दिन आँसू बहाने वाली सूर की गोपियों की वेदना अवश्य इनसे कुछ साम्य रखती है, पर फिर भी उनकी परिस्थितियों में बहुत भेद है, वे अकेली नहीं है, बहुत सी हैं—अतः एक दूसरी को देखकर, एक दूसरी से कह कर अपनी व्यथा का भार हलका कर सकती हैं। दूसरे उनका आलम्बन सारे गोकुल को बचाने वाले गिरधारी हैं, अतः समाज से भी उन्हें सहानुभूति प्राप्त है, पर विधर्मी आलम्बन को हृदय दे बैठने वाले इन भोले प्रेमियों का इतना सौभाग्य कहाँ। इनस आँसू पोंछना तो दूर रहा

समाज को इनकी भर्त्सना से ही फुरसत नहीं मिलती। इसीलिये तो कहा है—
"कहिबे को विथा, सुनिबे को हँसी, को दया सुनि के उर आनतु है।"

रीतिबद्ध शृंगारी कवियों ने विरह का प्रभाव तो बहुत कुछ दिखाया शरीर की नाप जोख भी बहुत की, पर हृदय की ऐसी स्वाभाविक पुकार उनमें नहीं मिलती। देव में कुछ पंक्तियाँ अवश्य सुन्दर बनी हैं किन्तु अधिकांश कवियों ने नायिका भेद प्राप्ति में ही अपनी कला का कौशल दिखाया है। आगे चलकर छायावादी कवियों ने प्रेम के करुण पक्ष को लिया है किन्तु उनकी अति सूक्ष्मता, अति प्रतीकात्मकता और अति दार्शनिकता के कारण उनके स्वर को स्पष्ट रूप में समझना ही कठिन है। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि विरह-वेदना की अभिव्यक्ति में रीति-मुक्त काव्य धारा के कवि अद्वितीय हैं। इनके काव्य के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसमें सच्चे कवियों की सच्ची प्रेमानुभूतियों का सच्चा चित्रण है।

हिन्दी-शृंगार परम्पराओं का विश्लेषण

प्रेम के विभिन्न स्वरूपों की दृष्टि से हिन्दी काव्य-परम्पराओं (१९वीं शताब्दी तक की) का अध्ययन व विश्लेषण करने पर हमें शृंगार के वे सभी स्वरूप उपलब्ध हो जाते हैं जो पूर्ववर्ती भारतीय शृंगार-परम्पराओं में मिलते हैं। हिन्दी की मैथिली-गीति-परम्परा और कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा में **रसिकता-प्रधान शृंगार,** प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा में **संघर्ष-पूर्ण-शृंगार,** रीतिबद्ध काव्य परम्परा में **परकीयोन्मुख रूढ़िबद्ध शृंगार** और रीति-मुक्त काव्य-परम्परा में **स्वच्छन्द शृंगार** मिलता है। इसके अतिरिक्त शृंगारोत्तर काव्य-परम्पराओं में से राजस्थानी काव्य, संत-काव्य और राम-काव्य में क्रमशः शृंगार का **शौर्य्य-प्रधान, धार्मिकता समन्वित** एवं **मर्यादा प्रधान** रूप प्राप्त होता है। यह ध्यान रहे कि संस्कृत में परकीयोन्मुख एवं रूढ़िबद्ध शृंगार को अलग-अलग वर्गों में रखा गया था, किन्तु हिन्दी की रीतिबद्ध शृंगार काव्य-परम्परा में इन दोनों रूपों का समन्वय मिलता है, अतः इसे यहाँ एक ही वर्ग में रखना उचित होगा।

(क) पूर्ववर्ती स्वरूपों से तुलना

१—**रसिकता प्रधान शृंगार**—हिन्दी में रसिकता प्रधान शृंगार का चित्रण विद्यापति एवं सूरदास तथा इनके अनुवर्ती कवियों द्वारा हुआ है। संस्कृत और प्राकृत के रसिक नरेशों की ही तरह इनके भी नायक नटवर नागर कृष्ण कन्हैया हैं जो रसिकता में उनकी भाँति ही बढ़े हुए हैं। यदि संस्कृत के नरेश अपने रंग महल में अनेक रानियों के होते हुए भी किसी नव वयस्का की ओर रस-लोलुप दृष्टि से देखे बिना नहीं रहते तो ये ब्रज के कन्हैया भी वृषभानु नन्दिनी में विशेष रूप से अनुरक्त होते हुए भी अन्य गोपकुमारियों एवं गोप पत्नियों से दधि-दान, चीरहरण, रस-क्रीड़ा आदि के मिस छेड़-छाड़ करते हैं। प्रेमिकाओं की प्राप्ति के लिये संस्कृत के रसिक नायकों की भाँति इन्हें भी कोई

संघर्ष नहीं करना पड़ता, इनके रूप में भी वही विमोहिनी शक्ति है कि गोपियाँ प्रथम दृष्टि में ही उसमें अनुरक्त हो जाती हैं। रहा विदूषक के द्वारा सन्देश, आमंत्रण आदि भेजने का कार्य सो वह इनके वेणु-वादन द्वारा संपादित हो जाता है। अस्तु, नायक की रसिकता की दृष्टि से संस्कृत और हिन्दी के इन प्रेम सम्बन्धी रूपों में बहुत कुछ समानता है किन्तु कुछ अन्य दृष्टिकोणों से इनमे वैषम्य भी कम नहीं। संस्कृत की रसिकता प्रधान शृंगार की रचनाओं में नायिकाओं का बाह्यसौन्दर्य तो भली भाँति चित्रित किया गया है किन्तु उनके हृदय की अन्तर्दशाओं की व्यंजना बहुत कम हुई है। दूसरे, उनका व्यक्तित्व मक्खन की भाँति चिकना और मुलायम है जो प्रेम—अपितु कहना चाहिए कि वासना—की प्रथम आँच में ही पिघल जाता है, इसके अनन्तर हम उनमें किसी प्रकार की गति या क्रिया का चिन्ह नही देखते। संयोग और मिलन के लिये जो कुछ प्रयत्न होता है वह नायक के द्वारा ही, इन्हें कोई कष्ट नही करना पड़ता। वे राजकुमारियाँ ठहरीं, करती भी तो कैसे ? किन्तु हिन्दी कवियों की नायिकायें ऐसी नही हैं। विद्यापति की राधा तो ज्येष्ठ के ताप से तप्त, अंगारों के समान दहकते हुए महीतल पर पैर रखती हुई,[1] भादों की भयावनी काली रात्रियों में आँधी, तूफान और वर्षा का सामना करती हुई, घर परिवार और समाज के लोगों के कटु वचनों को सहन करती हुई[2] प्रिय अभिसार के लिये अग्रसर होती है। सूरदास की गोपियों को भी अपने प्रेम के लिये जो कष्ट सहन करना पड़ता है वह कुछ कम नही है। अक्रूर के द्वारा कृष्ण को मथुरा ले जाने का जो क्रूर कार्य हुआ था उसकी चोट से उनका हृदय क्षत-विक्षत हो जाता है और वे रात-दिन आँसू बहाने के लिये विवश हो जाती है। उद्धव ज्ञान की जिस गठरी को लेकर उसके उपचार के लिये आये थे वह भी उनके घावों के लिये नमक ही सिद्ध होता है। नायक-राज मथुरा की क्रान्ति, महाभारत के युद्ध एवं द्वारिका के राज्य-संचालन में निरत होकर उन्हें भूल जाते हैं और वैसे देखा भी जाय तो सत्यभामा, रुक्मिणी जैसी राजकुल की सुशिक्षित पत्नियों के होते हुए इन अहीर कुल की बालाओं को याद रखने की आवश्यकता भी क्या

---

१. तपन के ताप तपत मेल महीतल तातल बालू दहन समाना।

—विद्यापति-पदामृत

२. घर गुरुजन डर न मानब, बचन चूकब नाहिं।

—विद्यापति-पदामृत

थी—किन्तु वे तो अपने जीवन के अंतिम क्षण तक श्याम के विरह में आँसू बहाती रहती हैं। हिन्दी के रसिकता प्रधान शृंगार की परिणति संस्कृत काव्य के विपरीत दुःखान्त में होती है किन्तु इससे कवियों को विरह-वेदना के चित्रण व प्रणय के विकास के लिये पर्याप्त अवसर मिल गया। इसके अतिरिक्त इन कवियों के शृंगार-चित्रण पर उनकी काव्य-शैलियों का भी प्रभाव पड़ा है। संस्कृत प्राकृत के कवियों ने प्रायः रूपक या नाटक माध्यम अपनाया जो प्रेम के विभाव पक्ष के अनुभावों, बाह्य चेष्टाओं एवं क्रिया-व्यापारों के लिये अनुकूल था जबकि हिन्दी कवियों ने उस गीति शैली को चुना जिसमें हृदयस्थ भावों की व्यंजना एवं सूक्ष्म संचारी भावों के चित्रण के लिये अधिक स्थान है। यही कारण है कि हिन्दी-कवियों के इस काव्य में इतिवृत्तात्मकता एवं स्थूल-वर्णन की अपेक्षा सूक्ष्म भाव-व्यंजना को अधिक प्रश्रय मिला है।

२--**संघर्षपूर्ण शृंगार**—जहाँ प्रेमी-प्रेमिकाओं को अपने प्रणय के स्वप्न पूरे करने के लिये प्राणों की भी बाजी लगानी पड़े, ऐसा संघर्ष पूर्ण शृंगार हमें हिन्दी की प्रेमाख्यानक-काव्य परम्परा में मिलता है। यद्यपि मध्य निशा में अभिसार के लिये अग्रसर होने वाली अन्य हिन्दी कवियों की नायिकाओं को कष्ट कम नहीं होता था, किन्तु वह घर से संकेत स्थल तक के मार्ग में व्यतीत कुछ क्षणों का ही होता था, अतः उसे संघर्ष का नाम नहीं दिया जा सकता।

पूर्ववर्ती काव्यों में दिखाये गये संघर्ष के तीन रूपों में से हिन्दी काव्य में केवल एक ही लौकिक परिस्थिति जन्य संघर्ष ही मिलता है। संघर्ष के इस रूप का आरम्भ संस्कृत के दशकुमार चरित से होता है जिसका विकास आगे चलकर प्राकृत के प्रेमाख्यानों—तरंगवती, सुर-सुन्दरी, भुवन सुन्दरी, मलय सुन्दरी आदि में हुआ। हिन्दी के कवियों ने भी इस विकसित स्वरूप को अपनाया जिससे उनकी कई स्थूल एवं सूक्ष्म विशेषतायें इनके काव्यों में मिलती है, जैसे ग्रन्थ का नामकरण नायिका के नाम पर, प्रेम का उद्भव, प्रथम दर्शन से ही पूर्वराग का विकास नायक-नायिका में एक साथ, किन्तु प्रयत्न नायक की ओर से, नायक के मार्ग में मुख्यतः नायिका के संरक्षकों द्वारा व्यवधान, और अन्त में नायक की सफलता और प्रेम की परिणति दाम्पत्य में होना, आदि। इसके अतिरिक्त एक गहरा साम्य यह मिलता है कि हिन्दी कवियों ने भी प्राकृत व अपभ्रंश के जैन कवियों की ही भाँति अपने इन प्रेम कथानकों को दार्शनिक रूपकों, धार्मिक सिद्धान्तों एवं नीति के उपदेशों से समन्वित किया है।

प्रेम के विकास की दृष्टि से हिन्दी कवियों को पूर्ववती कवियों से अधिक सफलता मिली है। संस्कृत-प्राकृत काव्यों में कल्पना का अंश इतना अधिक है कि उनकी घटनायें कई बार अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं जैसे कादम्बरी में नायक का दो तीन जन्मों के अनन्तर नायिका, या दशकुमार-के चरित के नायकों का पाताल लोक में पहुँच जाना आदि। दूसरे, संस्कृत प्राकृत के कवियों ने विरह दशाओं के चित्रण में प्रायः वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है, जब कि हिन्दी कवियों ने विरहानुभूतियों की व्यंजना पात्रों की उक्तियों के माध्यम से की है जो अधिक प्रभावोत्पादक एवं मार्मिक हैं। तीसरे, पूर्ववर्ती कवियों में कुछ ने अपनी गद्य शैली में पांडित्य प्रदर्शन की ओर अधिक ध्यान दिया है जबकि इन्होंने पद्यबद्ध शैली में भाव व्यंजना की चेष्टा की है। अस्तु हम कहते हैं कि इस क्षेत्र में हिन्दी कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों से अधिक सफलता प्राप्त की है।

३—**परकीयोन्मुख रूढ़िबद्ध शृंगार**—जैसा कि पीछे निर्देश किया गया है हिन्दी के रीतिबद्ध शृंगार परम्परा के कवियों ने संस्कृत, प्राकृत के शृंगार के परकीयोन्मुख एवं रूढ़िबद्ध दोनों रूपों की विशेषताओं का समन्वय अपने काव्य में किया है। एक ओर उन्होंने परकीया में अनुरक्त नायक के चित्रण में, विवश और असहाय पत्नी की विभिन्न भावदशाओं के उद्घाटन में और प्रेमी-प्रेमिकाओं के जीवन सम्बन्धी विभिन्न दृश्यों के आयोजन में गाथासप्तशती, वज्जालग्ग, अमरुशतक आदि के रचयिताओं का अनुसरण किया है तो दूसरी ओर कृष्ण और गोपियों को नायक-नायिका के पद पर प्रतिष्ठित करने में शृंगारिकता पर धर्म का आवरण डालने में और काम-शास्त्र व काव्य-शास्त्र की रूढ़ियों (नायिका-भेद आदि) के प्रयोग करने में वे जयदेव की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। इस प्रकार विषय-वस्तु एवं शैली सम्बन्धी अनेक विशेषताओं की दृष्टि से ये कवि संस्कृत-प्राकृत के कवियों के ऋणी हैं, किन्तु उन्होंने उस ऋण का उपयोग इस प्रकार किया कि वह अपने मूल से कई गुना अधिक बढ़ गया है। दाम्पत्य जीवन के दृश्य इन्होंने अमरुक आदि से उधार लिये थे वे इनके काव्य में अधिक विस्तृत, अधिक स्पष्ट एवं अधिक आकर्षक रूप में उपस्थित हैं। प्राकृत एवं संस्कृत के मुक्तक काव्य के रचयिताओं ने प्रायः एक छन्द में अनेक परिस्थितियों के बीच नायिका की एक भाव दशा का चित्रण किया है जबकि इन कवियों ने उसकी एक परिस्थिति की अनेक भावदशाओं की व्यंजना एक साथ की है। फलस्वरूप पूर्ववर्ती कवियों के श्लोकों में इतिवृतात्मकता का

अंश अधिक है जबकि इन कवियों के कवित्त-सवैयों में भावात्मकता का प्राधान्य है। जयदेव की जिन विशेषताओं को इन्होंने ग्रहण किया वे भी इनके काव्य में अधिक विकसित रूप में मिलती हैं। यह ठीक है इससे उनका भाव क्षेत्र अधिक से अधिक रूढ़ि की सीमा में आबद्ध हो गया किन्तु जहाँ रुढ़ि की संकीर्ण पटरियों पर ही दौड़ लगाकर अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करने की बात है, हिन्दी कवियों की यह कविता-कामिनी पूर्ववर्ती कवियों की सभी रचना-बालाओं को पीछे छोड़ जाती है। जयदेव की तरह 'रोदति विलपति वासक सज्जा'—'कलहान्तरितामुवाच' आदि शब्दों मे इन्हें अपनी नायिकाओं का परिचय देने की आवश्यकता नही पड़ती, उनका स्वरूप, उनकी चेष्टायें, उनकी मुद्रा और उनके गुप्त संकेत बिना कहे ही बता देते हैं कि वे लज्जा विभोर मुग्धायें हैं या वचन विदग्धा प्रौढ़ायें अथवा कोई और। नायिका भेद की शैली को अपनाना ठीक था या नहीं, इस प्रश्न को भूलकर यदि हम यह पूछें कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश या हिन्दी अथवा संसार की विभिन्न भाषाओं के साहित्य मे प्रेमिका के सर्वाधिक रूपों, भेदों एवं अवस्थाओं का निरूपण किसने किया है तो इसके उत्तर में हिन्दी के इन कवियों का ही नाम लेना होगा।

४—**स्वच्छन्द शृंगार**—शृंगार का यह रूप वैदिक साहित्य के केवल दो आख्यानों में अविकसित रूप में मिलता है जबकि हिन्दी के रीतिमुक्त शृंगार-काव्य में इसका पर्याप्त विकास हुआ है। हिन्दी के इन कवियों ने प्रेम के क्षेत्र में सामाजिक मर्यादाओं की उपेक्षा की है तथा इन्हें भी अन्त में पुरुरवा के समान असफलता और निराशा का सामना करना पड़ता है, किन्तु फिर भी दोनों की स्थिति में अन्तर है। जहाँ पुरुरवा-उर्वशी के समाज में विवाह प्रथा का प्रचार न होने के कारण ही वे इस नियंत्रण से मुक्त रहते हैं जबकि घनानन्द आदि के समाज में विवाह प्रथा का प्रचलन तो है पर समाज का विरोध होने के कारण वे इस सुयोग को प्राप्त नही कर सकते। दूसरे वैदिक साहित्य की उर्वशी (कालिदास की नही) अपनी इच्छा से प्रेमी को त्याग कर चली जाती है जबकि हिन्दी कवियों की सुजान या सुभान परिस्थितियोंवश ही प्रेमियों का साथ नही निभा पाती। यही कारण है कि जहाँ पुरुरवा की विरहोक्तियों में दैन्य, अमर्ष, एवं ग्लानि की अभिव्यक्ति अधिक हुई है वहाँ हिन्दी के इस विरह-काव्य में अनुनय-विनय, उपालम्भ एवं प्रेम का माधुर्य छलकता है। पुरुरवा पर वियोग का दुःख एकाएक वज्रपात की तरह टूटता रहता है जिसे वह सहन करने में अपने आपको असमर्थ पाकर मृत्यु का आलिंगन करना चाहता है, जबकि इन कवियों पर विरह की आग धीरे-

धीरे बढ़ती हुई—इनके हृदय और मस्तिष्क को घेर लेता है ; अतः वे प्रेयसी की स्मृति की मन्द-मन्द आँच में जलते हुए भी जीवित रहना चाहते है। पुरुरवा का विरह अन्त में रौद्र एवं शोक में परिणत हो जाता है जबकि हिन्दी कवि संयोग और वियोग, आशा और निराशा, जीवन और मृत्यु प्रत्येक स्थिति में अपनी प्रेमाकांक्षाओं से परे नहीं हटते। उनके प्रेम में इतनी गम्भीरता आ चुकी थी कि उन्हें अपनी प्रेयसी की निष्ठुरता भी किसी अन्य के शत-शत वरदानों से अधिक प्रतीत होती थी।

५—**शौर्य्य प्रधान शृंगार**—राजस्थानी काव्य-परम्परा में चित्रित शृंगार मे पूर्ववर्ती शौर्य्य प्रधान शृंगार की कुछ विशेषतायें अवशिष्ट हैं। यद्यपि महाभारत के शूरवीरों की तरह रासो-काव्य के नायक सर्वथा उच्छृङ्खल तो नही हैं, किन्तु फिर भी उनका जीवन-दृष्टिकोण लगभग वैसा ही है। किसी सुन्दरी की प्राप्ति के लिये वे सबसे बड़ा साधन अपनी तलवार को, उसकी तुष्टि का सबसे बड़ा साधन अपनी वीरता की प्रसिद्धि को एवं उसके भाग्य का सबसे अधिक उत्कर्ष रानी के रूप में रनिवास-प्रवेश को ही समझते हैं। इसके अतिरिक्त भी प्रेयसी की कोई इच्छा, सम्मान या प्रेम-प्राप्ति की कोई भूख हो सकती है, यहाँ तक सोचने की क्षमता इन योद्धा-नायकों में नहीं है। इनका अहं इतना बढ़ा चढ़ा है कि प्रेयसी की एक उपहासपूर्ण उक्ति भी इनके शृंगार को रौद्र में परिणत कर सकती है, फलतः नारी 'पग की मोचड़ी' (पैर की जूती) के रूप में रहकर ही इनके साथ निर्वाह कर सकती है।

फिर भी राजस्थानी कवियों ने नायक की प्रेम सम्बन्धी वृत्तियों के विकास एवं परिष्कार का प्रयत्न किया है। महाभारत के नायकों की तरह किसी सुन्दरी का नाम सुनते ही उसे उठा लाने का आयोजन वे नहीं करते, अपितु उस सुन्दरी की अनुरक्ति अपने में देखकर ही उसकी ओर अग्रसर होते है। साथ ही संयोग के अनन्तर उनके जीवन में दीर्घ वियोग या किसी ऐसी परिस्थिति का प्रादुर्भाव होता है जिससे उनके प्रेम के परिष्कार में योग मिलता है। इसके अतिरिक्त नायिका की दैन्यता, विवशता एवं विरहानुभूतियों के चित्रण के कारण भी इन कवियों का शृंगार वर्णन महाभारतकार के वर्णन की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक एवं मार्मिक बन गया है।

६—**धार्मिकता समन्वित शृंगार**—हिन्दी के संत कवियों के काव्य में रहस्यवादी अथवा अलौकिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये शृंगार का

चित्रण हुआ है अतः हम इसे धार्मिकता समन्वित शृंगार के अन्तर्गत ले सकते हैं। इससे पूर्व संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में धर्म के साथ शृंगार का समन्वय जैन, बौद्ध व सिद्ध कवियों द्वारा हो चुका था। अपभ्रंश के सिद्ध कवियों और हिन्दी के संत कवियों में गहरा साम्य है। दोनों ही अशिक्षित निम्न वर्ग से सम्बन्धित होने के कारण संस्कृत के ज्ञान से अपरिचित हैं। दोनों ही सांसारिक जीवन को त्याग कर धर्म प्रचारक के रूप में जीवन बिताते हैं, दोनों ही के काव्य मुक्तक गीति शैली मे लिखित है तथा साम्प्रदायिक शब्दावली, रूपकों की जटिलता और भाषा की अव्यवस्था से भूषित हैं। एक ने मुद्रा और योगी के शारीरिक मिलन के रूप में और दूसरे ने आत्मा और परमात्मा की अद्वैतता के रूप में शृंगार रस को स्थान दिया है, किन्तु फिर भी दोनो के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। सिद्ध कवियों का मूल लक्ष्य शृंगारिकता है, अलौकिकता तो इसका आवरण मात्र है, जबकि इसके विपरीत संत कवियों में अलौकिकता ही प्रधान है—लौकिक दाम्पत्य का चित्रण तो उसकी अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। इस दृष्टिकोण भेद के कारण सिद्ध-साहित्य में स्थूल शारीरिक मिलन के चित्र उपलब्ध होते है, विरह और संयोग की उन सूक्ष्म अनुभूतियों का जो कि कबीर के काव्य में मिलती हैं, उनमें अभाव है। दूसरे, सिद्ध योगी उसे अनेक जातियों की अनेक मुद्राओं से सेवन का लक्ष्य रखता है जबकि कबीर की आत्मा अपने परमात्मा से अनन्य भाव से प्रेम करती है। अस्तु, इन दोनों वर्ग के काव्यों के अलौकिक पक्ष को भूलकर भी यदि इनके शृंगार का अध्ययन किया जाय तो सिद्ध साहित्य में चित्रित प्रेम कामुकता के स्तर से ऊँचा उठता प्रतीत नहीं होता, जब कि संत कवियों की भावनायें प्रेम के विशुद्धतम स्वरूप के समीप दिखाई पड़ती हैं। कबीर का दाम्पत्य सम्बन्धी रूपक समाज की मर्यादाओं का अतिक्रमण नहीं करता उसमें परिस्थितियों का आयोजन इतना मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक ढंग से हुआ है कि पाठक लौकिक और अलौकिक का भेद भूल जाता है जबकि सिद्ध-साहित्य आदि से अन्त तक अस्वाभाविक एवं समाज विरोधी उक्तियों से परिपूर्ण है।

७—**मर्यादा प्रधान शृंगार**—रामभक्त तुलसी द्वारा चित्रित शृंगार, उत्तर-वैदिक साहित्य एवं बाल्मीकीय रामायण के मर्यादित प्रेम की परम्परा में आता है। पूर्व परम्परा के अनुरूप ही तुलसी ने प्रेम पर सामाजिक, नैतिक एवं राष्ट्रीय मर्यादाओं एवं नियमों का नियंत्रण स्वीकार किया है। जहाँ उनकी सीता पूर्णतः पातिव्रत्य से ओत-प्रोत हैं, उनके राम भी एक पत्नीव्रत का

पालन करते हुए रावण की श्वसा शूर्पणखाँ के अनुपम सौन्दर्य एवं मधुर प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं। बाल्मीकि की भाँति तुलसी भी वैयक्तिक प्रेम से सामाजिक कर्तव्य को ऊँचा स्थान देते हैं, इसीलिये वे भी रावण की मृत्यु के अनन्तर सीता को ग्रहण करने से पूर्व उसे दुर्वचन कहते हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी तुलसी में शृंगारिकता का उन्मेष बाल्मीकि से अधिक है। पुष्प वाटिका प्रसंग बाल्मीकि रामायण में नही मिलता, तुलसी के द्वारा उसकी उद्भावना एवं उसमें प्रथम दर्शन जन्य प्रेम का सरस चित्रण हमारे कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करेगा। दूसरे, सारी रामायण में बाल्मीकि सीता के सौन्दर्य का चित्रण नहीं करते किन्तु तुलसी उसके सौन्दर्य, और उसकी मधुर चेष्टाओं पर कई बार प्रकाश डालते है। तीसरे, उन्होंने राम और सीता के विरह की व्यंजना बाल्मीकि से अधिक प्रभावशाली शब्दों में की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सीता बनवास की उस घटना को—जो राम के दाम्पत्य जीवन के एक अत्यन्त निराशापूर्ण अंग को उपस्थित करती थी, उत्तर काण्ड से निकाल दी है अस्तु सब कुछ मिलाकर कह सकते है कि तुलसी का शृंगार मर्यादित है, नियंत्रित है पर फिर भी वह जीवित है जबकि बाल्मीकीय रामायण में तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

(ख) सामाजिक दृष्टिकोण से विश्लेषण

हिन्दी काव्य में चित्रित शृंगार के उपर्युक्त विभिन्न स्वरूपों में से मैथिली काव्य एवं कृष्ण भक्ति काव्य के रसिकता प्रधान शृंगार का स्थूल रूप में तत्कालीन समाज की वास्तविक स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उनके नायक-नायिकाओं की प्रणय लीला या तो ऐतिहासिक कृष्ण के युग से सम्बन्ध रखती है अथवा भागवतकार जैसे पूर्ववर्ती कवियों की कल्पना पर आश्रित है, फिर भी सूक्ष्म रूप में वह अपने युग और समाज की प्रवृत्तियों से प्रभावित है। विद्यापति और सूर के काव्य में प्रेम के आगे धार्मिक मर्यादाओं एवं शास्त्रीय ज्ञान की हेयता सिद्ध करने वाली अनेक उक्तियाँ मिलती हैं,[1] जिनसे सिद्ध होता है कि तल्कालीन समाज के दृष्टिकोण में पूर्ववर्ती धर्म सम्प्रदायों एवं

---

१. विद्यापति—कुलवति धरम काँच समतूल
एहि संसार सार बथु एक, तिला एक संगम जाब जिब नेह॥
कठिन हिरदय भेदि न मेले, जाओ रसातत लाज।
सूरदास की उक्तियों के लिये भ्रमर गीत देखिये।

भक्ति आन्दोलनों के कारण कितना परिवर्तन आ गया था। दूसरे, विद्यापति और सूर की राधा उनके अपने युग की देन है क्योंकि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में तो उसके अस्तित्व का आभास मात्र मिलता है, उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र सम्बन्धी अनेक विशिष्टताओं का संघटन भक्ति युग की विचार-धारा, भाव भूमि, एवं सामाजिक रीति व्यवहार के आधार पर हुआ है अतः तत्कालीन समाज की अनेक प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब राधा के चित्रण में देख सकते है। बारहवीं शताब्दी के अनन्तर भारतीय समाज में बाल-विवाह का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि उसमें विवाह पूर्व स्वस्थ, नैतिक एवं समाज अनुमोदित प्रेम के लिये स्थान ही नही रह गया था, अतः दाम्पत्य जीवन के क्षेत्र से बाहर नायक उपपति के रूप में और नायिका परकीया के रूप मे ही प्रेम कर सकती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि विद्यापति और सूर के समाज मे दाम्पत्येतर प्रेम व्यभिचार के रूप मे ही जीवित था, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण राधा और कृष्ण के प्रणय-विकास मे देखा जा सकता है। युवा कृष्ण या युवती राधा का अभी किसी से विवाह नही हुआ, एक ही जाति, एक ही व्यवसाय और एक ही गॉव वासी होने के कारण वे अपने प्रेम का विकास अधिक स्वतन्त्रता से कर सकते थे, जबकि 'सूर-सागर' मे वे कभी घर के पिछले एकान्त भाग में, कभी गोओं के बाड़े (खटिक) में और तभी अन्यत्र घर वालो से कपट कर के ही मिल पाते है ? ऐसा क्यो ? क्या यशोदा या नन्द यह जानकर कि हमारे कृष्ण की राधा में विशेष अनुरक्ति है प्रणय-विकास में बाधा उपस्थित करते ? संभवतः सूरदास के युग का माता पिता अवश्य ही ऐसा करता। यही कारण है कि सूरदास की कल्पना दो अविवाहित युवा साथियों के प्रणय-दृश्यों के आयोजन के लिये भी अपने समाज की व्यभिचार सम्बन्धी प्रवृत्तियों से ही सामग्री ग्रहण करती है।

दूसरे, उस युग में हमारा समाज विवाह सम्बन्धी रूढ़ियों से इतना ग्रस्त हो गया था कि उसमे प्रणय जन्य विवाह की कल्पना नहीं की जा सकती थी, अन्यथा राधा के जीवन चरित के सम्बन्ध में जहाँ और बहुत सी मौलिक घटनाओं की कल्पना की गई वहाँ कृष्ण और राधा के विवाह की घटना भी कल्पित हो सकती थी, पर ऐसा करने का साहस कृष्ण भक्त कवियों को नहीं हुआ।

तीसरे, उनके युग की नारी कितनी परतंत्र, विवश और भीरु है, यह इससे सिद्ध होता है कि कृष्ण के वियोग में रात दिन आँसू बहाने वाली अनेक

ब्रज-वासिनी गोपियों में से एक भी ऐसी नहीं जो अपने प्रिय के दर्शनों के लिये १०–१२ मील की यात्रा करने की बात सोच सके। आचार्य शुक्लजी ने इसके लिये सूर को दोष दिया है पर हम कहते है वह युग ही ऐसा था जिसमें नारी के लिये गाँव से बाहर अकेली जाने की बात सोच सकना संभव नही था।

इसी प्रकार कबीर के दाम्पत्य सम्बन्धी रूपकों में आज से ५–६ शताब्दियों पूर्व के विवाहित जीवन के वास्तविक दृश्यों का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। मध्यकालीन भारतीय समाज में संयुक्त परिवार-व्यवस्था के कारण दाम्पत्य जीवन का भी एक विशेष रूप था, एक ओर नव-दम्पत्तियों के प्रथम मिलन का आयोजन घर की युवा स्त्रियों द्वारा बड़े चाव से होता था, दूसरी ओर पति-पत्नी को इस बात का भी पूरा ध्यान रखता पड़ता था कि उनकी बातचीत, छेड़छाड़ आदि इतने धीमे स्वर मे हो कि उनकी भनक घर के बड़े बुड्ढों के कान में न पड़े। मध्यकालीन परिवार व्यवस्था में दाम्पत्य जीवन इतना अधिक नियंत्रित था कि घर के अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति मे पति-पत्नी का परस्पर संभाषण करना भी अन्यन्त अशोभनीय माना जाता था। रीतिबद्ध कवियों द्वारा चित्रित कुछ दृश्य भी इसी गार्हस्थ्य जीवन के कुछ अन्य अंगों पर प्रकाश डालते हैं। मति राम का नायक अपनी दुलहिन की एक झलक प्यास लगने का बहाना करके ही देख पाता है।[1] मध्यकालीन जीवन की यह व्यवस्था अब भी कई परिवारों में शेष है।

मध्यकालीन सामन्तवर्गीय समाज के अंतरंग जीवन का परिचय हमें शौर्य्य प्रधान शृंगार से मिलता है। समाज के अन्य वर्गों मे नारी की अवस्था इतनी गर्हित नहीं हुई थी जितनी कि सत्ताधारी सामन्तवर्ग मे हुई थी। एक तो सामन्तवादी वर्ग में बहु-विवाह का प्रचार था, दूसरे इनके यहाँ नारी को किसी प्रकार का घरेलू कार्य या कोई अन्य श्रम नही करने दिया जाता था।

---

१. **केलि के राति अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।**
प्यास लगी कोउ पानी दे जाइयौ भीतर बैठि के बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही, हँसी हेरि हरें मति राम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्हो सुगेह की देहरि पै धरि आई॥

—मतिराम

चतुर्थ खण्ड

महाकवि बिहारी और शृङ्गार रस

गुलाब की पंखुड़ियों के स्पर्श से ही उनकी नायिका के खरोंच आने की आशंका व्यक्त की गई है[1] दूसरे मे फूल की कलियों के स्पर्श से उसके पैरों में छाले पड़ने का वर्णन है।[2] इस अति कोमलता के कारण वस्त्राभूषणों की तो बात ही क्या, सौन्दर्य के भार को भी वहन करने में वह असमर्थ होती है।

भूषण भारु संभारि है, क्यो इहि तन सुकुमार।
सूधे पाँय न धर परैं सोभा ही के भार॥

—३२२

(ग) विरह का ऊहात्मक वर्णन

फारसी काव्य की भाँति बिहारी सतसई में भी विरह वेदना का चित्रण अत्यन्त ऊहात्मक ढंग से मिलता है :—

इत आवति चलि जाति उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ॥

—३१७

सुनत पथिक मुँह माह निसि चलति लुवै उहिं गाम।
बिनु बूझैं बिनु ही कहै जियति बिचारी बाम॥

—२८५

(घ) मद्य-पान का वर्णन

यद्यपि भारतीय जीवन में मद्य का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से ही मिलता है किन्तु हिन्दी काव्य में इसका वर्णन बिहारी के पूर्व नगण्य सा है। सतसई के दोहा संख्या १७९–१८०–३६८–३८७–५३८–६५० में मद्यपान का वर्णन मिलता है।

(ङ) प्रेम के क्षेत्र में परलोक की उपेक्षा

प्रेम के लिए दौजख की आग को भी स्वीकार करना फारसी काव्य के क्षेत्र में प्रसिद्ध है। बिहारी ने भी ऐसा किया है :—

---

१. **मैं बरजी कै बार तूं इत कित लेति करौंट।**
पंखुरी लगें गुलाब की परि है गात खरौंट॥ —२५६

२. **छाले परिबे के डरनु सकै न हाथ छुवाइ।**
झझकत हियें गुलाब कैं झंवा झंवैयत पाइ॥ —४८३

जौ न जुगति पिय मिलन की, धूरि मुकति मुँह दीन।
जौ लहियै संग सजन तौ धरक नरक हूँ कीन॥

—७५

क्या ये प्रवृत्तियाँ अभारतीय हैं ?—साधारणतः उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ फारसी प्रभाव की द्योतक कही जाती हैं अतः इन्हें विदेशी मेल की संज्ञा भी दी गई है परन्तु वास्तविकता यह है कि इन प्रवृत्तियों में से अधिकांश संस्कृत साहित्य मे भी मिलती हैं। सौन्दर्य के संहारक प्रभाव की व्यंजना संस्कृत के भवभूति, दण्डी, बाण, श्री हर्ष, भर्तृहरि आदि कवियो ने की है : कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(क) हाय ! उसकी चितवन ने मेरे इस अभागे हृदय को चुरा लिया, तोड़ दिया, पी लिया, उखाड़ लिया और फिर उसे अपने साथ ले गई।

(मालती माधव—भवभूति १।२६)

(ख) उसने बार-बार गर्दन पीछे घुमा कर अपने कमलसदृश मुख पर स्थित नेत्रों से देखा—उसके अमृत और विष से बुझे कटाक्षों ने मेरे हृदय को बेध डाला ! (वही)

(ग) भर्तृहरि ने उरोजों की दुर्गमघाटियों में सौन्दर्य रूपी ठग द्वारा मन पथिक के लूटे जाने का वर्णन किया है—

कामिनी काय कान्तारे, कुछ पर्वत दुर्गमे ।
मा संचर मनः पान्थ तत्रास्ते स्मर तस्करः॥

—शृं० श० ८५

प्रिय के समक्ष स्वर्ग को तुच्छ बताने की प्रवृत्ति भी संस्कृत के मुक्तक काव्य-रचयिताओं में मिलती है। अमरुक लिखते हैं :—"वास्तविक अमृत तो कोप पूर्वक सीत्कार करती हुई प्रिया के चुम्बन में है, मूर्ख देवताओं ने तो व्यर्थ ही समुद्र का मंथन किया[1]।" भर्तृहरि भी प्रियतमा के सान्निध्य को स्वर्ग-तुल्य ही घोषित करते हैं।[2] विरह का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भवभूति, बाण और श्री हर्ष ने किया है। बाण ने तो अपनी 'कादम्बरी' मे विरह के कारण मृत्यु तक हो जाना भी दिखाया है। मद्य-पान का वर्णन भी संस्कृत कवियों ने निःसंकोच रूप में किया है, यहाँ माघ के 'शिशुपाल-वध' से एक

---

१. सीत्कारांचित लोचना सरभसंयैश्चुम्बिता मानिनीः प्राप्त तैरमृतं मुधैव मथिता मूढैः सुरैः सागरः॥ —अ० श० ३२

२. वक्षसि प्रियतमा मनोहरा स स्वर्ग एष परिशिष्ट आगतः। —२४

उदाहरण द्रष्टव्य है—"अत्यधिक उत्कट मद ने मुग्धा नायिका में हाव भाव से मनोहर हंसी, वचनों के कौशल, आँखों में विकार आदि उत्पन्न कर दिये हैं। जब शराब के नशे में मुग्धा नायिकाओं की यह दशा हो रही थी तो फिर मद-मस्त प्रौढ़ा नायिकाओं की तो बात ही क्या।"[1]

अस्तु, उपर्युक्त प्रवृत्तियों को अभारतीय बताना उचित नही है। बहुत कुछ संभव है कि बिहारी ने इन प्रवृत्तियों का विकास पूर्ववर्ती संस्कृत कवियों के काव्य के आधार पर ही किया हो। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि फारसी काव्यों मे चित्रित शृंगार से बिहारी में अनेक भेद मिलते हैं—

१—प्रिय की प्राप्ति के लिए फारसी काव्यों के नायक अनेक कष्टपूर्ण प्रयत्न करते हे तथा वे साहस, त्याग और बलिदान का परिचय देते है, बिहारी में इसका अभाव है।

२—फारसी काव्य मे प्रेम का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसके नायक-नायिका प्रेम में विह्वल होकर पर्वत आदि की खाक छानते फिरते हैं। बिहारी के नायक नायिकाओं का क्षेत्र घर की चार दीवारियों तक सीमित है।

३—फारसी काव्यों मे नायक के विरह का वर्णन हुआ है जबकि बिहारी ने नायिकाओं की वेदना का चित्रण किया है।

४—फारसी काव्य में वियोग पक्ष को प्रधानता मिली है जबकि बिहारी ने संभोग के स्थूल दृश्यों का आयोजन अधिक किया है।

वस्तुत : बिहारी के शृंगार-वर्णन में फारसी काव्य से साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक मिलता है, अतः उनकी असफलता के लिए विदेशी प्रभाव को दोष देना उचित नही। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि विरह आदि के वर्णन में जिस ऊहात्मक शैली का प्रयोग बिहारी ने किया है वह फारसी-काव्य की शैली से भिन्न है। फारसी में विरह की अभिव्यक्ति स्वानुभूति के रूप में होती है जबकि बिहारी ने इस का वर्णन दूसरे की अनुभति के रूप में किया है, जिससे उसकी प्रभावोत्पादिनी शक्ति नष्ट हो गई है। अतः बिहारी की उपर्युक्त प्रवृतियों का मूल स्रोत भारतीय ही है, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि फारसी वातावरण ने उनके पुनरुत्थान मे संभवतः अप्रत्यक्ष रूप से योग दिया होगा।

---

१. हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृ शि विकार विशेषाः।
चक्रिरे मृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेवतरुणेन मदेन॥
—शिशुपाल वध–सर्ग, १०

भारतीय शृङ्गार परम्परा और बिहारी

शृंगार के विभिन्न स्वरूप

विभिन्न सामाजिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर भारतीय साहित्य में चित्रित शृंगार के हमने आठ स्वरूप निश्चित किये थे, जो सभी हिन्दी काव्य में भी मिल जाते है। बिहारी के काव्य में उनमें के ये रूप मिलते हैं : १—परकीयोन्मुख रूढ़िबद्ध शृंगार २—रसिकता प्रधान और ३—स्वच्छन्द शृंगार।

१—परकीयोन्मुख रूढ़िबद्ध शृंगार—संस्कृत साहित्य में परकीयोन्मुख और रूढ़िबद्ध शृंगार भिन्न-भिन्न वर्ग की रचनाओं में मिलता है जबकि हिन्दी के रीति बद्ध शृंगारी काव्य में इन दोनों रूपों का समन्वय एक साथ मिलता है। बिहारी-सतसई में भी दोनों का समन्वित रूप ही मिलता है। जहाँ एक ओर बिहारी ने गाथासप्तशतीकार, अमरुक, और भर्तृहरि जैसे कवियों के परकीयोन्मुख शृंगार की परम्परा का पूर्ण विकास हिन्दी में किया वहाँ दूसरी और उन्होंने रीति-बद्ध कवियों के मिश्रित शृंगार के सभी तत्वों—नख-शिख-वर्णन, नायिका-भेद-निरूपण, षट्ऋतु-वर्णन आदि का समावेश किया है। हिन्दी के रीति बद्ध कवियों ने शृंगार के गार्हस्थ्य सम्बन्धी पक्ष का चित्रण तो हाल, अमरुक आदि के तुल्य किया किन्तु उन्होंने उनकी एक प्रमुख प्रवृत्ति को—ग्रन्थ का नामकरण छन्दों की संख्या के आधार पर करना छोड़ दिया था, बिहारी ने इस प्रवृत्ति को भी ग्रहण किया और लुप्त प्रायः सतसई परम्परा को नया जीवन प्रदान किया। भाव और उक्तियों की दृष्टि से भी गाथा-सप्तशतीकार, अमरुक, भर्तृहरि, गोवर्धन आदि का जितना अनुकरण बिहारी ने किया उतना हिन्दी के किसी अन्य कवि द्वारा नहीं हुआ।

बिहारी ने शास्त्रीय लक्षणों की पूर्ति (अथवा रीति-तत्वों के प्रयोग) के निमित्त काव्य रचना की थी या नहीं, यह प्रश्न अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इस सम्बन्ध में मत है—"दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था, इसीलिए हमने बिहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियों में न रख उक्त काल के प्रतिनिधि कवियों में ही

रखा है।"[१] दूसरी ओर आचार्य हजारी प्रसाद जी ने इसका विरोध करते हुए लिखा है—"स्वयं बिहारी भी रीति-ग्रन्थों के अच्छे जानकार रहे, इसमें सन्देह नहीं किन्तु उनके प्रत्येक दोहे में किसी न किसी नायिका को खोज लेना यह नहीं सिद्ध करता कि वे रीति ग्रन्थ लिख रहे थे।"[२] अस्तु इस प्रश्न का यहाँ कुछ विस्तार से विचार करना अपेक्षित होगा।

हिन्दी के रीतिबद्ध कवियों ने शृंगार-वर्णन के लिए मुख्यतः चार साँचों का प्रयोग किया है—(१) नख-शिख वर्णन (२) नायिका-भेद निरूपण (३) रस के विभिन्न अवयवों—हाव, अनुभाव, संचारीभाव, वियोग दशाओं का चित्रण और (४) षट्ऋतु वर्णन। सतसई के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी ने उपर्युक्त सांचों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों का भी निरूपण किया है। सभी अंगों का ऐसा निरूपण अनायास ही नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुत से ऐसे दोहे भी लिखे है जिनमें न भावना का स्फुरण है, न ही काव्य का कोई चमत्कार है, उनकी रचना का उद्देश्य एक मात्र इन अंगों की पूर्ति करने के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। यही नहीं, उन्होंने कई दोहों में एक ही विषय की पुनरावृत्ति रीति के सूक्ष्म-भेदों की पूर्ति के निमित्त की है। जैसे आचार्यों ने मान के आधार पर नायिका के कुछ भेद किये है, लघुमान करने वाली, दीर्घमान करने वाली आदि। इनका निरूपण सतसई में देखिये :—

लघुमान—मौहिं लजावत, निलज ए हुलसि मिलत सब गात।
भानु उदै की ओस लौ **मानु** न जानति जात॥
—५६६

दीर्घमान—विधि विधि कौन करै, टरै नहीं परै हूँ पानु।
चितै कितै तैं लै, धरयौ इतौ इतै तन **मानु**।
—६७५

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि बिहारी ने इन दोहों में **मान** का उल्लेख भी कर दिया है।

---

१. **हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृष्ठ २५१ ;**
२. **हिन्दी-साहित्य, पृ०, ३२५**

अस्तु, इस प्रकार के अनेक उदाहरण सतसई में मिलते हैं, जिनकी चर्चा पीछे प्रसंगानुसार—नखशिख, नायिका भेद, संयोग वर्णन सम्बन्धी अध्यायों में हो चुकी है। वस्तुतः बिहारी सतसई में जैसा कि आचार्य हजारी प्रसादजी कहते है—नायिका के भेदों को खोजना नही पड़ता, वे स्वयं ही पाठक की दृष्टि के सन्मुख उपस्थित होकर अपना परिचय देने लगते हैं। घनानन्द, बोधा, ठाकुर जैसे रीति-मुक्त कवियों के काव्य में नायिकाओं के इतने रूप—उत्कृष्टतम भी और नीचतम भी, तथा उसकी अवस्थाओं के विभिन्न शास्त्रीय भेद प्रयत्न पूर्वक ढूँढने पर भी उपलब्ध नही होते। उनके काव्य में तो सर्वत्र सुजान या सुभान जैसी किसी एक ही प्रेयसी की झलक दिखाई पड़ती है, वह बिहारी की नायिका की भाँति एक क्षण में बाला और दूसरे क्षण में प्रौढ़ा, किसी समय स्वकीया और किसी समय परकीया अथवा कभी लज्जा की साक्षात् मूर्ति और कभी निर्लज्ज-कुलटा का—ऐसे विभिन्न-विरोधी रूप धारण नही करती।

इधर डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस विवाद को शान्त करने के लिए रीतिबद्ध और रीति मुक्त के अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी रीति-सिद्ध की और कल्पना की है[1] तथा बिहारी को इसमें स्थान दिया है। यद्यपि मिश्रजी ने इसका समर्थन बहुत ही उचित तर्कों के आधार पर किया है, किन्तु रीति-सिद्ध नाम ऐसा प्रतीत होता है कि मानों रीति तत्व बिहारी के काव्य में अनायास ही आ गये है, प्रयत्न पूर्वक उनका समावेश नही किया गया जबकि वस्तु स्थिति इसके विपरीत है। बिहारी ने रीति का पुट जान बूझकर दिया है। अतः हम बिहारी के काव्य को रीति-सिद्ध की अपेक्षा रीति-मिश्रित या रीति समन्वित कहना अधिक उचित समझते है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस मत से कि उनके सभी दोहे रीति से प्रभावित है, हम सहमत नही है। सतसई में नायिका की मुद्राओं, सौन्दर्यानुभूति, विरह, भक्ति, नीति, महाराजा जयसिंह आदि विषयों से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से दोहे शास्त्रीय लक्षणों को ध्यान मे रखकर रचे हुए नही है। इनके अतिरिक्त गाथा-सप्तशती, आर्या-सप्तशती, अमरुशतक आदि के आधार पर रचित, तथा अन्य बहुत से दोहे जो अनुभूति की प्रेरणा से रचित हैं, रीति के प्रभाव से मुक्त हैं। देखिये :—

---

१. 'बिहारी'—ले० डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भूमिका।

फिरि-फिरि चितु उत हीं रहतु टुटी लाज की लाव।
अंग-अंग छबि झौंर मैं भयौ भौंर की नाव॥

—१०

अहे दहेंडी जिनि धरै, जिनि तू लेहि उतारि।
नीकैं है छीकैं छुवै, ऐसैंई रहि नारि॥

—६६६

इनमें पहला दोहा आर्यासप्तशती (१ आर्या ४२२) के आधार पर तथा दूसरा निजी अनूभूति के आधार पर रचित है। इन दोहों को भले ही बलात् रीति के सांचे में कहीं न कहीं कस दिया जाय किन्तु वास्तव में यहाँ लक्षण-पूर्ति की कोई प्रेरणा दिखाई नहीं देती।

अस्तु, बिहारी मे संस्कृत और हिन्दी के परकीयोन्मुख रूढ़िबद्ध मिश्रित शृंगार की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का समन्वय मिलता है।

२—**रसिकता प्रधान शृंगार**—संस्कृत के कालिदास तथा हिन्दी के विद्यापति एवं सूरदास की भाँति बिहारी ने भी रसिकता प्रधान प्रेम का विस्तृत रूप में चित्रण किया है। उनके शृंगार-निरूपण में नायिका के सौन्दर्य—(नख शिख, चेष्टाओं एवं मुद्राओं) को सबसे अधिक प्रधानता मिली है। सौन्दर्याकर्षण जन्य विवशता एवं विकलता का चित्रण भी उन्होंने अनुभूति पूर्ण शब्दों में किया है, किन्तु फिर भी संस्कृत और हिन्दी के कवियों के रसिकता प्रधान शृंगार की कई विशेषताएँ उनमें नहीं मिलती। संस्कृत कवियों के नायक राजकुलीन हैं, उनकी नायिकायें अविवाहित हैं तथा प्रेम का आरम्भ दोनों ओर से एक साथ होता है। प्रणय-वेदना की अनुभूति केवल नायिका को ही नही—नायक को भी होती है तथा अन्त में नायक-नायिका का विवाह हो जाता है। बिहारी के नायक राजकुलीन हैं इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी प्रणय-वेदना का भी चित्रण बिहारी ने नहीं किया है। उनकी नायिकायें भी विवाहित परकीयायें है जिसके फल-स्वरूप प्रेम का अन्त निराशा में होता है।

हिन्दी के रसिकता-प्रधान शृंगार में प्रायः नायक-नायिका रूप में कृष्ण और राधा का चित्रण किया गया है। आरम्भ में प्रणय-वेदना का विकास नायक और नायिका दोनों में होता है, किन्तु आगे चलकर नायक की उपेक्षा के कारण प्रेम की परिणति निराशा में होती है। बिहारी ने राधा-कृष्ण का तो यत्र-तत्र उल्लेख किया है किन्तु विद्यापति और सूरदास की भाँति उनके प्रणय

का विकास नहीं दिखाया। वस्तुत : भारतीय रसिकता प्रधान शृंगार से उनमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक मिलता है।

३—**स्वच्छन्द शृंगार**—वैदिक साहित्य के स्वच्छन्द शृंगार में तो विवाह जैसे सामाजिक बन्धन का अस्तित्व ही दृष्टिगोचर नहीं होता जबकि हिन्दी के बोधा और घनानन्द जैसे कवि समाज मे विवाह-प्रथा का प्रचलन होते हुए भी उनको उपेक्षा करते है। बिहारी भी कुलमर्यादाओं एवं सामाजिक बन्धनों के अस्तित्व को तो स्वीकार करते है किन्तु प्रेम के क्षेत्र में उन का उल्लंघन होना स्वीकार करते है। जैसे—

क्यौं बसियै, क्यौं निबहियै, नीति नेह पुर नांहि।
लगालगी लोइन करैं, नाहक मन बंधि जाहि॥

—४०७

इक भीजैं चहलैं परैं, बूड़ैं, बहे हजार।
किते न औगुन जग करै, बै नै चढ़ती बार॥

—४६१

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गांठि दुरजन हियै, दई, नई यह रीति॥

—३६३

सहज सचिक्कन, स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार।
गनतु न मनु पथु अपथु, लखि बिथुरे सुथरे बार॥

—६५

उपर्युक्त दोहों में यह द्रष्टव्य है कि बिहारी घनानन्द-बोधा जैसे स्वच्छन्द प्रेमियों की भाँति यह स्वीकार नही करते कि जीवन मे सामाजिक मर्यादाओं की अपेक्षा प्रेम को ही सर्वोपरि स्थान मिलना चाहिये—वे सिद्धान्त रूप में तो मर्यादाओं का ही महत्व अधिक मानते हैं, किन्तु व्यावहारिक रूप में ऐसा हो नहीं पाता। अस्तु, वे प्रेम की स्वच्छन्दता को उपर्युक्त दोहों मे औगुन, कुपथु आदि विशेषणों से भूषित करते हुए उसे मानव मन की दुर्बलता के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

भारतीय शृंगार के अन्य स्वरूपों—संघर्ष प्रधान, शौर्यप्रधान, धार्मिकता समन्वित और मर्यादा प्रधान—का विकास बिहारी में नहीं मिलता। उनके व्यक्तिगत दृष्टिकोण की अति रसिकता को देखते हुए इन रूपों के विकास की संभावना भी नहीं की जा सकती थी।

प्रमुख शृङ्गारी कवि और बिहारी

१. बिहारी और कालिदास

संस्कृत के सर्वाधिक लोक-प्रिय कवि कालिदास के व्यक्तित्व से बिहारी के व्यक्तित्व में गहरी समानता मिलती है। दोनों ही गंभीर विद्वान, उच्चकोटि के रसिक, काव्य में शृङ्गारिता के पोषक एवं दरबारी वातावरण से प्रभावित थे। कालिदास के काव्य-ग्रंथों का अनुशीलन बिहारी ने गहराई से किया था, इस बात का प्रमाण सतसई के अनेक दोहों से मिलता है।[१] कालिदास की प्रिय उपमा 'दीपशिखा' का तो सतसईकार ने बार-बार प्रयोग किया है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास की सौन्दर्य-पद्धति से बिहारी बहुत प्रभावित हुए होंगे।

शृङ्गार सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी दोनों में गहरा साम्य मिलता है। दोनों ने ही समाज की मर्यादाओं को सिद्धान्तरूप में स्वीकार किया है किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में प्रणय-विह्वलता, भावाकुलता एवं हृदय की विवशता के कारण मर्यादाओं के अतिक्रमण को क्षम्य माना है। यदि रसिक जनों की रस-लोलुपता का समर्थन करते हुए कालिदास पूछते हैं—"कौन है जो विवृत-जघना बालाओं के स्वाद से परिचित होकर उन्हें ठुकराने में समर्थ हो सके।"[२] तो दूसरी ओर बिहारी भी मानों उनके स्वर में स्वर मिलाते हुए कहते हैं—"कौन है जो यौवन की चढ़ती हुई सरिता में फिसलते नहीं, भीगते नहीं, बहते नहीं, या कोई और औगुण नहीं करते।"[3] अपने इस दृष्टिकोण के कारण

---

१. देखिये इसी प्रबन्ध का "भारतीय काव्य का बिहारी पर प्रभाव" शीर्षक अध्याय।

२. ज्ञातास्वादों विवृत जघनां को विहातुं समर्थः। —मेघदूत, श्लोक ४५

३. इक भीजैं, चहलैं परैं, बूड़ैं बहैं हजार।
किते न औगुन जग करै बै नै चढ़ती बार॥ —४६१

दोनों के ही काव्य में कामुकता एवं रसिकता का पर्याप्त चित्रण हुआ है। कालिदास के नायक किसी नवयौवन के उन्मुक्त सौन्दर्य के—विशेषतः तुंगस्तनों एवं पृथुल श्रोणियों के प्रथमदर्शन में ही अपना हृदय दे बैठते हैं तथा रस-लोलुप भ्रमर की भाँति वे इन्हीं के चारों ओर मँडराते रहते हैं। सौंदर्य को निरावृत्त रूप में देखने के लिये कालिदास को कभी कभी विशेष प्रयत्न भी करना पड़ता है—'कुमार-संभव' में वे पुर-बधुओं के कटि-बन्ध के टूटने की कल्पना करते है;[१] शकुन्तला में वे चोली को ढीली करने के बहाने शकुन्तला के वक्ष-प्रदेश को नग्नरूप में प्रस्तुत कर देते है;[२] 'मेघदूत' में नारीरूप में चित्रित सरिताओं के अधो-वस्त्र के खिसक जाने की बात सोचते हैं।[3] बिहारी की भी दृष्टि प्रफुल्ल उरोजों पर ही जाकर अटक जाती है; प्रायः कुच-सन्धि उनके लिए एक ऐसी रपटीली राह सिद्ध होती है जहाँ उनका मन अनायास ही फिसल जाता है। किन्तु उनकी तृप्ति केवल दर्शन से ही नहीं होती अतः वे कोई न कोई बहाना ढूँढ कर स्पर्श भी कर लेते हैं।[४] वैसे भी बिहारी के नायक कालिदास के नायको से अधिक साहस का परिचय देते हैं; कालिदास के नायक नायिका की अनुमति के बिना उसका स्पर्श करने में बहुत झिझकते है; किन्तु यदि नायिका घर में अकेली हो तो बिहारी का नायक उसका बलात् हाथ पकड़ने मे भी कोई संकोच नहीं करता।[५]

इन रसिक कवियो ने सारे विश्व को नारीमय और नारी को ही विश्वमय समझा था; अतः प्रकृति भी उन्हें सर्वत्रनारी के रूप मे ही दृष्टि-गोचर हो तो आश्चर्य क्या! कालिदास की दृष्टि में अर्द्ध-विकसित पुष्पों से युक्त बल्लरियाँ नव प्रस्फुरित स्तनों से युक्त किशोरियों के रूप में,[६] लहरों से उद्वेलित सरिताएँ कटाक्षपात करती हुई मृदु-विह्वल-कामिनियों के रूप में[७] तथा ऊँचे-ऊँचे पर्वत पृथ्वी-रमणी के तुङ्ग पयोधरों के रूप में दिखाई देते है[८]

---

१ कुमार-संभव—शिव-बारात प्रवेश प्रसंग।

२. शकुन्तला—प्रथम अंक।

३. मेघदूत—श्लोक ४५

४. लरिका लैबे कैं मिसनु लंगरु मो गढि आइ।
गयो अचानक आँगुरी छाती छैलु छुवाइ॥ —३८६

५. लहि सूनैं घर करु गहत दिठादिठी की ईठि। —५८२

६. कुमार संभव—शिव के आश्रम का वर्णन।

७. मेघदूत—निर्विन्ध्या नदी का वर्णन, श्लोक २९।

८. मेघदूत—आम्रकूट पर्वत का वर्णन, श्लोक १८।

तो बिहारी भी कुछ ऐसी ही रसिकता का परिचय देते हुए शरद को किसी श्वेत वस्त्रा सुन्दरी[१] के रूप में तथा वायु को किसी मन्द-मन्द गामिनी नवोढ़ा के रूप में[२] देखते हैं। यही नहीं, वे नीति और लोक व्यवहार की बातों का, ज्ञान-विज्ञान के नियमों का तथा धर्म और दर्शन के सूक्ष्म सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी नारी अंगों के आधार पर सफलतापूर्वक कर देते है। ब्रह्म की सूक्ष्मता को समझाने के लिये भी बिहारी को अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, ललनाओं की सूक्ष्म कटि उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इतना साम्य होते हुए भी अन्ततः शृङ्गार चित्रण के क्षेत्र में बिहारी कई कारणों से कालिदास से बहुत पीछे रह जाते है। एक तो प्रणयानुभूतियों का जैसा अक्षय भंडार कवि-कुल-शिरोमणि के पास था उससे बिहारी वंचित दिखाई पड़ते हैं। बिहारी की काव्य-प्रतिभा अध्यवसाय और अभ्यास के योग से पोषित थी। दूसरी बात यह है कि बिहारी का क्षेत्र मुक्तक काव्य था जिसमें वे भावनाओं का क्रमबद्ध विकास नहीं दिखा सके। तीसरी बात यह है कि बिहारी अनेक स्थलों पर चमत्कार-प्रदर्शन के फेर में पड़ जाते है; तथा काव्य-रूढ़ियों में उलझ जाते हैं जबकि कालिदास सदैव सहजभाषा में भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में ही लीन रहते हैं। वस्तुतः शृङ्गारी कवि के रूप में बिहारी कालिदास की श्रेणी में आने की क्षमता नहीं रखते, हाँ हावों के चित्रण एवं खण्डिता को व्यंग्योक्तियों के क्षेत्र में वे अवश्य कहीं-कहीं कालिदास से भी आगे बढ़ जाते है।

२. बिहारी और अमरुक

कालिदासोत्तर संस्कृत कवियों—शूद्रक, भवभूति, दण्डी, बाण आदि—का शृङ्गार के क्षेत्र में बहुत ऊँचा स्थान है। इन्होंने अपने काव्य में प्रेम का जैसा सूक्ष्म, गंभीर और व्यापक चित्रण किया है उसकी बिहारी जैसे मुक्तक-कार से आशा करना ही व्यर्थ है। इन कवियों ने प्रणय भावना का चित्रण हृदय की एक मधुर मनोवृत्ति, आत्मा की एक पवित्र प्यास एवं जीवन की उच्चतम आकांक्षा के रूप में किया है जबकि बिहारी के लिए वह क्षणिक शारीरिक मिलन, अस्थिर गुप्त सम्बन्ध एवं व्यभिचारियों की रति-क्रीड़ा से अधिक कुछ नहीं; अतः इन से तुलना करना बिहारी का उपहास करना

---

१. बिहारी रत्नाकर—दो० ४८७;
२. वही—दो० ३९२।

होगा। हाँ, संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ मुक्तककार—अमरुक अवश्य बिहारी के ही पुराने मित्रों में से एक है।

तुलना—अमरुक और बिहारी में इतना गहरा साम्य है कि यदि अमरुक को संस्कृत काव्य का बिहारी अथवा बिहारी को हिन्दी काव्य का अमरुक कह दें तो अतिशयोक्ति नही होगी। दोनों का ही शृङ्गार के प्रति दृष्टिकोण एक जैसा है; दोनों ही घर में पत्नी को प्रसन्न रखने के साथ-साथ परकीयाओं से सम्बन्ध स्थापित करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते; दोनों ही खण्डिता नायिकाओं की व्यंग्योक्तियों का चित्रण सरस रूप में करते हैं; दोनों ही नारी-मनोविज्ञान के धुरन्धर हैं और दोनों ही किसी न किसी मात्रा में रीति-तत्वों से प्रभावित हैं। अमरुक को रमणी के हाव-भावों से इतना अनुराग है कि वे उनके समक्ष अमृत के माधुर्य को भी हेय घोषित कर देते हैं।[1] नव बाला मुस्करा रही हो या क्रोध के आवेश में बड़बड़ा रही हो, उसके अधरों से हँसी के फव्वारे छूट रहे हों या उसके दोषपूरित नेत्रो से आँसुओं की वर्षा हो रही हो—प्रत्येक परिस्थिति में नारी की चेष्टाएँ कवि की रसिक दृष्टि के लिए सौन्दर्य और माधुर्य का आगार बन जाती हैं। यही कारण है कि अमरुक कही मुग्धाओं के साथ छेड़-छाड़ करते हुए, कहीं वयस्काओं के साथ खिलवाड़ करते हुए और कही प्रौढ़ाओं के मान-मोचन मे रत दिखाई पड़ते हैं। बिहारी में भी यह प्रवृत्ति कम नही है—वे नव परिणीता बाला के अधरो की सीत्कार सुनने के लिए उसे कँटकीली राह से ले जाते हैं; उसके उन्नत यौवन का दर्शन करने के लिए ऊँचे, 'छीकै' परधरी हुई 'दहेंड़ी' को उतारने के लिए विवश कर देते है, और 'रस-लूटन' का अवसर प्राप्त करने के लिए उसे झूले पर से भी गिरा देते हैं। वस्तुतः अमरुक और बिहारी दोनो संभोग पक्ष के सफल चित्रकार हैं, यद्यपि इस चित्रकारी मे बिहारी की रेखाएँ अधिक सूक्ष्म, उनकी भावनाओं का रंग अधिक गहरा और उसका प्रभाव कुछ अधिक व्यापक है—किन्तु वियोग के क्षेत्र मे दोनों ही इस प्रकार परास्त हो जाते हैं कि दोनों में से कौन अधिक असफल

---

१. **सीत्कारांचित लोचना सरभसं यैश्चुम्बिता मानिनी:**
प्राप्त तैरमृतं मुधैव मथितो मूढै: सुरै: सागर:।

अर्थात्—जिन्होंने सीत्कारपूर्वक आँखें मीचती हुई मानिनी का वेग से चुम्बन लिया, उन्होंने अमृत प्राप्त कर लिया। मूर्ख देवताओं ने समुद्र का व्यर्थ ही मन्थन किया।—अमरुशतकम् (सम्पादक—ऋषीश्वरनाथ भट्ट)

है इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है। आँसू बहाती हुई विरहिणी बाला की हृदयस्थ वेदना को समझने में दोनों ही असमर्थ रहे है किन्तु फिर भी दोनों में थोड़ा अन्तर है। एक उससे केवल मौखिक सहानुभूति दिखा कर ही आगे बढ़ जाता है, किन्तु दूसरा अपनी ऊहात्मक उक्तियों से दर्शकों की एक ऐसी भीड़ इकट्ठी कर लेता है जिसके लिए नायिका की वेदना मनोविनोद की सामग्री बन जाती है।

अमरुक की सारी शृङ्गार लीला घर की चार-दीवारी में; अपितु शयन-कक्ष की चतुर्दिक सीमाओं में ही समाप्त हो जाती है; सकोचशीला नवबधुओं के बलात् निवि-बन्ध-मोचन से लेकर दीर्घ मानवती नायिकाओं के रोषापकर्ष के निमित्त की गई चरण-सेवा तक समस्त कार्य-व्यापार यही सम्पादित हो जाते हैं; जबकि बिहारी घर से बाहर निकलकर कभी-कभी पास पड़ोस के वातावरण पर भी दृष्टि डालते है; हाट. बाट और तालाबों में आती जाती षोड़शियों के चित्र अंकित करते है; गाँव और खेतों में चलने वाली गुप्त क्रीड़ाओं के दृश्यों का अवलोकन करते है। कभी-कभी वे कथा-श्रवण करने वालों की मंडली और कथावाचकों के मंदिर मे भी पहुँच जाते हैं; यह दूसरी बात है कि वहाँ भी वे रसिकता की कोई सामग्री अवश्य ढूँढ़ लेते हैं। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नही कि बिहारी के शृङ्गार का क्षेत्र अमरुक से अधिक विस्तृत है; प्रणय की परिस्थितियों की विभिन्नता की दृष्टि से भी दोनों में शतक और सतसई के आकार एवं परिमाण के अनुरूप ही अन्तर है।

३. गाथा सप्तशतीकार और बिहारी

गाथासप्तशती (प्राकृत में रचित) के लगभग बीस छन्दों का अनुवाद बिहारी सतसई में ज्यो का त्यों मिलता है, इसीसे स्पष्ट है कि गाथासप्तशती-कार का बिहारी पर कितना प्रभाव है। इसके अतिरिक्त ग्रंथ के नामकरण, शृङ्गार रस की प्रधानता, ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन, नीति आदि की बातों के समावेश, आदि की प्रवृत्तियों में भी गाथासप्तशतीकार का अनुकरण मिलता है। काव्य-रचना का उद्देश्य गाथासप्शतीकार ने तो स्पष्ट रूप से काम-शास्त्र के तत्वों को सुबोध रूप में प्रस्तुत करना स्वीकार किया है,[1] बिहारी

---

१. -अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति॥
—गाथासप्तशती शतक १।२

ने भी अनेक स्वादों—जिनमें 'रति रंग' प्रमुख है—से युक्त काव्य लिखना बताया है।

दोनों के शृङ्गार के बाह्यरूप एवं तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियों में भी गहरा साम्य है। दोनों का प्रेम परकीयोन्मुख है; दोनों के नायक इतने अधिक रसिक है कि राह चलती हुई अपरिचित युवतियों से भी छेड़-छाड़ करने से नहीं चूकते; दोनो में खंडिता, मानवती, प्रोषित पतिका नायिकाओं को प्रधानता मिली है और दोनों ने वियोग की अपेक्षा संयोग चित्रण में अधिक सफलता प्राप्त की है।

नारी की चेष्टाओं का अध्ययन भी दोनों ने ही गहरी सूक्ष्मता से किया है। किसी तरुणी की स्वाभाविक चेष्टाओं का विश्लेषण करते हुए गाथा-सप्तशतीकार अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हुए कहते हैं—

"यद्यपि मन्द-मन्द गति से चल रही है; फिर भी पग-पग पर वेदना से मुँह को सिकोड़ती है, ऐसा क्यो? अवश्य ही उसके नितम्बों में कोई (प्रेमी द्वारा किया हुआ) नख-क्षत है, जो मेखला के स्पर्श से पीड़ा देने लगता है।"[१] बिहारी ने भी अनेक दोहो मे नायिका की चेष्टाओ का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविकता से किया है—

भौंह ऊँचै, आँचरु उलटि, मौरि मौरि मुंह मोरि।
नीठि-नीठि भीतर गई, दीठि-दीठि सौं जोरि॥—२४२

बरजै दूनी हठ चढ़ै, ना सकुचै न सकाइ।
टूटत कटि दुमची-मचक लचकि-लचकि बचि जाइ॥ ६८६

संयोग वर्णन में दोनो ने प्रायः अभिसार और संकेत स्थलों पर गुप्त-मिलन का ही अधिक चित्रण किया। इस प्रकार गाथासप्तशतीकार के शृङ्गार चित्रण की सभी प्रवृत्तियाँ बिहारी में मिलती है; किन्तु फिर भी दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। एक तो गाथासप्तशतीकार ने शास्त्रीय रूढ़ियों—नायिकाभेद,

---

२. मसिणं चङ्कमन्ती पए-पए, कुणई कीस मुहमङ्गम्।
पूणं से मेहलिआ जहणगअं छिवइ णहवन्तिम्॥ गा० स० ५।६३

संस्कृत अनुवाद—"मसृणमपि चंक्रमन्ती पदे-पदे किमिति वहति मुख भंगम्।
नूनं मेखलिकास्या जघनगतां स्पृशति नख पंक्तिम्॥
—श्री मथुरानाथ भट्ट शास्त्री द्वारा कृत टीका, पृ० २३६

नख-शिख वर्णन, षट-ऋतु वर्णन आदि—का प्रयोग कहीं भी प्रयास पूर्वक नहीं किया। ऐसा लगता है कि परवर्ती संस्कृत आचार्यों ने नायिका भेदोपभेदों की वृद्धि में इस ग्रन्थ से अवश्य सहायता ली होगी, क्योंकि अनेक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उदाहरण-स्वरूप इसकी गाथाओं को उद्धृत किया है। वस्तुतः गाथा-सप्तशतीकार का प्रेरणास्रोत वास्तविक जीवन है, जबकि बिहारी शास्त्रीय ग्रंथों एवं प्राचीन काव्यों की सामग्री के आधार पर काव्य-रचना करते हैं। फलस्वरूप बिहारी में वैसी नवीनता, ताजगी, प्रफुल्लता, स्वाभाविकता एवं सरसता नही मिलती जिससे कि गाथा-सप्तशती ओत-प्रोत है।

दूसरे, नारी की स्थिति गाथा सप्तशती में अधिक उच्च है उस युग मे शिक्षा-दीक्षा एवं व्यक्तित्व की दृष्टि से नारी का इतना अधिक पतन नहीं हुआ था, जितना कि बिहारी के युग में होगया था। अस्तु, गाथा-सप्तशती की नायिका मे अपने नारीत्व का अहं और सदाचार का गर्व इतनी मात्रा में विद्यमान है कि वह आवश्यकता पड़ने पर पुरुष को भी मुँह-तोड़ उत्तर देने की क्षमता रखती है। अपने पर-स्त्री-गामी पति से वह कहती है—"तुम आज मेरी बात पर इतने ऐंठ रहे हो, किन्तु तुम्हें उन पुरुषो की पीड़ा का अनुभव नहीं जो कि सायंकाल में अपनी पत्नी के साथ सोते है किन्तु मध्य-निशा में आँख खुलने पर उन्हें अपना पार्श्वभाग खाली मिलता है अर्थात् उनकी पत्नियाँ वहाँ नही होती हैं! (उन्हें वहीं छोड़कर अन्यत्र रमण के लिए चली जाती हैं) कदाचित् मैं भी ऐसी होती तो यह सारी हेकड़ी हवा हो जाती।"[1]

तीसरी बात जो गाथा-सप्तशती में उल्लेखनीय है वह यह कि इसमें विरह-वर्णन जितना भी किया गया है वह स्वाभाविक, सरस एवं प्रभावोत्पादक है। बिहारी की तरह से उसमें ऊहात्मकता एवं चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं मिलती। उदाहरण के लिए एक प्रोषित-पतिका नायिका की मिलनाकांक्षाओं का सहज स्वाभाविक चित्रण द्रष्टव्य है—"कभी वह परदेशी आवेगा, मैं भी उससे रूठूँगी, और फिर वह मुझे प्यार से मनावेगा·····। हाय! सखी, क्या ये आकांक्षाएँ कभी पूरी भी होंगी? नही, हमारे ऐसे भाग्य कहाँ हैं!"[2] इसी प्रकार एक वियोगिनी बाला अपनी विरहानुभूतियों का विश्लेषण करती हुई सोचती है—'इनका रूप मेरी आँखों में बसा हुआ है;

---

१. गाथासप्तशती—शतक प्रथम, गाथा २६ का लेखक द्वारा कृत भावानुवाद।

२. गाथा-सप्तशती—शतक १।१७ का लेखक द्वारा कृत भावानुवाद।

उनका स्पर्श मेरे अंगों में; उनकी वाणी मेरे कर्णों में; उनका हृदय मेरे हृदय में ! हाय दैया ! फिर यह वियोग कैसा !"[१]

वस्तुतः गाथासप्तशती कार की काव्य- सरिता रीतिकाल की नमकीन झील में से होकर बिहारी के पास पहुँची, इसी से स्वाद कुछ निम्न, रंग कुछ मैला एवं गति उसकी मन्द हो गई। रीति-बद्धता, ऊहात्मकता, चमत्कारिकता आदि के अनेक दूषित तत्त्वों से मिश्रित बिहारी सतसई इसी तथ्य को प्रमाणित करती है।

४. बब्बर और बिहारी

अपभ्रंश के मुक्तक-काव्य रचयिताओं में बब्बर[२] एक ऐसे कवि हैं जिनका अध्ययन करते हुए सहसा बिहारी की याद आजाती है। बिहारी ने उनके काव्य का अनुशीलन किया था या नहीं, इस सम्बन्ध में निश्चित् रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु दोनों के व्यक्तित्व एवं काव्य-प्रवृत्तियों में गहरा साम्य है। दोनों ही राज्याश्रित कवि थे; दोनों के ही दृष्टिकोण में रसिकता का प्राधान्य है; दोनों ने ही रीति-तत्त्वों का प्रयोग किसी न किसी मात्रा में किया है; दोनों ने ही मुक्तक शैली मे काव्य-रचना की है। दोनों ने ही यौवन और सौन्दर्य का चित्रण मादक शैली में किया है और दोनों ने ही अनुराग शून्य जीवन की भर्त्सना की है। सौन्दर्य का आधार यौवन है, और यौवन का उपयोग उसका उपभोग है —इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए बब्बर कहते है—"हे युवती ! मत्तगयन्द की मस्ती से चलने वाली! खंजन-लोचनी ! चन्द्रमुखी ! यौवन चंचल है, उसका जाते हुए पता नहीं लगता। अतः क्यों नहीं उसे किसी छैल को समर्पित कर देती ![३]

नारी-सौन्दर्य के चित्रण में भी बब्बर और बिहारी—दोनों ने अपनी रसिकता का परिचय दिया है, किन्तु फिर भी बब्बर में चमत्कार-प्रदर्शन का मोह नहीं मिलता; अतः उनके सौन्दर्य निरूपण मे उक्ति की सरलता;

---

१. गाथा-शप्तशती-शतक २।३२ का लेखक द्वारा कृत भावानुवाद।

२. बब्बर (१०५० ई०)—स्फुट कवितायें; पूरा परिचय देखिये—हिन्दी काव्य-धारा, लेखक—राहुल सांकृत्यायन; पृ० ३१४–३१५।

३. रे धणि ! मत्त-मअंगज-गामिणि, खंजण लोअणि चंदमुही।
चंचल जोव्वण जात ण जाणहि, छइल समप्पहि काइ ण ही।१३२
—हिन्दी-काव्य-धारा (सांकृत्यायन) पृ० ३१६

रेखाओं की स्पष्टता और अनुभूति की तरलता मिलती है। देखिये—"इस गुर्जर सुन्दरी के नेत्र दीर्घ हैं; पीन-पयोधरों के भार से लदी हुई है; मुक्ताओं का हार हिल रहा है; मृग जैसे नेत्र हैं; कमल सदृश बदन है। हे सखी! क्या तुमने ऐसी युवाजनों के हृदय को चुरा लेने वाली तरुणी को देखा है? उसके नेत्र चंचल कमल सदृश हैं। स्तनों से वस्त्र खिसका हुआ है, उसकी चाल में किसी मस्त हाथी की शिथिलता; उसके कटाक्षों में बाणों की तीक्ष्णता है; उसकी भौहें मानों कामदेव की धनुष हैं। आह! वह नागरी कामदेव की सेना है।"[१]

विभिन्न ऋतुओं के वर्णन एवं शृङ्गार की विविध दशाओं के निरूपण में भी बिहारी और बब्बर में सबसे बड़ा भेद यह है कि जहाँ बिहारी संयोग-पक्ष का अधिक चित्रण करते है वहाँ बब्बर का लक्ष्य वियोगानुभूतियों की अभिव्यंजना है। ग्रीष्म की असह्य कठोरता से पीड़ित होकर बब्बर की चतुर नायिका अपनी वियोगाग्नि की शान्ति की कामना व्यंजित करती हुई पथिक से कहती है—"युवा सूर्य धरती को तपा रहा है; तेज पवन चल रहा है; इस मरुस्थल में कही भी जल का स्रोत दिखाई नही देता; यह देखकर मेरा हृदय काँप उठता है, फिर मैं अकेली हूँ! पति भी घर नहीं। हे पथिक! सुनो, मेरा मन किसी को चाहता है!"[२] इसी प्रकार बसन्त के मादक वैभव से उद्दीप्त होकर वह कहती है—"पुष्प मधु से भर गये हैं! भ्रमर मंडरा रहे हैं।.....मलयगिरि के पुष्पों से सुवासित पवन चल रही है! सुनो सखी! इसे कैसे सहन करूँ, पिया पास नहीं! पिक-शावक मंजरियों पर बैठकर पंचम में गा रहे हैं! मैं मन्मथ-ताप से जल रही हूँ, हाय! कंत आज भी नहीं आया! खाना-पीना छोड़ दिया है; देह सूख गई है! क्षण-क्षण में दीर्घ श्वास चल रहे हैं।.....हाय मैं किसे निर्दय बताऊँ—मेरे यौवन को या कंत को?"[३]

वस्तुतः इन पंक्तियों में वासना की चंचलता एवं स्थूल मिलन की लालसा ही व्यजित हो रही है; उसमे प्रणय भावना की विशुद्धता एवं गंभीरता के दर्शन नही होते। बब्बर के शृङ्गार का स्तर बिहारी की ही कोटि का है; किन्तु फिर भी उन्होंने जो कुछ लिखा वह आस्वाद्य है;

१. मूल पंक्तियाँ देखिये—हिन्दी काव्य-धारा (राहुल सांकृत्यायन) पृष्ठ ३१७।

२. वही; पृ० ३१८। ३. वही; पृ० ३२०—५२२।

चमत्कार-प्रदर्शन एवं ऊहात्मकता के चक्कर में पड़कर उन्होंने अपने काव्य की स्वाभाविकता एवं सजीवता का बलिदान नहीं किया। बिहारी का सा शब्द-भंडार, भाषा की समास-शक्ति, एवं शैली की सुष्ठुता उनमें नहीं मिलती किन्तु यौवन की जैसी मस्ती, सौन्दर्य का जैसा चाव और प्रेम का जैसा उल्लास इनके काव्य में है, उससे बिहारी सतसई वंचित है।

५. विद्यापति और बिहारी

मैथिली-गीति-परम्परा के प्रतिनिधि कवि विद्यापति के प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण से बिहारी का गहरा साम्य है। विद्यापति यदि प्रेम की व्याख्या करते हुए कहते हैं—"प्रेम की गति दुरबार" (प्रेम की गति विचित्र है) तो बिहारी मानों उन्ही का समर्थन करते हुए कहते हैं—"या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहीं कोय।" प्रेम के समक्ष सामाजिक बन्धनों को तुच्छ घोषित करते हुए विद्यापति कहते हैं—"जब मन में प्रणय का सागर उद्वेलित होता है तो उसमें कुल की मर्यादाएँ डूब जाती हैं"·····[१] दूसरी ओर बिहारी का भी विश्वास है कि प्रेम के संसार में नीति-नियमों का निर्वाह नहीं हो पाता;[२] प्रेम का उदय होते ही कुटुम्ब की मर्यादाएँ भंग हो जाती हैं[३] तथा मन पथ-कुपथ का निर्णय करने में असमर्थ हो जाता है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि दोनों ही सामाजिक मर्यादाओं के उल्लंघन को सिद्धान्त रूप में स्वीकार नही करते अपितु इसे एक मानवीय दुर्बलता ही—सुन्दर दुर्बलता—मान कर चलते हैं।

विद्यापति और बिहारी दोनों के ही शृङ्गार का स्तर रसिकता की कोटि का है। दोनों के नायक अति सौन्दर्य लोलुपता के कारण राह में किसी सुन्दरी को देखकर मुग्ध हो जाते हैं। दोनों को ही सुन्दरियों के निरावृत्त सौन्दर्य के प्रति अधिक आकर्षण है अतः वे प्रायः सद्यः स्नाताओं की छवि का अंकन बार-बार करते हैं। विद्यापति ने स्नान के अनन्तर तट की ओर आती हुई सुन्दरी का,[४] उसके पयोधरों से चिपटे हुए गीले वस्त्र का[५] तथा दोनों

---

१. मन मधि मदन महोदधि उछलल,
बूडल कुल मरजादे।—विद्या० पदा० पृ० ६४
२. बिहारी रत्नाकर—दो० सं० ४०७
३. वही—दो० सं० ३६३
४. विद्यापति पदामृत, पृ० ३८, ५. वही पृ० ३७

हाथों से वक्ष-प्रदेश को छिपाने की मुद्रा का चित्रण अलग-अलग पदों में किया है जबकि बिहारी ने इन सबका अंकन एक ही दोहे में सफलता पूर्वक कर दिया है—

विहँसती सी सकुचति सी, दिएँ कुच-आँचर बिच बाँह।
भीजैं पट तट कौ चली, न्हाइ सरोवर माँह ॥—६९३

विद्यापति और बिहारी दोनों के रसिक नायक सौन्दर्य-पान के अनन्तर प्रेम से विमुख हो जाते हैं। अतः विरह-वेदना का अनुभव उनकी नायिकाएँ ही करती हैं; फिर भी इस क्षेत्र में विद्यापति को बिहारी से अधिक सफलता मिली है। जैसा कि पहले कहा गया है विरह-वर्णन के क्षेत्र में बिहारी ऊहात्मकता एवं चमत्कार-प्रदर्शन मे पड़ जाते हैं जबकि विद्यापति इस प्रवृत्ति से प्रायः मुक्त हैं। दूसरे विद्यापति का लक्ष्य-पूर्ति का प्रयास उनमें नहीं मिलता। तीसरे, उनकी गीति-शैली में भी दोहों की अपेक्षा भावों के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र था। चौथे, कल्पना की नवीनता, अनुभूति की गम्भीरता एवं भाषा की स्वाभाविकता की दृष्टि से भी विद्यापति बिहारी से अधिक महान् हैं। वस्तुतः दोनों के काव्य-प्रसून किसी एक ही वृक्ष की एक ही शाखा पर विकसित हैं; वर्ण और सुगन्धि की दृष्टि से भी दोनों एक ही जैसे हैं; अन्तर केवल इतना है कि एक के सद्यः प्रस्फुटित हैं जब कि दूसरे के थोड़े कुम्हलाये हुए, म्लान एवं धूलि-धूसरित प्रतीत होते हैं।

६. सूरदास और बिहारी

भक्त कवि सूरदास के काव्य में प्रेमानुभूतियों का चित्रण इतने विस्तार से हुआ है कि उन्हें शृङ्गारी कवि न सही – शृङ्गार रस का कवि निःसंकोच कहा जा सकता है तो दूसरी ओर बिहारी के काव्य में कुछ दोहों में भक्ति भावना का प्रस्फुटन इतनी स्वाभाविकता से हुआ है कि उन्हें ग्रियर्सन जैसे विद्वान् ने भक्त कवि समझने की भूल की है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि दोनों के काव्य में शृङ्गारिकता और भक्ति-भावना का मिश्रण किसी न किसी मात्रा में अवश्य हुआ है। सूरदास की भाँति बिहारी के भी आराध्य राधा-कृष्ण थे, तथा उनके साथ उनका व्यवहार भी सूरदास जैसा ही था। प्रायः मोक्ष या मुक्ति का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के लिए वे अपने आपको सबसे बड़ा पतित घोषित करते हुए, आराध्य की पतित 'पावनता' को ललकारने लगते

---

१. विद्यापति पदामृत पृ० ३७-३८।

हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि पापियों के उद्धार करने की क्षमता की परीधा के लिए ही उनका उद्धार कर देंगे।

सूरदास रीतिबद्ध कवि नहीं थे—किन्तु उनकी 'साहित्य-लहरी' मे नायिका भेद एवं अलंकार–निरूपण विस्तार से हुआ है। उन्होंने अपना काव्य चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं लिखा, किन्तु फिर भी वे कुछ कूट पद लिखने का लोभ संवरण नही कर सके। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रणय का विकास मनोवैज्ञानिक क्रम से किया किन्तु फिर भी वे अपने नायक राज की रसिकता पर आवरण नहीं डाल सके। उनका शृङ्गार-चित्रण उत्कृष्ट कोटि का है किन्तु वे उसे शारीरिक मिलन के नग्न दृश्यों से असंपृक्त नही रख सके। उन्होंने भागवत के अनुकरण पर अपने 'सूर-सागर' की रचना की किन्तु उसे पूर्णतः प्रबन्धात्मकता का रूप प्रदान नहीं कर सके। अस्तु, बिहारी के काव्य की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों—भक्ति का मिश्रण, नायक-नायिका कृष्ण और राधा, रसिकता का प्राधान्य, स्थूल मिलन, रीति तत्त्वो का प्रयोग, चमत्कार प्रदर्शन, एवं मुक्तक शैली आदि के अंकुर सूर के काव्य में दृष्टिगोचर होते है।

सूर और बिहारी दोनों ने प्रेम का विकास सौन्दर्य की प्रेरणा से दिखाया है; दोनों ने ही संयोग दृश्यों का चित्रण विस्तार से किया है, किन्तु वियोग के क्षेत्र में पहुँचकर बिहारी की कला अस्त होने लगती है जब कि सूर के काव्यालोक का पूर्णोदय यही होता है। कृष्ण विदाई के दृश्य एव भ्रमर-गीत प्रसंग में प्रणय विभोर गोप-बालाओं के हृदय की वेदनाभूतियो का जैसा सजीव, स्वाभाविक एवं सरस चित्रण सूर ने किया है उसकी बिहारी का पाठक कल्पना भी नही कर सकता। 'सूर-सागर' प्रेम की अथाह अनुभूतियों से लबालब भरा है, भावनाओं की तरंगों से वह उद्वेलित है; मुक्ता-मणि और रत्न भी उसमें हैं किन्तु उनका खुला प्रदर्शन उसमें नही मिलता जबकि सतसई कार के पास गिनती के कुछ मोती है; उनमे कुछ सच्चे हैं कुछ झूठे, कुछ अपने हैं कुछ दूसरों से लिये हुए, कुछ में शीतल आभा है जिनसे चक्षुओं को कोमल-मधुर स्पर्श की अनुभूति होती है जब कि कुछ में ऐसी तीक्ष्ण चमक है कि द्रष्टा की आँखें चौंधियाने लगती हैं। यदि मुक्ताओं को किसी एक सूत्र में—क्रमबद्ध रूप में—गूँथ कर माला का रूप दे दिया जाता तो कदाचित् रसिकों के हृदय का थोड़ा अनुरंजन हो सकता था; पर लगता है बिहारी को इतना अवकाश नहीं था। वे तो मानो ढेर लगाकर खड़े हो गये

और दर्शकों को कह रहे हैं—"लो सब तरह के मोती मेरे पास हैं; जो तुम्हें पसन्द हों चुन लो।"

वस्तुतः सूर-सागर और बिहारी-सतसई में वही अन्तर है जो रस के माधुर्य और मणियों की चमक-दमक में है।

७. बिहारी और देव

बिहारी और देव की महत्ता को लेकर विद्वानों द्वारा बहुत कुछ लिखा जा चुका है तथा परस्पर विरोधी मतों का प्रतिपादन भी बार-बार हो चुका है। हमारा उद्देश्य यहाँ उक्त विवाद में न पड़कर दोनों के शृङ्गार निरूपण की सामान्य विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन करना मात्र है।

अन्य रीति बद्ध कवियों तथा बिहारी की भाँति देव के शृङ्गार सम्बन्धी दृष्टिकोण में रसिकता का ही प्राधान्य है। उनका प्रेम एकोन्मुखी नहीं है, किसी भी सुन्दरी को देखकर, चाहे वह शहर में रहने वाली हो या देहात में निवास करने वाली, उनका मन चंचल हो उठता है।

कौन गनै पुर, बन, नगर, कामिनि एकै रीत।
देखत हरै विवेक को, चित्त हरै करि प्रीत!!

देव परनारी से प्रेम का निषेध करते हैं, इसलिए नहीं कि यह मर्यादा विरुद्ध है अपितु इसलिये कि इसमें थोड़ी जोखिम उठानी पड़ती है—कभी शरीर की पूजा हो सकने की सम्भावना रहती है; कभी अँधेरे-उजाले घर से निकलना पड़ता है और कभी सर्दी-गरमी वर्षा सहन करनी पड़ती है।

नारी के नख-शिख का चित्रण देव ने भी विस्तार से किया है; जैसे—

चंचल चितौन चित चुभी चित चोर-चारी,
मोर वारी बेसरि, सुकेसरि की आउ वह!
गोरे-गोरे गोलनि की, हँसि-हँसि बोलन की
कोमल कपोलन की जी मैं गडी गाड वह!!

यहाँ शब्दालंकारों का प्रयोग प्रभूत मात्रा में मिलता है अतः अलंकारिकता की प्रवृत्ति देव में बिहारी से कम नहीं है किन्तु फिर भी दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। एक तो बिहारी विभिन्न अंगों का निरूपण अलग-अलग दोहों में करते हैं जिससे उनका कोई समन्वित प्रभाव उत्पन्न नहीं होता जब कि देव ने यहाँ केसर की आड, सुन्दर बेसर, चितवन की चंचलता, अधरों की स्मिति

एवं कपोलों की गाड का वर्णन एक साथ कर दिया है जो पर्याप्त प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है। दूसरे देव में अलंकारिकता अर्थ-ग्रहण में बाधक नहीं होती प्रत्युत् भाव के स्पष्टीकरण में वह सहायक होती है। तीसरे, बिहारी के नख-शिख वर्णन में उनकी धर्म, दर्शन, ज्योतिष, गणित एवं नीतिशास्त्र की विद्वता का शुष्क पुट होता है जबकि देव का चित्रण अनुभूति की तरलता से सराबोर है।

नायिकाओं की विभिन्न चेष्टाओं और मुद्राओं के अंकन में बिहारी ने अपनी ज्ञान की गठरी को भूलकर अनुभूतियों की विधि का उपयोग किया है; फलतः इस क्षेत्र में वे देव से अधिक सफल सिद्ध होते हैं। देखिए—

विहँसति सकुचति सी, दिऐं कुच आँचर बिच बाँह।
भीजैं पट तट कौ चली, न्हाइ सरोवर माँहि॥

—बिहारी

पीत अङ्ग सारी गोरे अङ्ग मिल गई 'देव'
श्रीफल उरोज आभा आभा सैं अधिक सी।
छूटी अलकनि, झलकनि जल बूँदनि की,
बिना बेंदी बदन बदन शोभा विकसी॥
तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप पुंज
गुंजरत मजुबर, बोलैं बाल पिकसी।
नीबी उकसाय, नेक नैनन हँसाय हँसि
ससि मुखी सकुचि सरोवर से निकसी॥

—देव

यहाँ दोनों कवियों ने सद्यःस्नाता की छवि का अंकन करने का प्रयत्न किया है। बिहारी के चित्र का साइज छोटा है; रंग सादा है, किन्तु फिर भी उसमें दृश्य की एक झाँकी पाठक के नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत हो जाती है। देव सारा चित्र एक साथ पाठक को नहीं दिखाते, पीली साड़ी, श्रीफल-उरोज, अलकें, जल-बून्दें, बेंदी रहित ललाट, उसकी पिक सदृश्य वाणी, नीबी की उकसाहट, चितवन की मुस्कराहट एवं चेहरे का संकोच—इन सबको क्रमशः प्रस्तुत करते हैं। पहले वे नायिका के मध्य भाग को लेते हैं, फिर उर्ध्व को और फिर अधोभाग को—यह क्रम भी पाठक की दृष्टि की स्थिरता में बाधक सिद्ध होता है। दूसरे चित्रकार का कार्य रूप-रेखाओं का अंकन है, ध्वनि-लेखन नहीं, किन्तु देव अपने मूल उद्देश्य को भूलकर उसकी पिक सदृश वाणी का भी लेखन करने लगते हैं। साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि नायिका तो इस

समय अकेली थी, मौन थी, देव ने उसकी वाणी कहाँ से सुन ली। तीसरे, बिहारी ने नायिका का चित्र इसकी अबोधावस्था में खींचा है—उसे इसका पता नहीं लगने दिया कि कोई उसका चित्र उतार रहा है; जबकि लगता है देव की नायिका को चित्रकार की उपस्थिति का ज्ञान है अन्यथा उसे नींबी को उकसाने की, नैनों से नैंक हँसने की, संकुचित होकर सरोवर से निकलने की क्या आवश्यकता थी। बिहारी ने संकोच एवं मुस्कराहट का उल्लेख किया है पर उसके आगे 'सी' लगाकर उसे सामान्य चेष्टा का रूप दे दिया है।

वस्तुतः देव ने एक नौसिखए कलाकार की भाँति शक्ति, श्रम, स्याही और रंग का व्यय तो अधिक किया है किन्तु उनका चित्र ठीक नहीं बन सका। वे चित्रांकन के समय इधर-उधर देखने लग जाते हैं; उनकी लेखनी हिल जाती है; उनका आलम्बन भी स्थिर रूप में स्थित नहीं रह पाता—फलतः उनके चित्र में नायिका की केवल एक ही मुद्रा नहीं, अनेक मुद्राएँ घुल-मिल जाती हैं; जिससे वह बिगड़ जाता है। हाँ, सद्यःस्नाता की शारीरिक विशेषताओं की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करने की दृष्टि से देव सफल हैं; चित्रकारिता के अभ्यास में वे बिहारी से बहुत पीछे हैं।

नायिका की भाव-प्रेरित चेष्टाओं—हावों के निरूपण में भी बिहारी देव से अधिक कुशल हैं—

इत तें उत, उत तें इतै छिनु न कहू ठहराति।
जक न परति, चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति॥—२०६

झटकि चढ़ति उतरति अटा, नैंक न थाकति देह।
भई रहति नट कौ बटा, अटकै नागर नेह॥—१९४

—बिहारी

खरी दुपहरी हरी-भरी, फरी कुंज मंजु
गुंज अलि पुंजन को 'देव' हियो हरि जात।
सीरे नद-नीर, तरु सीतल, गहीर छाँह
सोवैं परे पथिक, पुकारैं पिकी करि जात॥
ऐसे मैं किसोरी भोरी, कोरी कुम्हिलाने मुख
पंकज से पाँय धरा धीरज सों धरि जात।
सोहैं घनस्याम-मग हेरति हँथेरी ओट
ऊँचै धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जात॥

—देव

यहाँ बिहारी ने जो बात थोडे से शब्दों में कही थी उसी का विस्तृत वर्णन देव ने किया है। बिहारी के चित्रण में लक्ष्य की एकाग्रता के कारण पाठक का सारा ध्यान एक ही बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है तथा उसमें स्थूल-वर्णन की अपेक्षा भावात्मकता की व्यंजना अधिक होने के कारण वह सीधा हृदय को प्रभावित करता है किन्तु देव में दृश्य की अति विस्तृतता, वर्णन की इतिवृत्तात्मकता एवं शैली की शिथिलता के कारण उसका प्रभाव मन्द पड़ जाता है। वस्तुतः चित्रण के क्षेत्र में बिहारी तीर की भाँति लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाते है किन्तु देव दाएँ-बाएँ देखने का लोभ संवरण नहीं कर पाते; इसी से वे इधर-उधर भटक जाते हैं।

सौन्दर्याकर्षण एवं प्रणयानुभूतियों के चित्रण में बिहारी ने व्यंजना शक्ति का प्रयोग अधिक किया है जबकि देव मे अभिधा की प्रधानता है। इससे देव में शब्दों की भरमार अधिक है; भावनाओं का प्रस्फुटन कम, जबकि बिहारी में शब्द कम और भाव-व्यंजना अधिक है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

फिरि-फिरि चितु उत हीं रहतु, टुटी लाज की लाव।
अंग-अंग छबि झौंर मै भयौ भौंर की नाव॥—१०

—बिहारी

प्रेम पयोधि परौ गहिरे अभिमान को फेन न रह्यो गहि रे मन।
कोप-तरंगन सो बहिरे पछिताय पुकारत क्यों बहि रे मन!
'देव' जू लाज जहाज ते कूदि रह्यो मुख मूँदि, अजौ रहि रे मन।
जोरत, तोरत, प्रीति तू ही, अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन॥

—देव

उपर्युक्त काव्यांशों में सौन्दर्य के आकर्षण, मत की विवशता एवं लोक-लज्जा की उपेक्षा के चित्रण के लिए दोनों ही कवियों ने समुद्र और नौका का रूपक प्रस्तुत किया है किन्तु जहाँ देव ने 'प्रेम-पयोधि' 'अभिमान-फेन' 'कोप-तरंगन' और 'लाज के जहाज' का उल्लेख करके सम्पूर्ण अंगों का वर्णन किया वहाँ बिहारी ने केवल 'भयौ भौंर की नाव' से ही उनकी व्यंजना की है। देव का वाच्यार्थ सरल एवं स्पष्ट है किन्तु बिहारी के व्यंग्यार्थ की सी प्रभावोत्पादिनी शक्ति उसमें नहीं मिलती।

शृङ्गार रस के विभिन्न अंगों—हाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि, के चित्रण में जहाँ शास्त्रीय लक्षणों की पूर्ति का प्रयास किया गया है, दोनों ही कवियों का काव्यत्व किसी न किसी मात्रा में शिथिल हो गया है किन्तु

किर भी इस क्षेत्र में बिहारी देव से अधिक समर्थ एवं सफल प्रतीत होते हैं। देखिये—

तजी संक सकुचित न चित बोलत बाकु कु बाकु।
दिन छिनदा छाकी रहति, छुटतु न छिनु छबि छाकु ॥—२१८

—बिहारी

धुर ते मधुर, मधु-रस हू बिधुर करै
मधु-रस बेधि उर गुरु रस फूली है।
ध्रुव-प्रह्लाद उर हुव अह्लाद, जासों
प्रभुता त्रिलोक हूँ की तिल सम तुली है।
बदम से वेद-मतवारे मतवारे परे
मोहै मुनि-देव 'देव' सूली उर सूली है।
प्यालो भरि देरी मेरी सुरति-कलारी तेरी
प्रेम-मदिरा सों मोहि मेरी सुधि भूली है।

—देव

यहाँ आचार्यों द्वारा निरूपित 'मद'[1] संचारी भाव का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। बिहारी ने रूप-आसव-पान से विह्वल प्रेमिका की अनुभूतियों की व्यंजना की है जबकि देव ने प्रेम-मदिरा-पान से सम्बन्धित विभिन्न विषयों—प्याला, मधुबाला, बेसुधि आदि का वर्णन किया है, फिर भी जो स्वाभाविकता उपर्युक्त दोहे में है वह देव के छन्द में नहीं है। देव ने सुरति को मधुबाला का, प्रेम को मदिरा का रूप दे दिया है किन्तु प्याला किसका प्रतीक है—इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। दूसरे, प्रेमी जबकि प्रेम-मदिरा से पहले ही बेसुध हो रहा है—तो फिर सुरति से और प्रेम पूरित प्याले की याचना क्यों करता है? तीसरे यह कहना कि "मैं अपनी सुधि भूल गया हूँ" अपनी चैतन्यता प्रकट करता है। कोई भी बेसुध व्यक्ति अपने आपको बेसुध नही बताता; और यदि वह बताता है तो इसका अर्थ है उसे सुधि है। अस्तु, देव ने येन केन-प्रकारेण लक्षण-पूर्त्ति करदी है किन्तु वे इसमें काव्यत्व की दृष्टि से सफल नहीं कहे जा सकते हैं।

प्रणयानुभूतियों के क्षेत्र में जहाँ देव लक्षण-पूर्ति के उद्देश्य को भूलकर सहज स्वाभाविक रूप से काव्य रचना में प्रवृत्त हुए हैं, वहाँ उनके वर्णन में पर्याप्त मार्मिकता आ गई है—

---

१. मद—संचारी भाव का विवेचन—दशरूपक—धनंजय; पृ० १९६।

मूरति जो मन मोहन की,
मन मोहनी कै थिर ह्वै थिरकी-सी।
'देव' गुपाल को नाम सुने
सियराति सुधा छतियाँ छिरकी सी॥
नीके झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहिं,
नैनन लाज घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिये हिरकी,
खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी सी॥

—देव

यहाँ अनुराग की प्रारम्भिक अवस्था का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। एक ओर बाला-युवती का हृदय रूपासक्ति से विह्वल हो रहा है, दूसरी ओर वह लज्जा के भार से अवनत हो रही है। नायिका की विभिन्न चेष्टाओं—झरोखे से देखना, खिड़कियों के चक्कर काटना—से उसके हृदय की भाव-विभोर दशा का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।

प्रणय-दशा के क्रमिक विकास के साथ-देव ने संयोगकालीन दृश्यों की भी आयोजना विस्तार से की है। कहीं वर्षा की रिम-झिम बूँदों से सुशोभित वातावरण में कुंजों के समीप नायिका की अचानक प्रिय से भेंट हो जाती है, (५६) कहीं प्रेमी-प्रेमिका आलिंगनबद्ध होकर झूला झूलने में तन्मय हो रहे हैं, (६६) कहीं वे बाग-बाटिकाओं के बीच घूमते हुए प्रकृति की मनोहर छटा के अवलोकन के साथ-साथ अपने प्रेम पूर्ण हृदय का उल्लास व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं। (६८) ऐसे दृश्यों में कवि स्थूल ऐन्द्रिय-तृप्ति को भूलकर भावना की सूक्ष्म प्रवृत्तियों के उद्घाटन में ही लीन है—

चौगुनी रंग चढ़ी चित में,
चुनरी के चुचात, लला के निचोरत। —पृ० ४०

वर्षा के कारण चूनरी भीग गई; अवश्य ही उसका रंग धुल गया है, फीका पड़ गया है—किन्तु प्रिय के द्वारा निचोड़े जाने के कारण उसके हृदय को आज वह 'चौगुनी रंग चढ़ी' हुई प्रतीत हो रही है।

संयोग कालीन दृश्यों का चित्रण बिहारी ने भी किया है किन्तु उनमें नायिका के चेष्टागत सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति अधिक है; उसके हृदय की सूक्ष्मभावनाओं की व्यंजना की ओर उनका ध्यान कम है। फिर भी यह अन्तर बहुत अधिक खटकने वाला नहीं है—बिहारी के पाठक को भावजन्य

माधुर्य न सही, चेष्टागत सौन्दर्य तो मिल ही जाता है; किन्तु वियोगानुभूतियों के क्षेत्र में बिहारी और देव दो विरोधी दिशाओं की ओर अग्रसर हो जाते हैं। यह ठीक है कि प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ने पर वियोग-वर्णन में बिहारी के कुछ भाव-पूर्ण दोहे तथा देव के कुछ चमत्कार-पूर्ण छन्द मिल सकते हैं; किन्तु साधारणतः एक में चमत्कारिकता का प्राधान्य है जबकि दूसरे में भावात्मकता का। बिहारी के वियोग वर्णन परविस्तृत प्रकाश पहले डाला जा चुका है, यहाँ देव की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

आई नहीं तन में तरुनाई, भई नहीं स्याम के संग संयोगिनि।
कौने सिखाइ धौं सीख कहा, सुमिरै धरि ध्यान मनोजुग जोगिनि॥
भोजन बास न हास बिलास, उसास भरै मनौ दीरघ रोगिनि।
आँखिन ते अँसुआ नहिं सूखत, एकहि बाद ह्वै बैठि बियोगिनि॥

—देव-रत्नावली; छ० ५२

वे बतियाँ छतियाँ लहकैं, दहकैं विरहागिनि की उर आचैं।
वा बाँसुरी को परयो रसु री, इन कानन मोहन मंत्र से माचैं॥
को लगि ध्यान धरे मुनि लौं, रहिए कहिए गुन बेद से बाचैं।
सूझत ना सखि आन कछू, निसि द्यौस वेई अँखियान में नाचैं॥

—वही; छन्द ५३

'देव' घरी पल जात घुरीं,
अँसुवान के नीर उसास समीरन।
आहन जाति अहीर अहै,
तुम्हें कान्ह कहा कहौं काहू की पीर न!

—वही; छ० ५४

नेह रच्यो, विरहागि तच्यो, पिय पेम पच्यौ पजरै तन तूल सो!
सासनि दूखि, उसासनि रूखि, गयो मुख सूखि गुलाब के फूल सो!

—देव रत्नावली; छन्द ५८

साँसन ही सों समीर गयो,
अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि!
तेज गयो गुन लै अपनो,
अरु भूमि गई तनु की तनुता करि!!
'देव' जियै मिलिबे ही की आस,
कि आस हु पास अकास रह्यो भरि!

जा दिन ते मुख फेरि रहे हँसि,
हेरि हियो जू लियो हरि जू हरि !!
—दे० र०; छ० ८३

उपर्युक्त छन्दों में हम देखते हैं देव ने भी केवल नायिकाओं के ही—नायकों का नहीं—विरह वर्णन किया है; उनकी वियोगिनियाँ भी आँसू बहाती हैं; विरहाग्नि से उनका हृदय जलता है; असह्य वेदना के कारण वे भी मरणासन्न अवस्था के समीप पहुँच जाती हैं—किन्तु यहाँ बिहारी सतसई की भाँति जल-प्लावन, अग्निकाण्ड और प्रलय के दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होते। प्रिय की मूर्ति का आँखों में नाचना, रात-दिन आँसू बहाते रहना, मुख का गुलाब के फूल की तरह सूख जाना और श्वास, अश्रु, कान्ति, पुष्टता एवं मिलनाकांक्षाओं की विदाई के साथ-साथ पंच-भौतिक तत्त्वों का क्षीण हो जाना—आदि उक्तियों में अस्वाभाविकता के लिए रंच-मात्र भी स्थान नही है। वेदनानुभूतियों की छटपटाहट के कारण उनका हृदय चंचल और उद्विग्न होता है किन्तु वे सरकस की लड़कियों की भाँति अपने शारीरिक क्रिया-कलापों का तमाशा नहीं दिखाती; किसी निष्ठुर की प्रतीक्षा करते-करते वे अचेत और बेसुध होगई हैं, किन्तु वे काठ की पुतलियों की भाँति अपनी निर्जीवता का प्रदर्शन नहीं करतीं !

विरहानुभूतियों के चित्रण में देव की एक बड़ी भारी विशेषता है—आत्म-निवेदन के रूप में विरहोद्गारों की अभिव्यक्ति ! आत्माभिव्यक्ति की शैली के प्रयोग के कारण नायिका के दैन्य, रोष, उपालम्भ आदि की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक रूप में हुई है—

आहन जात अहीर अहै, तुम्हैं कान्ह, कहा कहौं,
काहू की पीर न !—दे० र०; छ० ५४

\+ + + +

ऐसे निरमोही सदा मोही में बसत,
अरु मोही ते निकस फेरि मोहि न मिलत हो।
—वही; छ० १५५

\+ + + +

प्यारे पराये सौं कौन परेखो,
गरे परि कौ, लगि प्यारी कहैए ! —वही; छन्द ११६

\+ + + +

मंद मुसक्याय लै, समाय जी में ज्याय लै रे,
प्याइले पियूष प्यासी, अधर सुधा की हूँ ! —वही

\+ + + +

ए अँखियाँ सखियाँ न हमारी ए,
जाय मिली जल बूँद ज्यौं कूप में ! —वही; छ० १३०

\+ + + +

कैसी भई, हौ कहो किन कैसे हु,
कान्ह कहाँ है, कहा बकती हो ! —वही; छ० ११३

\+ + + +

रावरे रूप लला ललचानी ये,
जानी न काहू बिकानि औ ऐसी ।

... ...

न्याय निवैरो न हौ यह नेह को,
जानत हौ तुम हूँ हम जैसी !
देखिबे ही को भरौं सिसकी,
तिनते रिसकी चरचा कहौ कैसी ! —वही; छन्द ८७

\+ + × +

काहे को मेरो कहावत मेरो जु
पै मन मेरो न मेरो कह्यो करै ! —वही; छ० ८२

\+ + + +

साँवरे लाल को साँवरे रूप में,
नैननि को कजरा करि राख्यो । —वही; ७८

\+ + + +

कहा लगि लाल कछू कहिए,
इतनी सहिए सब रावरे काज । —वही; ५०

\+ + + +

साथ मे राखिए नाथ, उन्हें,
हम हाथ में चाहथि चारि चुरी ये ! —वही

\+ + + +

सबते सब भाँति भली हरिनी,
निसिबासर पास रहै पिय कै । —वही; छ० २१६

इस प्रकार सरस उक्तियाँ बिहारी में भी कहीं-कहीं मिलती हैं किन्तु प्रायः उन सब में खंडिता नायिका का रोष और उपालम्भ ही मुखरित है !

उनमें उपेक्षिता पत्नी के दुःख की तो व्यंजना हुई है किन्तु प्रणय की गम्भीरता का आभास उनमें नहीं मिलता। बिहारी की नायिका अपने व्यंग्यपूर्ण शब्दों से परस्त्रीगामी पति के हृदय को बेधने का प्रयत्न करती है, द्रवित करने का नहीं; उसकी वाणी में कठोरता है, दैन्यता नहीं; उसके स्वर में तीव्रता है, लोच नहीं। यही कारण है कि हम उसे चतुर, प्रवीण और उद्विग्ना तो कह सकते हैं किन्तु देव की नायिकाओं की सी आर्द्र कोमलता, तरल भावुकता एव स्निग्ध वाचालता उसमें नहीं मिलती।

अस्तु, एक ही युग, एक ही भाषा और एक ही परम्परा के इन दोनों कलाकारों की प्रतिभा का विकास दो भिन्न क्षेत्रों में हुआ। एक के पास पांडित्य है, अध्ययन है, दृष्टि की सूक्ष्मता है और शब्दों का अगाध भंडार है तो दूसरे के पास अनुभूतियों का अविरल स्रोत, छन्दों की कमनीयता और भाषा की कोमलता है। जहाँ तक सौंदर्य के सूक्ष्म चित्रण का प्रश्न है; नायिकाओं की मुँह-बोलनी तस्वीर खीचने की बात है, बिहारी देव से बहुत आगे हैं, किन्तु भावों की तरल अभिव्यक्ति में देव के समक्ष बिहारी शुष्क, उदास और फीके से दिखाई पड़ते हैं। देव का काव्य-क्षेत्र भी व्यापक है; संयोगकालीन दृश्यों की जैसी विविधता उसमें है, उसका बिहारी सतसई में अभाव है। और वियोगानुभूतियों की दृष्टि से तो देव के वैभव के सम्मुख बिहारी अकिंचन से प्रतीत होते है। फिर भी जो विद्वान् बिहारी को बड़ा सिद्ध करना चाहते हैं; उनकी बात भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अवश्य ही बिहारी वय में देव से लगभग ६०–७० वर्ष बड़े थे।

८. बिहारी और विक्रमसाहि

'बिहारी-सतसई' काव्य-गुणों की दृष्टि से उत्कृष्ट हो या न हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस युग के साहित्यिक समाज में इसका प्रचार इतना अधिक हुआ कि कवियों[1] ने बिहारी के अनुकरण पर सतसइयों की रचना की। इन कवियों के प्रतिनिधि के रूप में विक्रम-सतसई के रचयिता विक्रम-साहि (जो कि ब्रजभाषा की सतसई परम्परा के अन्तिम कवि हैं) से बिहारी की तुलना करनी उचित होगी।

'विक्रम-सतसई' के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना

---

१. मतिराम, रस-निधि, राम, विक्रम आदि।

—'सतसई–सप्तक' श्यामसुन्दरदास

'बिहारी-सतसई' को आदर्श मानकर की गई थी। बिहारी सतसई की अनेक प्रवृत्तियाँ जैसे :—मंगलाचरण के रूप में राधा की स्तुति, कृष्ण के प्रति दैन्य–प्रदर्शन तथा उन्हें अपने 'दीनबन्धु' 'करुणाकर' 'पतित तपावन' आदि के विरुद की रक्षा के लिये उकसाना, अलग-अलग दोहों में नायिका के नख-शिख का वर्णन, हाव और अनुभावों का सूक्ष्म-चित्रण, संयोग-पक्ष की प्रधानता आदि 'विक्रम-सतसई' में मिलती है। बिहारी की अनेक उक्तियों, भावों और शब्दों को भी विक्रमसाहि ने निःसंकोच रूप से ग्रहण कर लिया है, कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(क) दोहा—छकि रसाल सौरभ, सने मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झौंरत झपत, भौंर झौंर मधु अंध॥
—बिहारी; ४९३

बरवै—बहत समीर सु-सीतल मंद सुगंध।
ठौर ठौर सखि गुञ्जत मधुप मदंध॥
—विक्रम-सतसई; २१९

(ख) लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुह जोर तुरंग ज्यौं, ऐंचत हू चलि जाहिं॥
—बिहारी–रत्नाकर; ६१०

हटके हठ मानत नहीं दृग–तुरंग तजि नेहु।
समुझ सयानी अब इन्हें, लाज लगाम न देहु॥
—विक्रम-सतसई; १९९

(ग) जदपि नाहीं नाहीं, बदन लगी जक जाति।
तदपि भौंह हांसी, भरिनु हांसी यै ठहराति॥
—बिहारी–रत्नाकर; ३२४

नाहीं–नाहीं कहत ही नाहीं सौं लगि जाइ।
छुटी मुठी तैं भय भरी, लगी धाइ उर धाइ॥
—विक्रम--सतसई; ३७०

यद्यपि उपर्युक्त दोहों में बिहारी से गहरा साम्य है, किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि विक्रमसाहि ने सभी दोहों में बिहारी–सतसई का अनुवाद मात्र कर दिया है। वस्तुतः ऐसे दोहों की संख्या लगभग ५०–६० है। दूसरे, बिहारी की उक्तियों के पिष्टपेषण के लिये उन्हें दोषी मानना भी अनुचित है। स्वयं बिहारी ने भी अनेक दोहों में पूर्ववर्ती कवियों के भाव अपहृत किये

थे, अतः उन्हीं के अनुकर्त्ता विक्रम का भी ऐसा करना स्वाभाविक था। विक्रम का कोई दोष है तो यह कि बिहारी की भांति वे पूर्ववर्ती भाव को सुरक्षित रखते हुए उसे अधिक मार्मिक शब्दों में व्यञ्जित नहीं कर सके। बिहारी की कला का विकास अनुवादित दोहों में मिलता है जब कि इसके विपरीत विक्रम का काव्यत्व उनके मौलिक दोहों में ही दृष्टिगोचर होता है।

विक्रम के नख--शिख वर्णन में बिहारी की अनेक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, किन्तु उनके ज्योतिष, दर्शन, नीति--शास्त्र के ज्ञान का पुट उनमें नहीं मिलता, अतः बिहारी की शुष्कता, जटिलता एवं दुरूहता को छोड़ कर उनके शेष सभी गुण विक्रम में मिलते है। देखिए :—

छिप्यौ छबीलौ मुंहु लसै नीले अंचर चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिन्दी कै नीर॥

—बि० र०; ५३८

नील बसन दरसत दुरत गोरी गोरे गात।
मनौ घटा छन रुचि छटा घन उघरत छपि जात॥

—विक्रम–सतसई; ४२

यहाँ दोनों ही कवियों ने नीलाम्बर में सुसज्जित नायिका की छबि का अंकन किया है। आधुनिक युग के कवि प्रसाद ने भी श्रद्धा को इसी रूप में देखा है :—

नील परिधान बीच सुकुमार
खिल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥

—कामायनी, श्रद्धा सर्ग

उपर्युक्त तीनों पद्यों की पारस्परिक तुलना से कई बातें दृष्टिगोचर होती हैं। बिहारी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हुए नीले अंचल को यमुना के जल की तथा नायिका के मुख को शशि की उपमा दी है। यमुना के लहराते हुए जल में प्रतिबिम्बित चाँद सुन्दर तो लगता है किन्तु फिर भी वह द्रष्टा को बलात् आकर्षित नहीं करता। दूसरे, कालिन्दी के नीर के कारण चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की शोभा में अधिक वृद्धि हो यह भी आवश्यक नहीं, तीसरे, यहाँ प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत का आख्यान अधिक हुआ है (नायिका के वर्ण का उल्लेख इसमें नहीं किया गया) इससे पाठक प्रस्तुत को

भूल कर अप्रस्तुत की कल्पना में उलझ जाता है। वस्तुतः यहाँ अलंकारिकता नायिका के सौन्दर्य में अभिवृद्धि तो करती है किन्तु साथ ही उसे आच्छादित भी कर लेती है। विक्रम और प्रसाद में यह बात नहीं मिलती। इन दोनों का लक्ष्य अपनी कल्पना-शक्ति का वैभव दिखाने की अपेक्षा वस्तु के सौन्दर्य को अधिकाधिक अनुभूति-गम्य बना देना है, अतः दोनों ने ही नील-वस्त्र तथा नायिका के गोरे और गुलाबी रंग का उल्लेख स्पष्ट रूप में किया है। दोनों ने ही वस्त्र को मेघ का रूप दिया है तथा बाला के सौन्दर्य को विद्युत का। दोनों ने ही सौन्दर्य को अर्द्ध-स्फुट रूप में अंकित किया है। प्रसाद ने इन पंक्तियों की रचना विक्रम-सतसई को सामने रख कर की होगी, ऐसा हम नहीं मान सकते। वस्तुतः इस साम्य का कारण दोनों की सहज-स्वाभाविक अनुभूतियाँ हैं।

विक्रम ने नख-शिख वर्णन मे प्रायः सर्वत्र ही ऐसी उपमाओं का प्रयोग किया है जो आचार्य शुक्ल के शब्दों मे वस्तु के 'बिम्ब-ग्रहण' में सहायक हों। जैसे—

मृगनैनी की पीठ पर बेनी लसत सुदेस !
कनकलता पर जनु चढ़ी स्याम भुजंगिनि बेस ॥

—वि० स०; ६०

बिहारी के प्रभाव से कहीं-कहीं विक्रम ज्योतिष की शब्दावली का भी प्रयोग करते है; किन्तु इससे पाठक के अर्थ-ग्रहण में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती—

विधु सम सोभा सार लै रच्यौ बाल मुख इंदु ।
दियौ इंदु मैं अंक मिस राहु हेत मसि बिन्दु ॥

—वि० स०; २८६

भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे विराजि ।
इन्दुकला कुज में बसि, मनौ राहु-भय भाजि ॥

—बिहारी–रत्नाकर; ६६०

उपर्युक्त दोहों में विक्रम ने ज्योतिष के सर्व-प्रचलित शब्दों—विधु, इंदु, राहु—का प्रयोग किया है जब कि बिहारी ने उसके गूढ़ सिद्धान्त को (बृहत्पाराषर होरा–शास्त्र, पूर्व खंड, अध्याय ३६) गुम्फित किया है। बिहारी के दोहे को समझने के पहले तो वृहत्पाराशर होरा-शास्त्र के उक्त सिद्धान्त को समझना होगा, और फिर भी इससे हृदय की तृप्ति न होकर बुद्धि का व्यायाम

होगा। इसके अतिरिक्त विक्रम अपनी अनुभूति के मिश्रण से 'नख-शिख' वर्णन को ऐसी तरलता, आर्द्रता एवं सरसता प्रदान कर देते हैं जिसका बिहारी में अभाव है। यथा—

खंजन कंजन मीन से कहत सबै कवि बैन।
तेरेई जुग मैन से तेरेई जुग नैन॥

—विक्रम सतसई; १९१

कै रंभा कै उरबसी कै तिलोत्तमा नाम।
किधौ काम की कामिनी किधौं बाम अभिराम॥

—वही; ६७

कहैं मिसरी कहैं ऊख रस, नहीं पियूष समान।
कलाकन्द कतरा कहा तुव अधरा रस-पान॥

—वही; ७०

अभिरामा स्यामा सरस यह लचकीले लंक।
ह्वै निसंक उर संक तजि गहि लीजे भरि अङ्क॥

—वही; ३५४

यह ठीक है कि उपर्युक्त दोहों में कल्पना की वैसी सूक्ष्मता, अलंकारों का वह चमत्कार, भाषा का वह सौष्ठव एवं समास-शक्ति का वैसा नैपुण्य जो कि बिहारी-सतसई में उपलब्ध होता है, यहाँ नहीं मिलता है। किन्तु प्रश्न है—शृङ्गार रस के क्षेत्र में नख-शिख वर्णन का उद्देश्य क्या है? भाषाधिकार की परीक्षा देना या आलम्बन को भावोद्दीपन योग्य बना देना? जो लोग दूसरे उद्देश्य को स्वीकार करते हैं, वे अवश्य ही विक्रम के नख-शिख वर्णन को पसन्द करेंगे।

संयोगानुभूतियों की व्यंजना के क्षेत्र में भी विक्रम बिहारी की भाँति नायिका की स्थूल चेष्टाओं के दर्शन में ही लीन नहीं हो जाते; वे कुछ आगे बढ़ते हैं और उसके हृदय की लोल-तरंगों का भी अवलोकन करते हैं—

कर परसत ससकत खरी सकत न अंग सम्हारि।
इंद्र-बधूटी लौं दुरत नबल बधूटी नारि॥

—विक्रम०; ३७६

नेह नीर बंसी नयन बतरस गारौ लाइ।
कछु प्रतीत कछु भीत तिय झझकि झझकि झुकि जाइ॥

वही; ३७७

प्रिय की संयोग-चेष्टाओं का निषेध बिहारी की नायिका तो आचार्यों के 'कुट्टमित हाव' के अनुकरण के निमित्त ही करती हुई सी प्रतीत होती है जबकि विक्रम की नायिका इसका वास्तविक कारण भी बताती है—

रद-छद अधर न कीजिए, नागर नन्द-किसोर ।
सास ननद सौजोर मुख कहा कहौंगी भोर ॥

—विक्रम; ३८१

लाज गहौ धीरज धरौ ए पिय चतुर सुजान ।
स्रवन सुखद नूपुर निनद ननद न सुनि है कान ॥

—विक्रम; ३८८

उपर्युक्त दोहों का अर्थ तो मर्म-स्पर्शी है ही, जरा इस बाला के शब्द-प्रयोग की शिष्टता, वाणी के माधुर्य एवं स्वर की कोमलता पर भी ध्यान दीजिए। बिहारी की नायिका जहाँ ऐसे अवसरों पर रूखे स्वरों में केवल 'नांही–नांही' का उच्चारण करके अपनी अप्रगल्भता का परिचय देती है; वहाँ विक्रम की नायिका 'न कीजिए' 'नागर' 'चतुर सुजान' जैसे शब्दों द्वारा अत्यन्त शालीनता से अपनी बात कहती है। यह भी उल्लेखनीय है कि बिहारी की नायिका चाहे उसका पति हो, प्रेमी हो या कोई अन्य अपरिचित कामी लम्पट हो—सबके लिए, वह इन्ही शब्दों का प्रयोग करती है तथा सभी के साथ उसके व्यवहार का यही एक बंधा-बंधाया ढङ्ग है। साथ ही विक्रम के दूसरे दोहे की अन्तिम पंक्ति भी द्रष्टव्य है। 'नूपुरों के स्वर' की वह पहले प्रशंसा करती है—'श्रवण सुखद !' क्यों ? अन्ततः नूपुरों की ध्वनि प्रिय की क्रिया-विशेष से ही तो उत्पन्न होती है, अतः उसकी भर्त्सना करने का तात्पर्य है प्रिय का अपमान करना। भला, विक्रम की सुसभ्य, सुसंस्कृत, सुशिष्ट नायिका ऐसा कैसे कर सकती है। अब यहाँ विचारणीय यह है कि ऐसी परिस्थितियों में जबकि एक ओर चतुर सुजान पिय किसी विशेष बात के लिये उतावले हो रहे हैं, दूसरी ओर ननद आस-पास ही कहीं चक्कर काट रही है, विक्रम की नायिका किस मार्ग का अवलम्बन करे ? क्या वह पति को अप्रसन्न कर दे ? या निर्लज्ज होकर ननद-जेठानियों से अपना उपहास कराना स्वीकार कर ले ? ऐसा लगता है उसके हाथ इस समय भी नूपुरों पर पड़े हुए हैं, वह उन्हें उतारने का उपक्रम कर रही है; इसीलिए तो कह रही है—"धीरज धरौ ए पिय !" (अर्थात् दो क्षण ठहरो, मैं इन्हें उतार देती हूँ।)

वस्तुतः काव्य-शास्त्र की कोई पुस्तक खोलकर बैठ जाना और उसके अनुसार पद्य में उदाहरण जुटा देना और बात है और जीवन की वास्तविक

अनुभूतियों के आधार पर सहज स्वाभाविक ढंग से काव्य-रचना करना कुछ और ! सच्चे कवि काव्य-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किए बिना भी भावों का सरस चित्रण कर सकते हैं, इसके प्रमाण के लिए विक्रम के उपर्युक्त दोहे की तुलना कबीर की इन दो पंक्तियों से कीजिये—

धीरे पाँव धरो पलंगा पर,
जागत ननद जेठानी !

कहै कबीर सुनो भाई साधो,
लोक लाज बिलछानी ॥१६०॥

यहाँ कबीर की नायिका भी प्रियतम से धीरे पाँव धरने का अनुरोध करती हुई ननद-जेठानियों के जागने का उल्लेख करती है ! वस्तुतः इसके पीछे भारतीय गार्हस्थ्य जीवन की वास्तविक परिस्थितियों का आधार है। आज संयुक्त-परिवार-प्रथा को मानने वाले भरे-पूरे कुटुम्बों में नवबधुएँ कुछ ऐसा ही अनुरोध उत्साही प्रिय से करती हैं।

'विक्रम-सतसई' में विरह-वर्णन सम्बन्धी दोहों की संख्या बहुत थोड़ी है; किन्तु उनमें बिहारी की सी ऊहात्मकता नहीं मिलती—

कल न परत जब तें कही ललन चलन की बात।
लगी पिया छतिया तिया छतिया नहीं सिरात ॥—विक्रम०; ६४१

कहा कहौं कहत न बनत प्रीतम करत प्रयान।
बरबस आप समान मुहि करि है अतन अमान। वही; —६४३

मिलि बिछुरत मिलि मिलि चलत फिरि फिरि मिलि अकुलाय।
दिन-दिन चलन कहै ललन दिन-दिन रहि-रहि जात ॥—६४५

उपर्युक्त दोहों में तो केवल विरह की प्रारम्भिक अवस्था का निरूपण किया गया है। अभी नायक विदा नही हुआ है किन्तु उसकी भावी कल्पना मात्र से नायिका की कैसी दशा हो जाती है, यह द्रष्टव्य है। विक्रम के नायक के हृदय में भी विरह-वेदना का संचार होता है इसीसे वह नित्य जाने का कार्य-क्रम बनाकर भी जा नहीं पाता। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त दोहों में कामुकता और रसिकता की अपेक्षा प्रणय की ही अधिकता दृष्टिगोचर होती है।

विरह-वेला के चित्रण में विक्रम का लक्ष्य सर्वत्र विरहिणी-नायिका की हृदयस्थ वेदना के उद्घाटन का ही रहा है। वे उसकी विकल, विवश एवं बेसुध अवस्था का निरूपण मार्मिकता पूर्ण शब्दों में कर देते हैं—

कल न परत, तलफत तलप अलप बचन मुख नाहि ।
जतन-जतन की याचना करत अतन तन माहि ।।—विक्रम०; ५६२
प्रनत रसत मिलत न बनत रहत न बनत बिहाल ।
घरी-घरी तलफत खरी परी-परी सी बाल ।। —वही; ५६३
विरह जरनि गुरजनि दुरनि छुवत न पंकज-पात ।
जोवति मग सोवति नहीं रोवत रैन बिहात ।। —वही; ५६५
नहिं बोलत डोलत नहीं खोलत नहीं कपाट ।
लेखत दिन वेषत गहै, पेखत पिय की बाट ।। —वही; ५६६

और अन्त में वह दिन भी आता है जबकि वह प्रिय-आगमन का समाचार सुनती है—

मन भावन आवन सुनौ सुख सरसावन बोल ।
पुलकत तनु हुलसत हियौ विहँसत ललित कपोल ।।—६४८

यहाँ उदाहरण-स्वरूप कुछ दोहे ही उद्धृत किये जा सके हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि विक्रम का प्रत्येक दोहा एक से एक बढ़कर सरस, स्वाभाविक, कोमल और मधुर है। उनकी सतसई में से—कोई भी दोहा लीजिये कही भी भावों की अस्पष्टता, कल्पना की दुरूहता, व्यवहार की अशोभनीयता, रुचि की कुत्सितता, दृष्टि की कलुषिता, अलङ्कारों की अतिशयता, और भाषा की कठिनता दृष्टिगोचर नहीं होगी। बिहारी के शृङ्गार वर्णन को दूषित करने वाली जिन सात प्रवृत्तियों की चर्चा पीछे की गई है उनमें से एक भी इस सतसई मे नही मिलती। प्रारम्भ में मंगलाचरण सम्बन्धी कुछ भक्ति पूर्ण दोहों के अतिरिक्त सर्वत्र विक्रम ने एक ही रस का वर्णन किया है। शृङ्गार के विभिन्न प्रयोगों का आयोजन इस प्रकार किया गया है कि सारी सतसई एक प्रणय-कहानी सी प्रतीत होती है। देवर, पड़ौसी, उपपति से सम्बन्धित कुत्सित दृश्यों का तो मानो विक्रम ने बहिष्कार सा कर दिया है। रीति के लक्षणों की पूर्त्ति इसमें स्वाभाविक ढंग से हुई है, कहीं भी कवि का प्रयत्न परिलक्षित नही होता। ज्ञान-प्रदर्शन और अलङ्कारिकता के मोह से भी कवि बचकर चला है। दोहों का प्रयोग अवश्य विक्रम ने किया है किन्तु भाषा की कोमलता के कारण उनमें कुछ ऐसी लचक, कुछ ऐसा प्रवाह आ गया है जो बिहारी के दोहों में नही मिलता। इसके अतिरिक्त विक्रम के पास प्रयोगों का अभाव प्रतीत नही होता। अतः सतसई की संख्या पूरी करने के लिये उन्हें इधर उधर के विषयों को लेने की आवश्यकता नही पड़ती।

अस्तु, इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बिहारी का शृङ्गार-निरूपण अधिक स्वच्छ, अधिक विकसित एवं अधिक परिष्कृत रूप में कुछ अधिक रोचक, कोमल एवं मधुर भाषा में तथा और भी अधिक विदग्धता, शिष्टता एवं सरसता के साथ विक्रम-सतसई में उपस्थित हुआ है। मानों बिहारी-सतसई खदान में से सद्यः निष्कसित अशुद्ध स्वर्ण के समान है विक्रम ने उसे शोधकर, तपाकर और निखारकर कुन्दन का रूप दे दिया है।

बिहारी का महत्त्व

बिहारी के महत्त्व पर विचार करते हुए विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—

(क) **श्री पद्मसिंह शर्मा**—"हिन्दी कवियों में श्रीयुत महाकवि बिहारीलाल का आसन सबसे ऊँचा है। शृङ्गार-रस-वर्णन, पद-विन्यास-चातुर्य, अर्थ गाम्भीर्य, स्वभावोक्ति और स्वाभाविक बोलचाल आदि खास गुणों में वह अपना जोड़ नहीं रखते।" (संजीवन भाष्य—पृ० २४५)

"अन्य कवियों की अपेक्षा बिहारी ने विरह का वर्णन बड़ी विचित्रता से किया है। इनके इस वर्णन में एक निराला बाँकपन है, कुछ विशेष वक्रता है, व्यंग्य का प्राबल्य है, अतिशयोक्ति और अत्युक्ति का अत्युत्तम उदाहरण है जिस पर रसिक सुजान सौ जान से फिदा है।" (पृ० १५६)

(ख) **लाला भगवानदीन**—"बिहारी हिन्दी साहित्य का चौथा रत्न है (तुलसी, सूर और केशव के बाद)। देव बहुत नीचे दर्जे का कवि है। देव हिन्दी साहित्य को बदनाम करने वाला प्रथम कवि है।·····'जाति-विलास' जैसा ग्रंथ लिखकर केवल स्त्री-भेद निरूपक विषय बनाने की बहुत बुरी चेष्टा की।·····एक पवित्र और समीचीन विषय को अपवित्र और अश्लील बना डालना एक कुकवि (देव) ही का काम है।"

(बिहारी और देव—पृ० ७३–७४)

(ग) **पं० कृष्ण बिहारी मिश्र**—"बिहारी के समान हिन्दी के अनेकानेक और कवियों ने चमत्कार-पूर्ण दोहे लिखे हैं।·····कविवर मतिराम के अनेकानेक दोहे निश्चय पूर्वक सतसई के दोहों की टक्कर के हैं।"

(देव और बिहारी—पृ० ६०)

(घ) **आचार्य श्यामसुन्दरदास**—"बिहारी ने सतसई के अतिरिक्त कोई और रचना की हो या न की हो, परन्तु उनके कीर्ति विस्तार के लिये एक सतसई ही पर्याप्त है। जितना प्रचार उनकी सतसई का हुआ, रामचरित

मानस को छोड़कर उतना कदाचित् ही किसी अन्य ग्रन्थ का हुआ हो उस पर दर्जनों टीकाएँ हो चुकी हैं और अब तक होती जा रही हैं।"

(सतसई-सप्तक—पृ० २७)

(ङ) **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**—"शृंगार रस के ग्रन्थों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं।·····इसकी पचासों टीकाएँ रची गई। इतने से ही इस ग्रंथ की सर्व-प्रियता का अनुमान हो सकता है।" (हि० सा० इ०—पृ० २४६–४७)

(च) **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी**—"रीतिकाल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि बिहारीलाल थे। इनकी सतसई पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं।····· इस परंपरा के भार ने उनकी भाषा को उनके द्वारा कल्पित उस नायिका की भाँति ही सूधो पाँय धर सकने के अयोग्य बना दिया है जो अपनी शोभा के भार से ही लडखड़ा उठी थी।····· फिर बिहारी सूक्ति संग्राहक कवि थे।" (हिन्दी साहित्य; पृ० ३२५–३२९)

(छ) **श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र**—"प्रेम के भीतर उन्होने (बिहारी ने) सब प्रकार की सामग्री, सब प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किए और वे भी इन्हीं सातसौ दोहों में ही। यह भी उनकी एक विशेषता ही है। नायिका भेद या शृङ्गार का लक्षण ग्रन्थ लिखने वाले भी किसी नायिका या अलंकार आदि का वैसा साफ उदाहरण प्रस्तुत करने में समर्थ नही हुए जैसा बिहारी ने किया है।·····साथ ही हमें यह भी मान लेने में आना कानी नहीं करनी चाहिए कि उनकी जोड़ का हिन्दी में कोई दूसरा कवि नहीं हुआ। क्योंकि मुक्तकों में जो-जो विशेषता होनी चाहिएँ वे बिहारी मे सबसे अधिक मात्रा में पाई जाती है। दुराग्रह करने वालों की दवा ही क्या!"

(बिहारी की वाग्विभूति; पृ० ११८–११९)

उपर्युक्त उद्धरणों का विश्लेषण करने पर मुख्यतः ये निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—(१) बिहारी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। (२) उनका विरह-वर्णन सब कवियों में विचित्र है। (३) बिहारी हिन्दी के चौथे रत्न हैं। (४) देव की सी अश्लीलता बिहारी में नहीं मिलती। (५) सतसई का प्रचार रामचरित मानस के अतिरिक्त अन्य सब ग्रन्थों से अधिक हुआ है। (६) सतसई की टीकाएँ सबसे अधिक संख्या में लिखी गई। (७) हिन्दी के कुछ अन्य कवियों के दोहों में भी बिहारी का सा चमत्कार मिलता है। (८) बिहारी रीतिकाल के सर्वाधिक लोक-प्रिय कवि थे। (९) परंपरा के भार के कारण

बिहारी की भाषा दोषपूर्ण हो गई। (१०) बिहारी सूक्ति-संग्राहक थे। (११) बिहारी ने शृङ्गार रस के सभी अंगों का वर्णन किया है। (१२) नायिका भेद के उदाहरण जुटाने में अद्भुत सफलता प्राप्त की (१३) मुक्तकों की सभी विशेषताएँ उनमें मिलती हैं।

उपर्युक्त निष्कर्षों में सबसे पहले निष्कर्ष—बिहारी की सर्वश्रेष्ठता सम्बन्धी—पर तो विचार करना ही अनावश्यक है। बात यह है कि श्री पद्मसिंह शर्मा की आलोचना न होकर कविता होती है और उस कविता में भी बिहारी की कविता के दोनों गुण—अतिशयोक्ति और ऊहात्मकता—भरपूर मात्रा में मिलते हैं। अतः शर्मा जी के निष्कर्ष को कवि-कल्पना सदृश ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। दूसरे निष्कर्ष से हम भी सहमत हैं—सचमुच, बिहारी के विरह-वर्णन की विचित्रता को समझना बड़े-बड़े विद्वानों का ही काम है। यदि हिन्दी में कुल कवि चार या पाँच ही माने जायँ तो हम तीसरे निष्कर्ष को भी स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं। जहाँ तक अश्लीलता का प्रश्न है, यह पीछे दिखाया जा चुका है कि इस क्षेत्र में बिहारी भी किसी से कम नहीं है। भाषा का दोष-पूर्ण होना, या कोरा सूक्ति संग्राहक होना किसी भी कवि के लिए अच्छा नहीं माना जाता, फिर भी कुछ अंश में से दोनों दोष बिहारी में मिलते हैं, इसे स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। ग्यारहवें और बारहवें निष्कर्ष से भी हम सहमत हैं किन्तु ये विशेषताएँ भी काव्यत्व की महत्ता सिद्ध नहीं करतीं। तेरहवाँ निष्कर्ष डा० विश्वनाथ ने संभवतः उन दिनों निकाला था जब कि कविता का अध्ययन नहीं किया था, क्योंकि उन्होंने अपनी पुस्तक 'घनानन्द कवित्त की भूमिका में रीति मुक्त कवियों को बिहारी, देव आदि से उत्कृष्ट सिद्ध किया है। अतः विचारणीय निकर्ष केवल दो—टीकाओं का लिखा जाना और लोक प्रियता—रह जाते हैं। इनके सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रबन्ध में पीछे भी कोई चर्चा नहीं की गई, अतः इन पर विस्तृत रूप से विचार करना उचित होगा।

टीकाओं की रचना—इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिहारी सतसई पर लिखी गई टीकाओं की संख्या बहुत बड़ी है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम केवल इसी तथ्य के आधार पर कि किसी रचना की बहुत सी टीकाएँ रची गई हैं—उसे सर्व-प्रिय मान लें? यदि टीकाओं का रचा जाना ही किसी काव्य की लोक-प्रियता का सूचक माना जाय तो फिर राम-चरित-मानस, सूर-सागर, मीरा की पदावली, या कबीर की साखियां लोक-प्रियता से सर्वथा

शून्य सिद्ध होंगी क्योंकि सतसई की तुलना में इनकी टीकाओं की संख्या नगण्य है। वस्तुतः सरल स्वाभाविक सच्चे काव्य के अध्ययन के लिए टीकाओं की अपेक्षा नहीं होती। टीकाएँ ऐसे ही काव्यों की लिखी जाती हैं जो अस्पष्ट हों, दुरूह हों और जटिल हों। बिहारी की सतसई में यह गुण भर-पूर मात्रा में पाया जाता है। कहीं पाठक को प्रसंग सोचने के लिए बहुत सोचना पड़ता है, कहीं भाव को समझने के लिए उलझना पड़ता है तो कहीं कोई रीति-तत्व या रूढ़ि होती है। इस तथ्य को स्वयं आचार्य शुक्ल ने भी स्वीकार किया है—"अनेक स्थानों पर इनके व्यंग्यार्थ को स्फुट करने के लिए बड़ी विलष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलों पर केवल रीति या रूढ़ि ही पाठक की सहायता करती है और उसे एक पूरे प्रसंग का आक्षेप करना पड़ता है। ऐसे दोहे बिहारी में बहुत से है।"[१] अस्तु, ऐसी स्थिति में विद्वानों को सतसई की टीका लिखने की प्रेरणा मिलनी स्वाभाविक थी।

यहाँ दूसरा प्रश्न उठ सकता है—टीकाओं की आवश्यकता किसी एक टीका से पूरी हो सकती थी, पचासों विद्वानों ने अलग अलग टीकाएँ क्यों लिखीं? इसका भी उत्तर यह है कि एक तो उस समय मुद्रण-यंत्र का प्रचार नहीं था जिस से कि एक ही टीका की कई प्रतियाँ उपलब्ध हो सकें। दूसरे जो विद्वान् स्वयं टीकाएँ लिखते थे वे उसे अशर्फियों के मोल ही राजा महाराजाओं को दिखाते थे तथा उसे अपने वंशजों तक ही सीमित रखते थे। इसके अतिरिक्त बहुत सी टीकाएँ अशुद्ध होती थी जिनसे असंतुष्ट होकर भी भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न टीकाएँ लिखते रहे होंगे। आधुनिक युग की ही बात लीजिए—रत्नाकर जी के पूर्व भी कई टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी थी—फिर भी उन्होने नई टीका इस लिए निकाली क्योंकि उन्हें पूर्व-रचित टीकाओं से संतोष नहीं था। एक तीसरा प्रश्न है जबकि बिहारी सतसई इतनी उच्चकोटि की रचना नहीं थी तो लोग उसके पीछे क्यों पड़े रहे? इसका उत्तर है कई बार कुछ ऐसे बाह्य कारण होते हैं जिनसे कोई रचना उत्कृष्ट न होते हुए भी बहुत अधिक विख्यात हो जाती है या लोगों का ध्यान आकर्षित कर लेती है। इस बात के अनेक प्रमाण इस युग में भी देखे जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य में समालोचना का आरम्भ ही बिहारी और देव को लेकर हुआ। बिहारी के विरोधियों और पक्षपातियों के बीच ऐसा संघर्ष छिड़ा कि

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २४६

बिहारी संघ सम्बन्धी लेखों और पुस्तकों का तांता सा लग गया ? हिन्दी के साहित्यकार अन्य सब कवियों को भूल कर बिहारी और देव की ही चर्चा में लीन हो गये। क्या उस समय सूर तुलसी की अपेक्षा बिहारी और देव अधिक बढ़ गए थे। यदि उन दिनों की आलोचनात्मक पुस्तकों की संख्या के आधार पर निर्णय किया जाय तो ऐसा ही मानना होगा। इसी प्रकार आज यदि कोई पुस्तक किसी पाठ्य-क्रम में लगवादी जाय तो वह चाहे कैसी ही निकृष्ट क्यों न हो—चल पड़ेगी। १७वीं–१८वीं शती में जब कि साहित्याध्ययन का ही तात्पर्य नायिका–भेद, रीति अलंकार आदि का सम्यक ज्ञान तथा ब्रज-भाषा पर अधिकार प्राप्त करना था तथा जबकि नरेश और राजकुमार रीति, नायिका-भेद का अध्ययन ही नहीं, इन पर काव्य रचना[1] भी करते थे बिहारी सतसई का महत्व एक पाठ्य-क्रम में लगी हुई पुस्तक जैसा ही था। यह एक ऐसा ग्रन्थ था जिसमें भक्ति, नीति और शृङ्गार सम्बन्धी सभी प्रचलित बातें, रीति नायिका भेद और अलंकारों के सभी उदाहरण और ब्रज भाषा के प्रौढ़स्वरूप आदि सभी बातें जो उस युग में शिक्षित कहलाने वाले व्यक्ति के लिए ज्ञातव्य थीं, सभी एक साथ मिल जाती हैं। बिहारी-सतसई पर रचित विभिन्न टीकाओं की निरूपण—शैली भी इसी बात को सिद्ध करती है कि उनकी रचना आश्रयदाताओं अथवा उनके वंशजों को सतसई के अध्ययन में सहायता पहुँचाने के निमित्त ही हुई है। इसके अतिरिक्त एक प्रमाण बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर के इस कथन में भी मिलता है—"यों तो उक्त पुस्तकालय में सतसई की कई प्रतियाँ हैं, पर बिहारी के हाथ की लिखी कोई नहीं मिली। जो प्रति सबसे प्राचीन है, उसकी प्रतिलिपि पंडित जी को बड़ी कठिनता से उतारने को मिली। यह मिर्जा राजा जयशाह के पुत्र कुंवर श्री रामसिंह जी के पढ़ने के निमित्त लिखी गई थी।"[2]

वैसे भी बिहारी ने सतसई की रचना का आरम्भ बड़ी शुभ घड़ी में किया था। उसके एक ही दोहे से किसी आसक्त नरेश का प्रिया के आकर्षण जाल से मुक्त हो जाने के प्रवाद ने भी सतसई के प्रचार में कम योग नहीं दिया होगा। अस्तु, कारण कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि विद्वानों में सतसई का बहुत प्रचार हुआ। सम्भव है इसी प्रचार से प्रभावित होकर

---

१. यथा महाराजा जसवन्तसिंह (भाषा-भूषण) !

२. बिहारी-रत्नाकर—ले० जगन्नाथदास रत्नाकर—भूमिका

कुछ काव्य-रसिकों ने उस का विभिन्न भाषाओं अथवा विभिन्न छन्दों में अनुवाद करने का तथा स्वतन्त्र रूप से सतसई लिखने का भी लोभ किया हो। किन्तु जन-साधारण के हृदय को इसने कबीर, तुलसी, सूर, मीराँ आदि की रचनाओं के समान प्रभावित किया होगा—इसमें हमें सन्देह है।

बिहारी की लोकप्रियता—इसके अतिरिक्त किसी काव्य की उत्कृष्टता का आधार हम केवल उसकी लोक-प्रियता को भी नहीं मानते। हिन्दी में देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी और ऐयारी के उपन्यासों को जैसी लोक प्रियता प्राप्त हुई थी उसकी प्रतिस्पर्द्धा में आज का कोई भी उपन्यास नहीं ठहर सकता किन्तु फिर भी खत्री जी के उपन्यासों को उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। अस्तु, शृङ्गार रस की व्यंजना की दृष्टि से हम बिहारी को एक मध्यम कोटि का ही कवि स्वीकार करते हैं। उनका स्थान निश्चित ही हिन्दी के शृङ्गारी कवियों में सूरदास, विद्यापति, घनानन्द, देव, मतिराम, पद्माकर आदि से नीचा ही है। वस्तुतः बिहारी का विश्वास था कि जिसमें जिसकी रुचि हो, वही उसके लिए सुन्दर है, अतः उन्होंने अपने युग के सभी रुचियों के पाठकों की तृप्ति को अपना लक्ष्य बनाया था—कहना न होगा कि अपने इस लक्ष्य की पूर्ति में बिहारी पूर्णतः सफल हुए हैं। चाहे कोई पाठक भक्ति, नीति, शृङ्गार, ज्योतिष आदि विभिन्न विषयों में रुचि रखता हो, अथवा वह अमरुक, भर्तृहरि आदि की सरस उक्तियों के आस्वादन का इच्छुक हो, चाहे वह हिन्दी के विभिन्न कवियों—मैथिली-गीति परम्परा के कवियों का सा नारी-सौन्दर्य, कृष्णभक्त कवियों का सा भक्ति तत्व, राम-भक्त कवियो का सा आत्म-दैन्य, संत कवियों का सा बाह्य विधानों का विरोध एवं निर्गुण का प्रतिपादन, प्रेमाख्यानक कवियों का सा अतिशयोक्तिपूर्ण विरह-वर्णन अथवा राजस्थानी कवियों का सा संयत सम्भोग-चित्रण के अध्ययन का उत्सुक हो : चाहे वह नायिका-भेद के ढाँचे में बँधकर चलने वाले प्रेम-वर्णन को पसन्द करता हो या कुल, परिवार, समाज की मर्यादाओं को बहाकर आगे बढ़ने वाली स्नेह सरिता को चाहता हो, चाहे वह अपनी बुद्धि को अलंकारों के चमत्कार में उलझाना चाहता हो अथवा प्रेमिकाओं की भाव पूर्ण-मूर्त्तियों के दर्शन से अपने हृदय को थोड़ी देर के लिए रससिक्त करना चाहता हो—बिहारी के काव्य में उसे कहीं न कहीं, थोड़ा-बहुत, सभी कुछ उपलब्ध हो

जायगा ।[१] अस्तु बिहारी की आलोचना का निष्कर्ष हम एक वाक्य में बिहारी के ही शब्दों में—इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—

करी बिहारी सतसई—भरी अनेक स्वाद ![२]

---

१. यहाँ हमें हाल ही में निर्मित 'शारदा' चित्र (फिल्म) याद आ जाता है। इसमें गीता का दर्शन, भारतीय नारी का उच्चकोटि का आदर्श, युवक का बलिदान तथा नंगे नृत्य, अश्लील गीत, अशोभनीय प्रणय चेष्टाएँ, आदि सभी कुछ एक साथ रक्खा गया है जिससे कि सभी वर्ग के दर्शक आकर्षित हो सकें। कुछ ऐसा ही प्रयत्न सतसई में मिलता है।

२. बिहारी सतसई की अन्तिम पंक्ति।

परिशिष्ट (क)

बिहारी और प्रसिद्ध कवि केशव का पुत्र-पिता सम्बन्ध

क्या बिहारी प्रसिद्ध कवि केशवदास मिश्र (रामचन्द्रिका के रचयिता) के पुत्र थे—यह प्रश्न भी हिन्दी साहित्य के पाठकों के सामने जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। सर्व प्रथम राधाकृष्ण दास जी ने बिहारी के एक दोहे[1] के आधार पर यह अनुमान किया था कि बिहारी के पिता प्रसिद्ध कवि केशव ही थे। पर वे अपने मत की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दे सके। फलतः उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि यह अनुमान मात्र ही है।[2] इसके अनन्तर कुछ अन्य विद्वानों ने भी इस विषय पर विचार किया किन्तु वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त परिश्रम किया, जहाँ इसके पक्ष में उन्हें कुछ नई सामग्री मिली, वहाँ विपक्ष में भी कुछ नये तथ्य प्राप्त हुए, अतः उन्होंने दोनों का पिता-पुत्र के स्थान पर गुरू-शिष्य सम्बन्ध स्थापित किया।[3] श्री विश्वनाथ प्रसाद ने यह सिद्ध किया कि बिहारी के पिता कोई अन्य केशव-केशवराय थे,[4] पर जब साहित्य प्रेमियों को इससे सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने इसे औत्सुक्यमात्र बताया।[5] वस्तुतः इस विषय पर पुष्ट प्रमाणों एवं तथ्यों पर आधारित कोई ऐसा असंदिग्ध मत

---

१. प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसव राइ॥—बिहारी रत्नाकर–१०१

२. "अस्तु मेरे अनुमान में बिहारीलाल ओरछा निवासी भाषा कवि केशवदास के पुत्र थे। (पर) यह सब अनुमान ही अनुमान पर लिखा गया है।"
—राधाकृष्णदास, कविवर बिहारीलाल पृ० सं० १२

३. कविवर बिहारी—'बिहारी की जीवनी' शीर्षक अध्याय

४. बिहारी की वाग्विभूति—ले० श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

५. "बिहारी" भूमिका—ले० श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

प्रकाशित नहीं हुआ कि जिससे बिहारी के पाठकों का औत्सुक्य शान्त हो जाता। अस्तु, इस प्रश्न पर पुनर्विचार की गहरी आवश्यकता है।

पक्ष का समर्थन करने वाले प्रमाण—बिहारी को प्रसिद्ध कवि केशव का पुत्र मानने के पक्ष में निम्नलिखित प्रमाण मिलते है :—

१—बिहारी-सतसई में एक दोहा मिलता है जो श्लेषार्थक है।[१] इसके पहले अर्थ में चन्द्रवंशी, ब्रजवासी कृष्ण से क्लेश हरने की प्रार्थना की गई है जबकि दूसरे अर्थ में द्विज जाति के ब्रजवासी केशवराय से। सतसई के प्राचीनतम टीकाकारों ने इस दोहे का अर्थ करते हुए बताया है कि दूसरे केशवराय कवि के पिता थे।[२] प्रसिद्ध कवि केशव भी द्विज जाति के थे, तथा उन्होंने अपने आपको उत्तम कोटि का विप्र माना है।[३] अपने जीवन के अन्तिम दिनों में केशवदास बुन्देलखण्ड छोड़कर अपनी इच्छा से किसी तीर्थ स्थान पर आ गये थे, इसका भी प्रमाण मिलता है।[४] अतः 'सुबस बसै ब्रज आय' की बात भी केशव पर लागू होती है।

२—बिहारी के सम्बन्ध में एक दूसरा दोहा[५] और प्रसिद्ध है जिसमें उनका जन्म ग्वालियर में होने का तथा बचपन और युवाकाल क्रमशः बुन्देलखंड और मथुरा में बीतने का उल्लेख किया गया है। यह दोहा भी केशवदास के जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल पड़ता है। केशवदास ने कविप्रिया के आरम्भ में अपने वंशादि का परिचय दिया है उससे पता चलता है कि केशव

---

१. प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव-केसव राइ॥ —बि० र० १०१

२. प्रथम टीकाकार कृष्ण कवि ने अपनी टीका (१७१९ वि०) में लिखा है
"कंसो जो मेरौ पिता और केसवराय जो श्री कृष्ण जू"
अनवर चन्द्रिका में लिखा है :-"केशवराइ बिहारी के बाप कौ नाम है।"
—कविवर बिहारी पृ० सं० ३१५

३. कवि प्रिया में आत्म परिचय—"उत्तम विप्र विचारि"

४. विज्ञान गीता की अन्तिम पंक्तियां
"वृति दई पदवी दई, दूरि करौ दुखत्रास।
जाइ करौ सकलत्र श्री गंगातट बसबास॥

५. जनम गवालियर जानिये, खण्ड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥
—हिन्दी-नवरत्न, द्वि० सं० पृ० २७५

के प्रपितामह के भी प्रपितामह श्री त्रिविक्रम मिश्र को ग्वालियर के तत्कालीन नरेश ने आश्रय दिया[१] था तथा तब से लेकर केशवदास के पिता काशीनाथ तक—केशव के सभी पूर्वज ग्वालियर राज्य के ही आश्रित रहे, यहाँ तक कि केशव के कुछ पूर्वजों ने तो यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि ग्वालियर नरेश (तोमरपति) को छोड़कर और किसी के आगे हाथ नहीं पसारेंगे।[२] ओरछा (बुन्देलखण्ड) से जहाँ कि केशव ने अपना अधिकांश जीवन बिताया, केशव का इतना पुराना सम्बन्ध नहीं था। केशवदास के पितामह एक बार गढ़ी (बुन्देलखण्ड) नरेश संग्रामशाह के दरबार में शास्त्रार्थ करने गये थे[३] तथा केशवदास के पिता कृष्णदास भी ओरछा नरेश मधुशाह को पुराण सुनाया करते थे।[४] आगे चलकर केशवदास को भी ओरछा नरेश का आश्रय प्राप्त हो गया। फिर भी केशव अपने पूर्वजों की सम्पत्ति संभालने के लिये तथा अन्य कौटुम्बिक उत्सवों के अवसर पर ग्वालियर आते जाते रहे होंगे। ऐसी स्थिति में बिहारी का जन्म ग्वालियर में होना तथा बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में बीतना सम्भव है।

बिहारी को अपनी तरुणावस्था सुसुराल में क्यों बितानी पड़ी इसका समाधान भी केशवदास की 'विज्ञान गीता' से हो जाता है। 'विज्ञान गीता' से पता चलता है कि केशवदास ने जब तीर्थवास का निश्चय किया तो उनकी सन्तान का कोई सँभालने वाला नही था।[५] इसके अनन्तर जब केशवदास की मृत्यु हो गई तो बिहारी ने अपने भाइयों से न पटने के कारण या

---

१. भये त्रिविक्रम मिश्र तब तिनके पण्डित राय
गोपाचल गढ़ दुर्गपति तिनके पूजे पायं। —कवि प्रिया; वंशावली ६

२. तिनके पुत्र प्रसिद्ध जग कीन्हे हरिहर नाथ
तूंबरपति (तोमरपति) तजि और सों भूलि न ओड़ेउ हाथ।—वही; १२

३. पुत्र भये हरिनाथ के कृष्ण दत्त शुभ वेष।
सभा शाह संग्राम की जीती गढ़ी अशेष॥ —वही०; १३

४. बालहि ते मधुशाह नृप तिनसों सुन्यो पुरान।
तिनके सादर द्वै भये, केशवदास कल्यान॥ —वही; १६

५. वृत दई पुरुषानि को, देउ बालकनि आसु।
मोंहि आपनौ जानि कै गंगा तट देउ बासु॥

किसी अन्य कारण से मथुरा ससुराल में ही यौवनावस्था के दिन बिताये होंगे।[1]

३—केशवदास का जीवन-काल संवत् १६१८ वि० से १६८० तक सिद्ध होता है।[2] जब कि बिहारी का जन्म संवत् १६५२ व मृत्यु-काल संवत् १७२० वि० के लगभग माना जाता है।[3] दोनों का जीवन-काल केशव और बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध के अनुकूल पड़ता है।

४—हिन्दी के प्रसिद्ध कवि कुलपति मिश्र के सम्बन्ध में परम्परानुसार यह दृढ़ धारणा पाई जाती है कि वे बिहारी के भानजे थे।[4] उन्होंने अपने ग्रन्थ "संग्राम-सार" में कविवर केशवराय को अपना मातामह बताते हुए उनकी वन्दना की है।[5] प्रसिद्ध कवि केशव और कुलपति दोनों ही अपने नाम के आगे जाति सूचक शब्द मिश्र ही लिखते हैं[6] तथा उस युग में कोई ऐसा अन्य केशवराय कवि नहीं मिलता जो कि इतना प्रभावशाली हुआ हो कि उसके दोहित्र भी उसका स्मरण करें। इसके अतिरिक्त अपने 'जुवति तरंगिनी' ग्रन्थ में भी कुलपति ने पूर्व कवियों की वन्दना करते हुए केशवराय के तुरन्त

---

१. घर जँवाई की अनुभूति बिहारी के इस दोहे से भी व्यक्त होती है :—
आवत जात न जानियतु तेजहिं तजि सियरानु।
घरह जँवाई लौं घट्यो खरौ पूस दिन मानु॥ —वि० र० १७१

२. 'केशव पंचरत्न' की भूमिका ला० भगवानदीन द्वारा लिखित।

३. जगन्नाथ दास रत्नाकर—कविवर बिहारी।

४. (क) रामचन्द्र शुक्ल—'ये महाकवि बिहारी के भानजे प्रसिद्ध हैं'।
—हि० सा० इति० पृ० २५८
(ख) प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने भी कुलपति के वर्तमान वंशज श्री हीरालाल चतुर्वेदी, ३६८ ए बनीपार्क, जयपुर से इस विषय में विचार विमर्श किया था, उन्होंने इसका समर्थन किया है।

५. कविवर मातामह सुमिरि कैसो कैसौराइ।
कहौं कथा भारथ की भाषा छन्द बनाइ। —संग्राम सार

६. केशव का अपने पूर्वजों के विषय में कथन :
"तहाँ प्रकास सों निवासु मिश्र कृष्णदत्त कौ।" —विज्ञान गीता
कुलपति द्वारा आत्म-परिचय—
"माथुर वंश प्रसिद्ध मिश्र-कुल, अभयराज भय।
सब विद्या परवीन वेद अध्ययन तपोमय॥

बाद बिहारी की वन्दना की है।[1] ये तथ्य इस बात के द्योतक हैं कि कुलपति के मातामह तथा बिहारी के पिता कवि केशव एक ही थे।

५—असनी के ठाकुर कवि ने अपनी सतसई की टीका (सं० १८६१ वि०) में लिखा है कि बिहारी की पत्नी सुशिक्षित थी तथा बिहारी को सतसई निर्माण में सहायता देती थी,[2] दूसरी ओर मिश्र-बन्धुविनोद में 'केशव-पुत्र-वधू' नाम से एक कवयित्री का उल्लेख है जो बिहारी की समकालीन थी।[3] स्वयं केशवदास ने भी लिखा है कि मेरे घर के दास तक पढ़े लिखे हैं।[4] अस्तु उस युग में जब कि स्त्री शिक्षा का बहुत कम प्रचार था, यह संभव है कि यह कवयित्री प्रसिद्ध कवि केशव की ही पुत्र-बधू तथा बिहारी की पत्नी हो।

६—बिहारी के एक दोहे से पता चलता है कि वे महात्मा नरहरिदास के शिष्य थे।[5] नरहरिदास की गद्दी ओरछे के निकट गुढाँ ग्राम में थी।[6] तथा प्रसिद्ध कवि केशव भी अपनी प्रौढ़ावस्था में ओरछा में रहते थे, अतः यह तथ्य भी बिहारी और केशव के सम्बन्ध का समर्थन करता है।

७—केशवदास के आश्रयदाता इन्द्रजीत सिंह के यहाँ प्रवीणराय नामक एक कला-मर्मज्ञ पातुर रहती थी।[7] केशवदास ने इसी को काव्य शिक्षा देने के लिये "कवि-प्रिया" की रचना की थी तथा इस ग्रन्थ के आरम्भ में

---

१. जो भाषा जान्यौ चहत रसमय सरस सुभाइ।
कविता केसौराय की तौ साँची चितु लाइ॥
भाँति भाँति रचना सरस देव गिरा ज्यों व्यास।
तौ भाषा सब कविनु मैं विमल बिहारी दास॥ —जुवति-तरंगिनी

२. देखिये "बिहारी की वाग्विभूति।"

३. वही।

४. "भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।" —कवि प्रिया–१७

५. जम करि मुंह तरहरि परयौ इहि धर हरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥—बि० र० २१
इस दोहे की टीका में रत्नाकर जी ने लिखा है—"नरहरि—कवि के दीक्षागुरु नरहरिदास।"

६. बिहारी की वाग्विभूति।

७. कवि प्रिया में आश्रय दाता का परिचय।

उन्होंने प्रवीणराय के सौन्दर्य और संगीत-नृत्य ज्ञान की प्रशंसा की है।[१] बिहारी ने भी अपनी सतसई में एक दोहे में प्रवीण नामक तिय के संगीत की[२] तथा दूसरे में पातुरराय के नृत्य की प्रशंसा की है।[३] यद्यपि दोहे के संकुचित क्षेत्र एवं समास शैली के कारण प्रत्येक दोहे में प्रवीणराय पातुर पूरा नाम नहीं आ सका किन्तु दोनों दोहों के नामोल्लेख को मिलाने पर पूरा नाम बन जाता है। पहले दोहे में पति या प्रेमी के स्थान पर सांई (स्वामी) शब्द का प्रयोग भी उसके पातुर होने का संकेत करता है। केशव के समय में प्रवीणराय नववयस्का ही थी तथा शिक्षा प्राप्त कर रही थी जबकि बिहारी के समय वह कला-पारंगत प्रौढ़ा बन चुकी थी। यह केशव और बिहारी के वर्णनों से भी स्पष्ट हो जाता है। प्रवीणराय कोई बाजारू वेश्या नहीं थी, उसने इन्द्रजीतसिंह को अपना एक मात्र प्रेमी मान रखा था, तथा उसके सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध है कि उसने सम्राट अकबर के प्रेम को भी ठुकरा दिया था—अतः उस तक बिहारी की पहुँच उसी स्थिति में सम्भव है कि जबकि वे प्रसिद्ध कवि केशव जैसे प्रभावशाली पिता के पुत्र रहे हों।

८—बिहारी सतसई में कुछ ऐसे शब्द आये हैं जो बुन्देलखण्ड में ही प्रचलित हैं, अतः इससे भी उनका बुन्देलखण्ड से गहरा सम्बन्ध सिद्ध होता है।[४]

९—बिहारी ने दो दोहों[५] में मारवाड़ में जल के अभाव की निन्दा

---

१. राय प्रवीण प्रवीण अति नवरंग राइ सुवेश।
अति विचित्र नैना निपुण लोचन नलिन सुदेश॥
सोहत सारंग राग की तानति तान तरंग।
रंगराइ रंग बलित गति रंग मूरति अंग-अंग॥

२. पूस मास सुनि सखिनु पै साई चलत सबारु।
गहि कर बीन प्रवीन तिय राग्यो रागु मलारु।—बि०र०दो०सं० १४६

३. सब अंग करि राखी सुबर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनंत गति पुतरी पातुर राइ॥ —वही दोहा सं० २८४

४. स्यौं, सबी, घैरु, टूंका देना, कोट, ऐंटघरी, चाला, गीधे आदि।

५. प्यासे दुपहर जेठ के फिरे, सबै जलु सोधि।
मरुधर पाइ मतीर ही, मारु कहत पयोधि॥
विषम वृषावित की तृषा जिये मतीरनु सोधि।
अमित अपार अगाध-जलु मारौ मूढ़ पयोधि॥—बि०र०दो० १६६-१६७

तथा यहाँ के लोगों के तरबूज-प्रेम का उपहास किया है जिससे पता चलता है कि वे वहाँ के रहने वाले नहीं थे, अन्यथा अपने प्रदेश की निन्दा नहीं करते।

१०—प्रसिद्ध कवि केशवदास मिश्र के वर्तमान वंशज श्री मथुराप्रसाद मिश्र[1] मथुरेश से मैने पत्र-व्यवहार किया था उनसे केशवदास का पूरा वंश-वृक्ष प्राप्त हुआ है जिससे पता चलता है कि केशव के पाँच पुत्र थे जिनमें सबसे बड़े का नाम बिहारीदास है। इस वंश-वृक्ष में बिहारीदास के भी अब तक के वंशजों का नमोल्लेख किया गया है। कुलपति मिश्र ने भी अपने ग्रन्थ 'जुवति तरंगिनी' में कवियों की नामावली में प्रसिद्ध कवि बिहारी का नाम बिहारीदास ही दिया है;[2] अतः केशव-पुत्र बिहारी को तथा सतसईकार बिहारीदास को एक ही व्यक्ति माना जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा।

विपक्षियों के तर्क—केशव-बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने ये तर्क दिये हैं :—

१—"हमारे मत में बिहारी के पिता का नाम केशव अवश्य था, और वह ब्राह्मण भी थे, परन्तु प्रसिद्ध कवि केशवदास नहीं थे। यदि केशवदास ही होते तो यह बात जन-श्रुतियों में अवश्य प्रचलित होती।[3]

२—कुलपति मिश्र के वर्तमान वंशज माथुर चतुर्वेदी हैं, जब केशव सनाढ्य थे। सनाढ्यों में और माथुर चतुर्वेदियों में विवाह नहीं होता। अतः कुलपति मिश्र के मातामह तथा बिहारी के पिता कोई अन्य केशव होने चाहिए।[4]

३—बा० जगन्नाथदास रत्नाकर ने बूँदी निवासी बालकृष्ण और अमरकृष्ण जी का परिचय दिया है जो अपने आपको कवि बिहारी का वंशज बताते हैं। उनके कुल, गोत्र आदि प्रसिद्ध कवि केशव से नहीं मिलते।

---

१. श्री मथुराप्रसाद मिश्र का पूरा पता है—जयहिन्द प्रेस बड़ा बाजार, झांसी। फूटेरा नामक ग्राम जो कि केशवदास को जागीर में मिला था आपके अधिकार में है। इनके द्वारा प्राप्त वंश-वृक्ष परिशिष्ट (ङ) में देखिये।

२. भाँति भाँति रचना सरस देव गिरा ज्यों व्यास।
तो भाषा सब कविनु में विमल बिहारीदास॥
—"जुवति-तरंगिनी" (कुलपति)

३. मिश्र-बन्धु; हिन्दी नवरत्न, द्वि० सं० पृ० २७५

४. बा० जगन्नाथ दास रत्नाकर का मत, देखिये—कविवर बिहारी।

४—"बिहारी की वाग्विभूति" के लेखक श्री विश्वनाथ प्रसाद ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बिहारी के पिता 'केशव-केशव-राय' थे जो प्रसिद्ध कवि केशवदास से भिन्न थे।

अब इनमें हम सर्व प्रथम जन-श्रुति की बात को लेते हैं। पहली बात तो यह है कि किसी तथ्य का जन-श्रुति पर आधारित होना ही उसकी वास्तविकता को सिद्ध नहीं करता। दूसरे, केशवदास बुन्देलखण्ड में रहे जबकि बिहारी ने अपने जीवन का अधिकांश भाग राजस्थान में बिताया, अतः जन-साधारण में दोनों के सम्बन्ध के विषय में अधिक प्रचार होने की सम्भावना नहीं थी। तीसरे, प्रसिद्धि की दृष्टि से बिहारी केशव से बहुत आगे बढ़ गये थे, अतः यह आवश्यक नहीं था कि बिहारी के परिचय के साथ केशव का भी परिचय दिया जाता। आज भी गाँवों में रहने वाले बहुत से लोग ऐसे मिल जायेंगे जो जवाहरलाल नेहरू को जानते हैं किन्तु उनके पिता मोतीलाल के नाम से अपरिचित हैं, ठीक यही स्थिति उस युग में बिहारी और केशव की थी। फिर भी उस युग के विद्वानों को इस तथ्य का ज्ञान अवश्य था इसका पता सतसई की टीकाओं से चलता है। सतसई के सबसे पहले टीकाकार कृष्ण कवि[१] ने "प्रगट भए द्विजराज कुल" दोहे की टीका करते समय स्पष्ट लिखा है कि केशव बिहारी के पिता का नाम है।[२] परवर्ती टीकाकारों ने भी उनका अनुसरण किया है।[३] अब तक हिन्दी में केशव नाम के एक ही कवि हुए थे, अतः उनके नाम के पहले 'बुन्देलखण्ड वाले' या और कोई विशेषण लगाने की टीकाकारों को आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। उन्हें क्या पता था कि आगे की शताब्दियों में लोग बिहारी के पितृत्व को लेकर ही तर्क-वितर्क करेंगे।

अब विरोधियों के दूसरे तर्क को लीजिये। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक कुलपति के वर्तमान वंशज हीरालाल चतुर्वेदी[४] से मिला था उनसे पता चला कि आजकल सनाढ्यों और चतुर्वेदियों में विवाह नहीं होता, किन्तु दो तीन

---

१. इस टीका की समाप्ति रत्नाकर जी ने संवत् १७१९ में मानी है। बिहारी का मृत्यु-काल भी लगभग यही माना जाता है।

२. "कैसो जो मेरो पिता, और केसोराय जो श्रीकृष्ण जू।"

३. अनवर कंन्द्रिका (टीका) में लिखा है "केशव-केशवराइ बिहारी के बाप को नाम है।"

४. आपका पूरा पता है—"३६८ ए' बनीपार्क, पारीक इंटर कालेज के सामने, जयपुर (राजस्थान)

शताब्दियों पूर्व ऐसी बात नहीं थी। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आजकल चतुर्वेदी, त्रिवेदी आदि विशेषण उपजाति सूचक माने जाते हैं किन्तु आरम्भ में ये विशेषण शिक्षा और योग्यता के सूचक (जैसे—चतुर्वेदी अर्थात् चार वेद जानने वाला) माने जाते थे[1] तथा उनका महत्व इतना नहीं था कि इनसे विवाह सम्बन्धों में भी रुकावट पड़े। स्वयं कुलपति मिश्र ने आत्म परिचय में अपने कुल और वंश के सम्बन्ध में तीन बातों का ही (१) माथुरवंश (२) मिश्रकुल (३) सब विद्या प्रवीन—उल्लेख किया है,[2] जिससे पता चलता है कि उस समय 'चतुर्वेदी' विशेषण को महत्व नहीं दिया जाता था। दूसरी ओर, केशवदास ने भी अपने पूर्वजों को मूलतः मथुरा से सम्बन्धित बताते हुए[3] उन्हें माथुर सिद्ध किया है तथा अपने नाम के आगे मिश्र शब्द का प्रयोग किया है, साथ ही अपने कुल के वेदाध्ययन के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि हमारे घर के दास भी संस्कृत बोलते हैं।[4] यहाँ केशव के कुल में वे तीनों विशेषतायें मिल जाती हैं जो कुलपति ने अपने वंश-जाति के विषय में बताई हैं, अतः ऐसी कोई बात नहीं दिखलाई देती जो दोनों परिवारों के बीच विवाह सम्बन्ध में अड़चन पैदा करे। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन युग में जब कि हिन्दू नरेश तक अपनी कन्याओं का विवाह मुस्लिम शासकों से करने लगे थे, यदि केशवदास ने अपनी सुशिक्षित कन्या के लिये योग्यवर की प्राप्ति के लिए विवाह सम्बन्धी किसी छोटे मोटे जातीय नियम का उल्लंघन भी कर दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

विरोधी पक्ष का तीसरा तर्क बिहारी के वंशज कहे जाने वाले बालकृष्ण जी से सम्बन्ध रखता है। बालकृष्ण जी ने अपने पूर्वजों का एक

---

१. "चतुर्वेदी" पत्रिका, भाग ४ अंक १० में श्री हरिप्रसाद मिश्र का चतुर्वेदियों के ६४ अल्ल शीर्षक लेख।

२. कुलपति ने आत्म परिचय इस प्रकार दिया है :—
माथुरवंस प्रसिद्ध, मिश्रकुल अभयराज भय।
सब विद्या परबीन, वेद अध्ययन तपोमय। —संग्राम सार

३. "मथुरा मण्डल में दिये तिन्हैं सातसै ग्राम।" —कवि प्रिया

४. भाषा बोलि न जानही जिनके कुल के दास
भाषा कवि भो भेदमति तेहि कुल केशवदास।—कवि प्रिया दूसरा प्रभाव

वंश-वृक्ष[1] दिया है जिसके आधार पर वे अपने आप को बिहारी का वंशज सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु कई ऐसे तथ्य हैं जो उनके कथन की प्रामाणिकता पर संदेह उत्पन्न करते हैं—

१—यह वंश-वृक्ष बालकृष्ण जी को वंश-परम्परा से प्राप्त नहीं हुआ उन्होंने किसी तीर्थ-स्थान के पंडे की बही से इसे २०वीं शताब्दी में तैयार किया है। फिर जब रत्नाकर जी ने उस पंडे की खोज की तो पता चला कि उस पंडे के परिवार के सभी स्वर्गवासी हो चुके हैं।[2]

२—यह वंश-वृक्ष सीधा बिहारीलाल से आरम्भ होता है, उनके पिता तक का नाम नहीं दिया गया है। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जाय कि ये सतसईकार बिहारी ही हैं, कोई अन्य नहीं। यद्यपि बालकृष्ण जी ने उनके नाम के आगे 'जिन सप्तशतीकृत' और जोड़ दिया है, पर ऐसा वे किस आधार पर करते हैं इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

३—इस वंश-वृक्ष में बिहारी और बाल-कृष्ण जी के बीच केवल छह व्यक्तियों का ही नाम आया है। मध्यकालीन युग में जबकि बाल-विवाह का प्रचार था, साधारणतः एक व्यक्ति २०-२५ वर्ष की अवस्था में पिता बन जाता था, अतः बिहारी (जन्म लगभग १६५० वि० संवत्) और बालकृष्ण जी (जन्म लगभग १९५० वि० सं०) के बीच केवल छह पीढ़ियों का अन्तर होना विश्वास योग्य नहीं है। वंश-वृक्ष के आधार पर बालकृष्ण जी से सम्बन्ध रखने वाले बिहारी का आविर्भाव लगभग १८वीं शताब्दी के बीच में, सतसईकार बिहारी के १०० वर्ष बाद माना जा सकता है।

४—पहले बालकृष्ण जी ने वंश वृक्ष के आधार पर बिहारी के पुत्र का नाम निरंजन बताया। जब कहा गया कि बिहारी के निरंजन नाम का कोई पुत्र नहीं था तो उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि निरंजन बिहारी के

---

१. **प्रथम बिहारी लाल प्रकट जिन सप्तशती कृत**
तनय निरंजन तासु भयौ विख्यात सुद्ध मत
तिनके गोकुल दास तनय तिहि खेम करनि भनि
दयाराम सुत तासु भयौ तिनके मानिक मनि।
भे गणेश तिनके तनय बालकृष्ण तिनके भयउ
गुन-निपुन चतुरता सदन सो कविता तिय नायक कहेउ।

—रत्नाकर, कविवर बिहारी पृ० ३३०

२. **पूरा विवरण देखिये कविवर बिहारी ले० जगन्नाथ दास रत्नाकर**

अपने पुत्र नहीं थे, गोद लिये हुए थे। पर जब विद्वानों ने इसे भी स्वीकार करने में संकोच किया तो बालकृष्ण जी के पुत्र अमरकृष्ण जी ने निरंजन का नाम ही वंशावली में से निकाल दिया।[1] अतः हम केवल इतना मान सकते है कि बालकृष्ण जी के पूर्वजों में भी कोई बिहारी नाम के व्यक्ति हुये थे पर वे सतसईकार बिहारी नहीं थे।

५—बालकृष्ण जी अपने समर्थन में सूर्यमल मिश्र रचित वंश-भास्कर का प्रमाण देते है जिसमें बालकृष्ण जी को सतसई कार बिहारी का वंशज बताया गया है। किन्तु स्वयं सूर्यमल मिश्र २०वीं शताब्दी के[2] बालकृष्ण जी के समसामयिक कवि थे; अतः उनके उल्लेख को प्रमाण बताना हास्यास्पद है।

६—बूँदी नरेश भावसिंह के दरबारी कवि मतिराम के वंशजों में १८वीं शताब्दी ईस्वी में बिहारीलाल नाम के कवि हुए थे जिन्होंने विक्रम सतसई की टीका लिखी थी। बालकृष्ण जी तथा उनके वंशजों को भी बूँदी नरेश का आश्रय प्राप्त है; तथा उनका जीवन-काल भी इनके वंश पत्र से मेल खाता है, अतः बहुत कुछ सम्भव है कि जिस कवि को बालकृष्ण जी अपना पूर्वज बताते हैं, वह सतसईकार बिहारी दास नहीं, विक्रम सतसई की टीका—'रस-चंन्द्रिका' के रचयिता बिहारी लाल हों। इन दूसरे बिहारीलाल का परिचय शिवसिंह सरोज[3] एवं मतिराम ग्रन्थावली[4] में दिया हुआ है।

---

१. अमरकृष्ण जी ने वंशावली का परिचय इस प्रकार दिया है।

प्रथम बिहारी लाल प्रकट जिन सप्तशती कृत।
प्रकट ज्ञान के धाम कहूं लवलेस न दुरमत।
तिनके गोकुलदास तनय तिहिं खेमकरन गुनि।
दयाराम सुत जासु बहुरि तिनके मानक मनि।

—लोकनाथ द्विवेदी, बिहारी दर्शन पृ० ६ से उद्धृत

२. सूर्यमल मिश्र, जीवन-काल—सं० १८७२–१९२० वि०
—डिंगल में वीर रस—ले० श्री मोतीलाल मेनारिया; तृ० सं० पृ० ८८–८९।

३. शिवसिंह-सरोज; पृ० ४४४

४. मतिराम ग्रन्थावली—कृष्ण बिहारी मिश्र; तृतीय संस्करण; पृ० २२०–२२१।

डा० विश्वनाथ प्रसाद ने केशव बिहारी के सम्बन्ध का विरोध करते हुए उक्त दोहे के आधार पर यह कल्पना की है कि बिहारी के पिता का नाम 'केशव-केशव राय' था न कि 'केशवराय।'[1] इस मत के विरोध में सब से पहली आपत्ति तो यह है कि उक्त दोहे में 'केशव-केशव राय' को एक ही व्यक्ति मान लेने पर उसका श्लिष्ट अर्थ जो कि केशव और केशवराय को अलग अलग मानने पर व्यक्त होता है नष्ट हो जाता है। दूसरे प्राचीन टीकाकारों ने भी उनके पिता का नाम केशव माना है न कि केशव-केशवराय। तीसरे बिहारी के समकालीन युग में किसी केशव-केशवराय धारी नामक कवि के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। साहित्य के इतिहास-लेखकों ने हजारों कवियों का परिचय दिया है किन्तु इस नाम के कवि का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। विश्वनाथ प्रसाद जी ने किसी पुरानी पुस्तक में से चार ऐसे छन्द ढूँढ़े हैं जिनमें रचयिता ने अपना नाम 'केशव-केशवराय' दिया है, पर वे छन्द भी सम्भवतः प्रसिद्ध कवि केशवदास मिश्र के ही हों, क्योंकि केशवदास भी कई बार अपना नाम केशव केशवराय लिखा करते थे, जैसे 'रामचन्द्रिका' की इस पंक्ति में देखिए :—

"केशव केशवराय मनौ कमलासन के सिर ऊपरे सोहै"[2]

केशव ने अपने ग्रंथों में अपना नाम केशवदास, केशवराय[3] और केशव-केशवराय—तीनों प्रकार से लिखा है। अतः डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'केशव-केशवराय' प्रसिद्ध कवि का ही पर्यायवाची है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव और बिहारी के सम्बन्ध के विरोध में कही गई सभी युक्तियाँ निराधार, संदिग्ध एवं महत्वहीन हैं जबकि इसके पक्ष में मिलने वाले प्रमाण पर्याप्त सुदृढ़ एवं विश्वसनीय हैं। प्रसिद्ध कवि केशव का नाम, जाति, जन्मस्थान, निवास-स्थान, व्यवसाय, उनके कुल-गुरु का नाम, उनकी पुत्र-वधू का परिचय, उनकी शिष्या—पातुर राय उल्लेख,

---

१. बिहारी की वाग्विभूति—डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण पाँचवाँ पृ० २२१ पर उद्धृत।

३. 'विज्ञान-गीता' में केशवदास ने अपना नाम केशवराय लिखा है—

तिनके केशवराय सुत भाषा कवि मतिमन्द।
करी ज्ञान गीता प्रगट श्री परमानन्द कन्द॥

उनके जीवन की घटनाएँ (जैसे ओरछा को छोड़कर तीर्थवास कर लेना) उनका जीवन-काल और उनका वंश वृक्ष[1] आदि सभी तथ्य उन्हें बिहारी का पिता सिद्ध करते हैं।[2] यदि इतने प्रमाणों के होते हुए भी हम शंका करें तो बिहारी और केशव का सम्बन्ध ही नहीं, प्राचीन युग के अनेक कवियों का अस्तित्व ही संदिग्ध हो जायगा, कदाचित् उनके अस्तित्व के पक्ष में इतने प्रमाण न मिलें जितने इस विषय में यहाँ दिये गये हैं।

---

१. इस वंश-वृक्ष की प्रतिलिपि परिशिष्ट (ङ) में देखिये।

२. केशवदास के वर्तमान वंशजी श्री मथुरा प्रसाद 'मथुरेश' से लेखक का पत्र-व्यवहार परिशिष्ट (च) में देखिये।

परिशिष्ट (घ)

मुक्तक काव्य की दृष्टि से बिहारी सतसई का महत्व

आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिये वह बिहारी में अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।' इसका तात्पर्य हुआ कि हिन्दी के मुक्तककारों—कबीर, घनानन्द, पद्माकर, देव आदि —में बिहारी श्रेष्ठ हैं। आचार्य शुक्ल का यह कथन हमें अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है, अतः इस पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। हमारे विचार से एक मुक्तक रचना की सफलता के लिये उसमें निम्नलिखित सात विशेषताओं का होना आवश्यक है :—

१—कवि में मार्मिक दृश्यों के चुनाव की क्षमता होनी चाहिये। प्रबन्ध काव्य की धारा में तो शुष्क और सरस सभी प्रकार के प्रसंगों का निर्वाह हो जाता है किन्तु मुक्तक रचना में तो केवल मार्मिक प्रसंगों का ही चित्रण अपेक्षित है।

२—मुक्तक काव्य में प्रत्येक वस्तु या दृश्य का चित्रण सजीव व स्वाभाविक शैली में होना चाहिए।

३—मुक्तककार में कल्पना की समाहार शक्ति होनी चाहिये।

४ २—भाषा व शैली में समास--शक्ति होनी चाहिये।

५—कवि को व्यंग्य प्रयोग में दक्षता प्राप्त होनी चाहिये।

६—भाषा और शैली में सरसता तथा प्रवाह का गुण होना चाहिये।

७—नाद–सौन्दर्य होना चाहिये।

इसमें कोई संदेह नहीं, उपर्युक्त गुणों में से अनेक गुण हमें बिहारी में उपलब्ध होते हैं। उन्होंने अपने अधिकांश दोहों में मार्मिक प्रसंगों का ही वर्णन किया है। कई दोहों में चित्रण की स्वाभाविकता और सजीवता भी परिलक्षित होती है। कल्पना की समाहार शक्ति के अनेक प्रमाण बिहारी में उपलब्ध होते हैं। कुछ प्रमाण द्रष्टव्य हैं :—

कल्पना की समाहार शक्ति :—

अहें दहेंड़ी जिनि धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि।
नीकै हैं छीकै छुये, ऐसेहिं रहि नारि॥
परतिय दोषु पुराण सुनि, लखि मुलुकि सुखुदानि।
कसु करि राखि मिश्र हू, मुँहे आई मुसकानि॥

इसी प्रकार भाषा की समास शक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं :—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाई।
सौंह करे भौंहनु हँसे, देन कहै नटि जाई॥
चित पितु मारक जोगु गुनि भयौ भयै सुत सोगु।
फिर हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझै जारज जोगु॥
दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुर्जन हिये, दई नई यह रीति॥

उपर्युक्त दोहों में से प्रत्येक में इतनी अधिक विषय-वस्तु का वर्णन किया गया है कि यदि चाहें तो उनमें से प्रत्येक पर पूरी एक कहानी लिखी जा सकती है। केवल दो पंक्तियों में एक पूरे आख्यान को रख देना बिहारी जैसे कलाकार का ही काम है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक मुक्तक रचना का सम्बन्ध है ध्वनि काव्य की आत्मा कही जा सकती है। जिस बात को अभिधा में कहने के लिये बहुत से शब्दों की आवश्यकता पड़ती है, उसी बात को व्यंजना द्वारा थोड़े ही शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है और उसका प्रभाव भी बढ़ सकता है। बिहारी में स्थान-स्थान पर व्यंग्य का प्रयोग मिलता है :—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥
स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु विहंग विचारि।
बाज पराये पानि परि तू पच्छिननु न मारि॥

ये व्यंग्योक्तियाँ कोई साधारण व्यंग्योक्तियाँ नहीं हैं, उन्होंने अपने प्रभाव से महाराजा जयसिंह के जीवन में परिवर्तन उपस्थित कर दिया था। इस प्रकार की और भी चुभती हुई उक्तियाँ सतसई में उपलब्ध होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुक्तक रचना के लिये आवश्यक कई गुण सतसई में विद्यमान हैं। किन्तु हमें उसके दोषों को भी न भूलना चाहिये।

बिहारी सतसई में अनेक ऐसे दोष विद्यमान हैं, जिनके कारण उसकी मुक्तक-शैली का महत्व न्यून पड़ जाता है। सबसे पहला दोष तो यही है कि अनेक दोहों में पाठक को एकाएक उनका प्रसंग ही समझ में नहीं आता। स्वयं आचार्य शुक्ल ने स्वीकार किया है कि बिहारी सतसई में पाठक को क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। जिस समास शक्ति की इतनी प्रशंसा की गई है उसमें रसानुभूति की दृष्टि से दोष है। बिहारी का पाठक दोहों को पढ़ते ही रसमग्न नहीं हो जाता अपितु पहले उसे अर्थ समझने के लिये उसके मस्तिष्क को अच्छा व्यायाम करना पड़ता है, तब कहीं उसे रस की एक दो बूँद प्राप्त होती है। बिहारी के दोहे मीठे अंगूर नही हैं, जो मुँह में डालते स्वाद देने लग जाएँ अपितु श्रीफल की भाँति शुष्क और कठोर हैं, जिनके रस तक पहुँचने के लिए पाठक को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है। बिहारी के अनेक दोहे कोरी सूक्तियाँ है, जिनमें अनुभूति का योग नहीं मिलता। यदि हम देव, पद्माकर और घनानन्द के मुक्तकों से बिहारी के दोहों की तुलना करें, तो वे फीके से प्रतीत होते है। वार्त्तालाप या प्रेमालाप की जैसी सरसता देव और पद्माकर में मिलती है, उसका सतसई में अभाव है। उदाहरण के लिए पद्माकर की कुछ पक्तियाँ देखिए :—

कोहौं मैं तिहारी ? तू तो मेरी प्राण प्यारी।
अजू होती जो पियारी, तो रोती कहौ काहे को ?

इन पंक्तियों से जरा बिहारी के इस प्रेमालाप की तुलना कीजिये :—

बाल कहा लाली भई लोयन कोयन माहिं।
लाल तिहारे दृगन की परि दृगनु में छाँह॥

इस प्रकार सरसता की दृष्टि से देव की एक पंक्ति देखिये :—

"आहन जाति अहीर अहैं तुम्हें कान कहा कहूँ काहु की पीर न।"

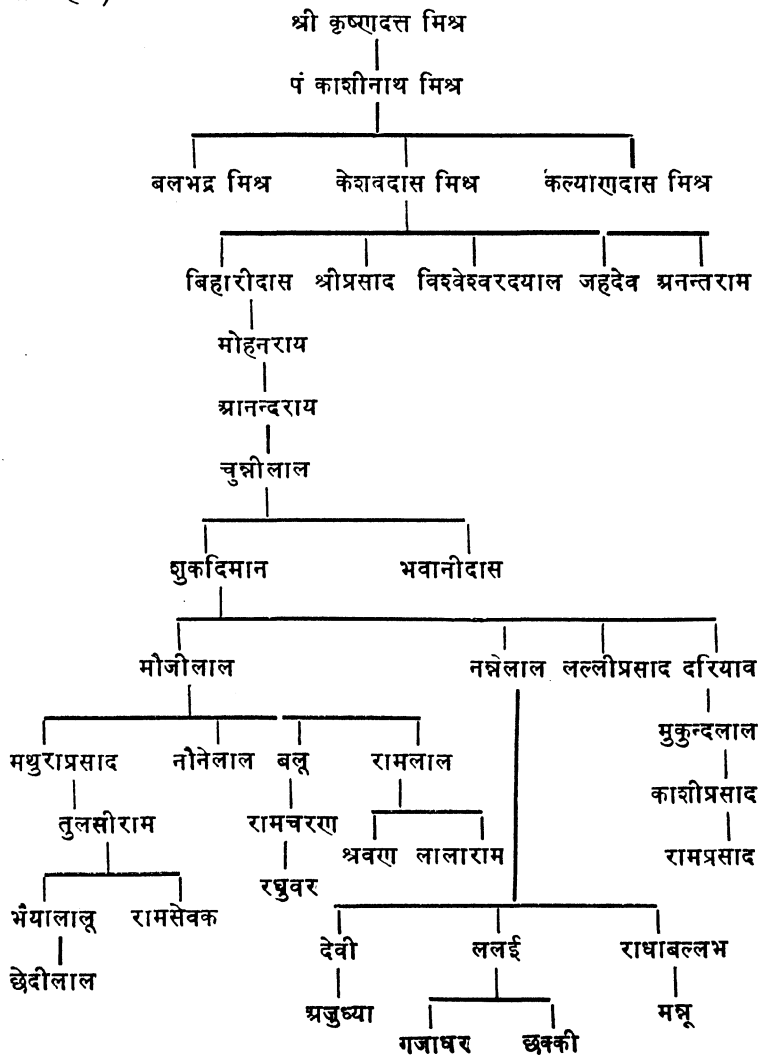
इस प्रकार की सरस एवं स्निग्ध उक्तियो का सतसई में अभाव है। जैसा नाद-सौन्दर्य पद्माकर और मतिराम के कवित्त सवैयों में मिलता है, वैसा बिहारी के शुष्क दोहों में कहाँ ! आचार्य शुक्ल का यह कहना ठीक है कि जो लोग हृदय पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, वे बिहारी से संतुष्ट नहीं हो सकते। हमारे विचार से मुक्तककार के रूप में बिहारी एक अच्छे अनुवादक थे, ब्रजभाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान था, शब्दों के प्रयोग में वे दक्ष थे, तथा उनकी सतसई में इधर उधर से जुटाई हुई थोड़ी बहुत मधुर उक्तियाँ भी मिलती हैं किन्तु अनुभूति की जैसी सरसता घनानन्द, देव, पद्माकर आदि में

मिलती है, उसका उनमें अभाव है। शुक्ल जी मुक्तक काव्य को गुलदस्ते की उपमा देते हैं किन्तु बिहारी के इस गुलदस्ते में फूलों के साथ साथ काँटे भी विद्यमान हैं, जो कभी पाठक के हृदय को रससिक्त करने के स्थान पर उसके मस्तिष्क को कुरेद देते हैं।

परिशिष्ट (ङ)

कवीन्द्र केशवदास जी का वंश-वृक्ष

(केशवदास के वर्तमान वंशज श्री मथुराप्रसाद 'मथुरेश', जयहिन्द प्रेस बड़ा बाजार, झाँसी से प्राप्त। यहाँ केवल बिहारी सम्बन्धी अंश उद्धृत किया जाता है।)



परिशिष्ट (च)

श्री मथुराप्रसाद 'मथुरेश', से लेखक को प्राप्त पत्रों की प्रतिलिपि।

(१)

जयहिन्द प्रेस, झाँसी
३१-१२-५६

प्रिय गुप्त जी,

नमस्ते

कृपापत्र आपका मिला। उत्तर में निवेदन है कि महाकवि केशव, कल्याण, व बलभद्र मिश्र भारद्वाज गौत्र उत्पन्न, सनाढ्य ब्राह्मण, ग्राम फूटेरा, पिछोर जिला झाँसी के हैं। मैं स्वयं केशव-वंशज हूँ। मेरे पिता श्रवण प्रसाद मिश्र स्वयं कविता करते हैं। केशवदास जी का वंश-वृक्ष मुद्रित है।

भवदीय
'मथुरेश'

---

(२)

जयहिन्द प्रेस
गांधी रोड झाँसी
४-२-५७

प्रियवर गुप्त जी,

कविवर बिहारी केशवदास जी के पुत्र थे। केशव के वंशज हम लोग फुटेरा (झाँसी) में ही हैं। आपको अपनी मुद्रित वंशावली भेज रहा हूँ। जिससे आपको सब ज्ञात हो जायगा।.....बिहारी के वंशज रामसेवक मिश्र झाँसी में डी० रेल्वे में क्लर्क हैं और बाकी वंशज ग्राम फुटेरा जो झाँसी से १६ मील दूर है और जो केशव जी की जागीर का शेष ग्राम है, वहाँ जमींदारी तथा खेतीवाड़ी करते हैं। द्वारिका प्रसाद मिश्र "द्वारिकेश" वैद्यनाथ प्राणदा में मैनेजर हैं तथा मेरे पास जयहिन्द प्रेस तथा गीता प्रेस गोरखपुर की पुस्तकों की एजेन्सी है। स्वयं का प्रेस है। ब्रजमोहन मिश्र पी० डबल्यू० आई० झाँसी में हैं। तथा प्रेमनारायण मिश्र एकाउन्टेन्ट जनरल ग्वालियर में हैं। ये केशव तथा बिहारी के वंशज है।

मथुरेश

सहायक पुस्तक-सूची

(क) मूल रूप में पठित

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	लेखक या संपादक	संस्करण	उप० स्थान*
1	Psychological Studies in Ras	Dr. Rakesh Gupta	I	1
2	An Introduction to Social Psychology	W. Macdougall		2
3	Psychology	R. S. Woodworth	1952	4
4	A Modern Introduction to Psychology	Rex and Margaret Knight	III	4
5	The Psychology of Emotions	Maccurdy	1925	4

---

* उपलब्धि-स्थान (अर्थात् जहाँ से लेखक ने पुस्तकें प्राप्त कीं)—

१—लेखक का निजी संग्रह।

२—मारवाड़ी पुस्तकालय, चाँदनी चौक दिल्ली।

३—दिल्ली-विश्वविद्यालय का पुस्तकाल।

४—डी० ए० वी० कालेज, जालंधर का पुस्तकालय।

५—छोटूराम आर्य कालेज, सोनीपत का पुस्तकालय।

६—स्टेट लाइब्रेरी, बीकानेर।

७—महाराज लाइब्रेरी, जयपुर।

८—ओरिएण्टल कालेज, जालन्धर का पुस्तकालय।

९—विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च संस्थापन, होशियारपुर (पंजाब)।

१०—पंजाब विश्वविद्यालय, हिन्दी-विभाग, जालंधर, का पुस्तकालय।

११—म्युनिसिपल-लाइब्रेरी, सोनीपत।

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	लेखक या संपादक	संस्करण	उप० स्थान
6	A Guide to Philosophy	C. E. M. Joad	Second	5
७	नाट्य-शास्त्र (भरत मुनि)	सं० बटुकनाथ उपाध्याय	१९२९	४
८	दश रूपक (धनंजय)	सं० भोलाशंकर व्यास	२०११	१
९	काव्य प्रकाश (मम्मट)	सं० हरिभंडाल मिश्र	द्वितीय	१
१०	शृङ्गार-प्रकाश (भोजराज) प्रथम भाग	सं० वी० राघवन्	प्रथम	८
११	शृङ्गार-प्रकाश (भोजराज) द्वितीय भाग	सं० वी० राघवन्	प्रथम	८
१२	साहित्य-दर्पण (विश्वनाथ)	सं० शालिगराम शास्त्री	प्रथम	१
१३	साहित्य-दर्पण (विश्वनाथ)	सं० हरिदास	पाँचवा	१
१४	साहित्य-दर्पण (विश्वनाथ)	सं० पी० वी० काने (अँग्रेजी अनुवाद)	प्रथम	४
१५	रस गंगाधर (पं० जगन्नाथ)	मदनमोहन झा	१९५५	१
१६	भामिनी विलास	पं० जगन्नाथ राज	१९२५	१
१७	साहित्य और सौन्दर्य	डा० फतहसिंह	प्रथम	२
१८	सौन्दर्य-विज्ञान	हरिवंशसिंह शास्त्री	प्रथम	२
१९	सौन्दर्य शास्त्र	डा० हरद्वारीलाल	प्रथम	१
२०	A Study in Aesthetics	Louis Arnaud Reid	1931	4
२१	काम-सूत्र	वात्स्यायन	अजमेर प्रथम	२
२२	मानव-मनोविज्ञान	द्वारका प्रसाद	प्रथम	२
२३	मनोविश्लेषण और उसके जन्मदाता	दमयन्ती गर्ग	प्रथम	११
२४	नख-शिख	बलभद्र मिश्र	प्रथम	१
२५	ऋग्वेद	सायण भाष्य	प्रथम	९
२६	ऋग्वेद (हिन्दी अनुवाद)	अनु० जयलाल शर्मा	प्रथम	२
२७	ऋग्वेद (हिन्दी अनुवाद)	अनु० रामगोपाल त्रिवेदी	१९५४	१
२८	ऋग्वेद (अँग्रेजी अनुवाद)	अनु० विल्सन	प्रथम	३
२९	अथर्ववेद संहिता	मूल	प्रथम	५
३०	वृहदारण्यकोपनिषद (हिन्दी अनुवाद सहित)		प्रथम	२

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	लेखक या संपादक	संस्करण	उप० स्थान
३१	कठोपनिषद (हिन्दी अनुवाद सहित)	गीताप्रेस, गोरखपुर	—	१
३२	केनोपनिषद (हिंदी अनुवाद सहित)	गीताप्रेस, गोरखपुर	—	१
३३	रामायण (वाल्मीकि) (हिन्दी अनुवाद सहित)	द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी	प्रथम	२
३४	रामायण (वाल्मीकि) (हिन्दी अनुवाद सहित)	राजाराम शास्त्री	प्रथम	२
३५	महाभारत (हिन्दी अनुवाद सहित)		प्रथम	२
३६	वैदिक साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय	प्रथम	
३७	Studies in Epics and Puranas	A. D. Pusalkar	I	4
३८	संस्कृत साहित्य का इतिहास	बलदेव उपाध्याय		४
३९	संस्कृत-कवि-दर्शन	डा० भोलानाथ	प्रथम	१
४०	संस्कृत ड्रामा	ए० बी० कीथ	प्रथम	१
४१	संस्कृत कवि-चर्चा	चन्द्रशेखर पाण्डेय	प्रथम	२
४२	Fashions in Love–in Do what you will	Aldous Huxley	1931	4
४३	शाकुन्तलम	कालिदास सं० सीताराम	२००८	१
४४	मालविकाग्निमित्रम्	कालिदास (रामचन्द्र)	१९५१	१
४५	मेघदूत	कालिदास अनु० सुधीरकुमार	१९५३	१
४६	रघुवंश–(हिन्दी अनुवाद)–	कालिदास अनु० इन्द्र विद्या-वाचस्पति	प्रथम	५
४७	कुमार संभव (हिन्दी अनुवाद)	कालिदास अनु० विराज एम० ए०	प्रथम	५
४८	विक्रमोर्वशीयम्	कालिदास अनु० रामचन्द्र मिश्र	१९५३	१
४९	ऋतु संहारम्			१
५०	मृच्छ कटिकम् (शूद्रक)	सं० कृष्णकान्त	प्रथम	२
५१	कवि सम्राट—कालिदास	डा० कैलाश भटनागर	प्रथम	२
५२	दशकुमार चरित (दंडी)	अनु० निरंजनदेव	प्रथम	११
५३	रत्नावली	हर्ष	प्रथम	१
५४	उत्तर रामचरित (भवभूति)	भवभूति	प्रथम	१

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	लेखक या अनुवादक	संस्करण	उप० स्थान
५५	मालती-माधव (भवभूति)	सं० शेषराज शर्मा	१९५४	१
५६	कादम्बरी	वाणभट्ट	प्रथम	२
५७	अमरु शतक (अमरुक)	सं० ऋषीश्वरनाथ भट्ट	प्रथम	१
५८	शृङ्गार शतक	भर्तृहरि	प्रथम	१
५९	गीत-गोविन्द (जयदेव)	सं० रायनागर	प्रथम	१
६०	शिशुपाल वध (माघ)	...	...	१
६१	गाथा सप्तशती (हाल)	सं० मथुराप्रसाद भट्ट	१९३३	१
६२	कर्पूर मंजरी (राजशेखर)	सं० रामकुमार	१९५५	१
६३	प्राकृत प्रवेशिका (ए० सी० वूलनर)	अनु० बनारसीदास जैन	प्रथम	१
६४	प्राकृत और उसका साहित्य	डा० हरदेव बाहरी	प्रथम	४
६५	हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग	नामवर सिंह	प्रथम	२
६६	हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग	,,	द्वितीय	४
६७	हिन्दी काव्य-धारा	राहुल सांकृत्यायन	प्रथम	१
६८	नारद-भक्ति सूत्र	गीता प्रेस गोरखपुर	प्रथम	१
६९	शांडिल्य भक्ति सूत्र	,,	,,	१
७०	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारीसिंह दिनकर	प्रथम	२
७१	,,	,,	द्वितीय	१०
७२	प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास	रांगेय राघव	प्रथम	१०
७३	मानव की कहानी—प्रथम भाग	रामेश्वर गुप्ता	१९५१	४
७४	भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास	हरिदत्त वेदालंकार	द्वितीय	१
७५	The Position of Women in Hindu Givilization	A. S. Altaker	1938	4
७६	Women in the Vedic Age	Shakuntala Rao	First	1
७७	भारतीय इतिहास की रूप रेखा, (भाग एक)	जयचन्द्र विद्यालंकार	द्वितीय	४

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	लेखक या संपादक	संस्करण	उप० स्थान
७८	भारतीय इतिहास की रूप रेखा, (भाग दो)	जयचन्द्र विद्यालंकार	द्वितीय	४
७९	अर्थ-शास्त्र—(कौटिल्य)	सं० गंगाप्रसाद	द्वितीय	१
८०	मनु-स्मृति	मनु	प्रथम	१
८१	ए न्यू हिस्ट्री ऑफ इन्डिया	डा० ईश्वरी प्रसाद	प्रथम	१
८२	Pregnancy–Birth–Abortion	Kinsey Institute of Sex Research	1	4
८३	सतसई सप्तक	श्यामसुन्दर दास	प्रथम	४
८४	विश्व-साहित्य की रूप-रेखा	भगवत शरण उपाध्याय	प्रथम	१
८५	संस्कृति-संगम	आ० क्षिति मोहन सेन	द्वितीय	१०
८६	सिद्ध-साहित्य	धर्मवीर भारती	प्रथम	२
८७	श्री मद्भागवत (हिन्दी टीका सहित)	गीताप्रेस, गोरखपुर	प्रथम	१
८८	आलोचना, अंक ६	सं० शिवदानसिंह	प्रथम	१
८९	रीतिकाव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र	द्वितीय	४
९०	सूर और उनका काव्य	डा० हरवंशलाल	प्रथम	२
९१	हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य	कमल कुलश्रेष्ठ	प्रथम	२
९२	A History of Maithili Literature	जयकान्त मिश्र	१९४९	१०
९३	हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल	पाँचवाँ	१
९४	विद्यापति की पदावली	रामवृक्ष वेनीपुरी	द्वितीय	४
९५	विद्यापति पदामृत	ओंकारनाथ	प्रथम	१
९६	हिन्दी प्रेमगाथा काव्य-संग्रह	गणेश प्रसाद द्विवेदी	प्रथम	१०
९७	अष्ट-छाप और बल्लभ सम्प्रदाय	दीनदयालु गुप्त	प्रथम	२
९८	अष्ट छाप-परिचय	प्रभुदयाल मित्तल	...	२
९९	हिन्दी साहित्य की भूमिका	हजारीप्रसाद द्विवेद्वी	चतुर्थ	४
१००	उज्वल नील मणि (रूप गोस्वामी)	सं० दुर्गाप्रसाद	१९३२	१
१०१	प्रेमसुधा सागर	गीताप्रेस गोरखपुर		१
१०२	नन्ददास ग्रन्थावली	ब्रजरत्नदास	प्रथम	४

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	लेखक या संपादक	संस्करण	उप० स्थान
१०३	सूरदास	डा० ब्रजेश्वर वर्मा	द्वितीय	४
१०४	महाकवि सूरदास	नंददुलारे वाजपेयी	१९५२	१
१०५	भ्रमर गीत सार	रामचन्द्र शुक्ल	२००६	१
१०६	विद्यापति ठाकुर	उमेश चिश्र	प्रथम	२
१०७	गीतिकार विद्यापति	रामवाशिष्ठ	प्रथम	२
१०८	बंगला साहित्य की कथा	सुकुमार सेन	प्रथम	२
१०९	सूर-सागर	सूरदास	प्रथम	२
११०	सूर-सौरभ	मुंशीराम शर्मा	प्रथम	२
१११	भारतीय धर्म-साधना और सूर	मुंशीराम शर्मा 'सोम'	प्रथम	२
११२	वैदिक रीडर	मैकडानैल	प्रथम	१
११३	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	रामकुमार वर्मा	तृतीय	१
११४	दादू के शब्द	सुधाकर द्विवेदी	प्रथम	२
११५	भाव-विलास	देव	प्रथम	२
११६	आलम-केलि	आलम	प्रथम	२
११७	कामायनी	प्रसाद	प्रथम	१
११८	चिन्तामणी	रामचन्द्र शुक्ल	तृतीय	१
११९	हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण	किरण कुमारी गुप्ता	प्रथम	४
१२०	साहित्यालोचन	श्यामसुन्दरदास	तृतीय	४
१२१	उर्दू साहित्य का इतिहास	ब्रजरत्नदास	२००७	१
१२२	As you Like It	Shakespeare		१
१२३	The Tempest	,,		१
१२४	Twelfth Night	,,		१
१२५	मध्यकालीन भारतीय संस्कृति	गौरीशंकर ओझा	१९४३	४
१२६	प्रेमयोग	वियोगी हरि		१
१२७	गीतावली	तुलसी		१
१२८	Making of Literature	James Scott		१
१२९	कवि-प्रिया	केशवदास	प्रथम	१
१३०	रसिक प्रिया	केशवदास	प्रथम	४
१३१	हिन्दू जाति का उत्थान और पतन	रजनीकान्त शास्त्री	प्रथम	४

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	लेखक या संपादक	संस्करण	उप० स्थान
१३२	अंग्रेजी साहित्य की रूप-रेखा	भगवत शरण	प्रथम	१
१३३	काव्य-दर्पण	रामदहिन मिश्र	द्वितीय	१
१३४	हरि भक्ति रसामृत सिन्धु (रूप गोस्वामी)	सं० दामोदर	प्रथम	१
१३५	वीर काव्य	उदय नारायण	१९४८	१
१३६	डिंगल में वीर रस	मोतीलाल मेनारिया	२००६	१
१३७	हिन्दी साहित्य	हजारी प्रसाद द्विवेदी	प्रथम	१
१३८	जायसी ग्रन्थावली	रामचन्द्र शुक्ल		२
१३९	राजस्थानी भाषा और साहित्य	मोतीलाल मेनारिया	प्रथम	२
१४०	वीसलदेव रासो–नरपति नाल्ह	सत्यजीवन वर्मा	प्रथम	२
१४१	बेलि क्रिसन रुक्मणी री	पृथ्वीराज	प्रथम	१
१४२	ढोला मारू रा दूहा	सं० नरोत्तव दास	प्रथम	२
१४३	कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा	सातवाँ	१
१४४	कबीर ग्रन्थावली	डा० श्यामसुन्दरदास	चतुर्थ	१
१४५	रामचरित-मानस-तुलसीदास	गीताप्रेस, गोरखपुर		१
१४६	ब्रज भाषा काव्य में नायिका भेद	प्रभुदयाल मित्तल	द्वितीय	२
१४७	रीतकालीन कविता और शृङ्गार रस का विवेचन	राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी	प्रथम	१
१४८	मतिराम ग्रन्थावली	कृष्ण बिहारी मिश्र	तृतीय	४
१४९	पद्माकर रत्नावली	सं० किंकर	१९५०	१
१५०	देव रत्नावली	सं० किंकर	१९४८	१
१५१	घनानन्द कवित्त	सं० विश्वनाथ	प्रथम	१
१५२	भारतेन्दु ग्रन्थावली	ब्रजरत्नदास	प्रथम	१
१५३	रामचन्द्रिका	केशवदास	प्रथम	१
१५४	गजलों के बादशाह-मीर	...	प्रथम	१
१५५	कविवर बिहारीलाल	राधाकृष्णदास	प्रथम	२
१५६	बिहारी-रत्नाकर	जगन्नाथ प्रसाद 'रत्नाकर'	१९५१	४
१५७	बिहारी की वाग्विभूति	विश्वनाथ प्रसाद		२
१५८	बिहारी	विश्वनाथ प्रसाद		४
१५९	कविवर बिहारी	जगन्नाथ दास रत्नाकर	प्रथम	२

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	लेखक या संपादक	संस्करण	उप० स्थान
१६०	बिहारी और देव	भगवानदीन	प्रथम	४
१६१	देव और बिहारी	कृष्ण बिहारी मिश्र	२००६	२
१६२	मिश्रबन्धु विनोद	मिश्रबन्धु	प्रथम	२
१६३	बिहारी सतसई की भूमिका	पद्मसिंह शर्मा		४
१६४	बिहारी दर्शन	लोकनाथ द्विवेदी	प्रथम	२
१६५	हिन्दी नवराज	मिश्रबन्धु	प्रथम	२
१६६	केशव पंचरत्न	भगवानदीन	प्रथम	४
१६७	विज्ञान गीता	केशव	प्रथम	४
१६८	A History of Braj Buli Literature	Sukumar Sen	1935	10
१६९	साहित्यालोचन	श्यामसुन्दर दास	२००६	१
१७०	हिन्दी सूफी काव्य	डा० विमलकुमार	प्रथम	१०
१७१	हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास	डा० भागीरथ मिश्र	प्रथम	२
१७२	राजस्थानी भाषा और साहित्य	मोतीलाल मेनारिया	प्रथम	२
१७३	चतुर्वेदी पत्रिका		...	...

सहायक पुस्तक–सूची का वर्गीकरण



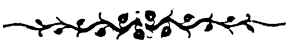
१. मनोविज्ञान एवं सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी—क्रम संख्या १–२४।

२. प्राचीन भारतीय साहित्य एवं संस्कृति सम्बन्धी—क्रम संख्या २५–८७, १२५।

३. हिन्दी साहित्य सम्बन्धी—क्रम संख्या ८८–१२०, १२६, १२७, १२९–१५३, १६५–१७३।

४. बिहारी सम्बन्धी—क्रम संख्या १५५–१६४।

५. अन्य भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी—क्रम संख्या १२१–१२४, १२८, १५४।



बिहारी का युग, उनकी परिस्थितियाँ और उनका व्यक्तित्व

(क) विभिन्न परिस्थितियाँ

(क) **राजनीतिक परिस्थितियाँ**—महाकवि बिहारी का आविर्भाव[1] (सन् १५९५ ई०) उस युग में हुआ जबकि मुगल साम्राज्य अपने पूर्ण यौवन काल में था। सम्राट अकबर (मृत्यु १६०५ ई०)[2] जहाँगीर, (मृत्यु १६२३)[3] और शाहजहाँ (मृत्यु १६६६)[4] जैसे बादशाहों के शासन काल में उनका जीवन व्यतीत हुआ। जहाँ अकबर ने एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना के द्वारा समस्त उत्तरी भारत में एक ऐसा शान्तिमय वातावरण तैयार किया जिस में साहित्य और कलाओं का विकास हो सके, उसके परवर्ती शासकों—जहाँगीर और शाहजहाँ, की रसिक प्रवृतियों ने कला और साहित्य के उद्यान को और भी अधिक उन्नत किया। जहाँगीर और शाहजहाँ—दोनों सौन्दर्योपासक सम्राट थे, और थे सच्चे प्रेमी। यदि ताजमहल, जामामस्जिद, दीवाने खास आदि इमारतों से उनका कला प्रेम सूचित होता है तो नूरजहाँ और मुमताज से सम्बन्धित इतिवृत्ति उनके हृदय की प्रेमासक्ति को व्यंजित करता है। उनके जीवन का दृष्टिकोण दीवान-खास पर अंकित इन शब्दों से भली प्रकार प्रकट होता है—"यदि भूमि पर कहीं आनन्द का स्वर्ग है तो वह यही है, यही है।"[5] सचमुच इन सम्राटों ने सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं प्रेम की एक ऐसी त्रिवेणी प्रवाहित की थी, जिससे अनुरंजित होकर पृथ्वी स्वर्ग का भ्रम उत्पन्न करने लगे तो आश्चर्य नहीं।

---

१. स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास रत्नाकरजी ने गहरे अनुसन्धान के अनन्तर बिहारी का जन्म सं० १६४२ विक्रमी निश्चय किया है—कविवर बिहारी, पृ० ३१६

२. भारत का नवीन इतिहास—ईश्वरीप्रसाद, पृ० २०२।

३. वही पृ०—२१८।

४. वही पृष्ठ—२१८।

५. वही पृष्ठ—२६५।

शासकों की इन प्रवृत्तियों का प्रभाव सम्बन्धित नरेशों, सामन्तों, अधिकारियों और धनिक वर्ग के अन्य लोगों पर पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि इस युग के उच्च वर्गीय समाज में कला और साहित्य को पर्याप्त सम्मान मिला। कविता करना, या अपने आश्रय में कवियों को रखना उस युग के सामन्त वर्ग में एक फैशन की भाँति प्रचलित था।

(ख) धार्मिक अवस्था—इस युग में एक ओर विभिन्न धर्मोपदेशों के प्रभाव से तथा दूसरी ओर सम्राट अकबर के प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बहुत कुछ दूर हो गया था। हिन्दू धर्म के क्षेत्र में भी विभिन्न सम्प्रदाय प्रवर्तकों द्वारा प्रेम-प्रधान उपासना-पद्धतियों का प्रचार हो रहा था। राधा-कृष्ण की शृंगारी लीलायें अब जनता के हृदय में भली प्रकार प्रतिष्ठित हो गई थीं। इनकी स्वाभाविकता, वास्तविकता एवं नैतिकता के प्रति लोगों के मन में कोई सन्देह नहीं रह गया था। अतः अब कवियों को भी धार्मिकता के नाम पर शृंगार की गंगा बहाने की पूरी स्वतन्त्रता मिल गई थी।

(ग) सामाजिक अवस्था—इस युग के हिन्दू-समाज में न तो धार्मिक कट्टरता ही थी और न राजनैतिक प्रभुता ही—फलस्वरूप उसका जीवन लक्ष्य-विहीन हो गया था। धर्म के वे केन्द्र—मंदिर, आदि जहाँ से जन-साधारण को चरित्र की उज्ज्वलता और नैतिकता का प्रकाश मिलता है, स्वयं अधिकारियों की भोगलिप्सा के कारण धूमिल होते जा रहे थे। अब कृष्ण भक्ति के दिव्य-संदेश के स्थान पर अनेक पुजारी अपने शिष्य-शिष्याओं को—"तन, मन, धन, गोसाईं जी के अर्पण" करने की प्रेरणा दे रहे थे। उस युग के कथावाचक भी परतिय—दोषों का बखान करते हुए भी स्वयं कितने पतित होते थे, इसका चित्रण बिहारी ने एक दोहे में किया है।[1] तत्कालीन समाज के नैतिक स्तर के ह्रास को बिहारी के और भी कई दोहे सूचित करते हैं। शिशु को लेने के बहाने किसी लम्पट द्वारा युवती के वक्ष को छूना[2], अपने पुत्र को किसी और की सन्तान समझ कर भी ज्योतिषी का प्रसन्न होना,[3] पड़ौस में रहने वाली

---

१. परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मित्र हूँ मुँह-आई मुसकानि॥ —२६४

२. लरिका लैबे कैं मिसनु लंगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आंकुरी छाती छैलु छुवाइ॥ —२८६

३. चित पित-मारग जोगु गनि भयौ मयैं सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझैं जारज-जोगु॥ —५७५

परकीयाओं से नायक का गुप्त सम्बन्ध रखना,[1] देवर की कुत्सित प्रवृत्तियों के कारण भोजाई के दुःखी रहने[2]—आदि का बिहारी ने चित्रण किया है। संभव है कि बिहारी के ये सारे वर्णन कल्पना-प्रसूत हों, किन्तु उस कल्पना के पीछे भी वास्तविकता का थोड़ा बहुत आधार तो अवश्य स्वीकार करना होगा। यदि उस युग के पाठक या श्रोता का नैतिक स्तर ऊँचा तथा उसकी रुचि परिष्कृत होती तो बिहारी को इस प्रकार के गर्हित दृश्यों के चित्रण का साहस नहीं होता।

(घ) **साहित्यिक अवस्था**—यदि हम हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन को ध्यान में रखते हुए विचार करें तो बिहारी का काव्य रचना काल (१६९२ वि०–१७०४)[3] भक्ति काल का अंतिम चरण सिद्ध होता है। यद्यपि हमारे इतिहासकारों ने रीति काल का आरम्भ सं० १७०० वि० से माना है किन्तु बिहारी के पूर्व पर्याप्त संख्या में रीति-बद्ध शृंगार-प्रधान काव्य लिखा जा चुका था। कृपाराम की 'हिततरंगिणी'[4] (सं० १५९८) नंददास की 'रस-मंजरी' और 'विरह-मंजरी'[5] केशवदास की "रसिक प्रिया" (१६४८ वि०)[6] और 'कवि-प्रिया' (१६५८ वि०)[7] बलभद्र मिश्र की 'शिख-नख' वर्णन (लगभग १६५० वि०)[8] मोहन लाल मिश्र का 'शृंगार-सागर'[9] करनेश[10] कवि का 'करणाभरण' 'श्रुतिभूषण' और भूप-भूषण[11] आदि रचनाओं में रीति काल की अनेक प्रवृत्तियों—नख-शिख-वर्णन, नायिका-भेद-निरूपण तथा अलंकार-वर्णन आदि का विकास मिलता है। अस्तु, बिहारी के युग में भक्ति काल का अस्त और रीति काल का उदय हो रहा था, बिहारी ने अपनी सतसई में भक्ति और शृंगार का मेल करके दोनों युगों की प्रवृत्तियों को

---

१. देखिये—बिहारी रत्नाकर, दोहा संख्या—१९३, १९४, २६०, २६२, २६३, ४५६, ५०५, ५५१, ६५४ आदि।

२. कहति न देवर की कुबत, कुल-तिय कलह डराति।
पंजर-गत मंजार-ढिग सुक ज्यों सूकति जाति॥ —८५

३. बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने गहरे अनुसन्धान से सतसई का आरम्भ १६८२ विक्रमी तथा समाप्ति १७०४ वि० के लगभग माना है।
—कविवर बिहारी

४ से १०—हिन्दी-साहित्य का इतिहास
—आ० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १९५-२४५

अपनाया है, फिर भी डूबते हुए सूर्य की अपेक्षा उगते हुए को अधिक सम्मान देने की प्रथा के अनुसार इन्होंने भी रीति प्रवृत्तियों को प्रधानता दी है।

मध्यकालीन युग के शाही दरबारों में भाषा-काव्य के साथ-साथ फारसी काव्य को भी पूरा सम्मान प्राप्त था। अतः उसके साहित्य का प्रभाव हिन्दी के दरबारी कवियों पर भी पड़ रहा था। बिहारी पर फारसी का प्रभाव कितनी मात्रा में था, इसकी विवेचना आगे विस्तार पूर्वक की गई है।

(ङ) **वैयक्तिक परिस्थितियाँ**—जैसा कि परिशिष्ट (क) में सिद्ध किया गया है, बिहारी का जन्म उस कवि केशवदास के घर में हुआ जिनके कुल के दास भी पढ़े लिखे होते थे। यही कारण है कि बिहारी के काव्य में हम संस्कृत, प्राकृत, व भाषा काव्य के गहरे अध्ययन का प्रमाण पाते हैं। केशवदास की रसिकता इसी से सिद्ध है कि उन्हें वृद्धावस्था मे भी युवतियों के मुंह से बाबा सम्बोधन सुनकर दुःख होता था,[1] बिहारी मे भी इस रसिकता का पूर्ण विकास पाया जाता है। केशवदास के बड़े भाई[2] बलभद्र मिश्र ने 'नख-शिख' ग्रन्थ लिखा था तथा उनके द्वारा गोवर्द्धन की 'आर्या-सप्तशती' की भी टीका लिखे जाने की बात प्रचलित है,[3] अतः बहुत संभव है कि सतसई लिखने की मूल कल्पना बिहारी के मन मे इसी से उदित हुई हो। बलभद्र मिश्र के 'नख-शिख' का बिहारी पर कितना प्रभाव है, इसकी भी चर्चा आगे प्रसंगानुसार की गई है।

बिहारी के जीवन का अधिकांश भाग जयपुर नरेश महाराजा जयसिंह के आश्रय में बीता। राजा जयसिंह बड़े भारी विद्वान, कला-प्रेमी और रसिक व्यक्ति थे। उनका आश्रय पाकर बिहारी को स्थान-स्थान पर भटकने तथा नये-नये आश्रय दाताओं के लिये नई-नई कृतियाँ तैयार करने की आवश्यकता नही पड़ी। इसी लिये उनके समस्त जीवन का काव्य-साधना का सार उनकी एक मात्र कृति—'सतसई' में निहित है।

१. वही—पृष्ठ २१३। इस सम्बन्ध में केशव का यह दोहा उल्लेखनीय है :

केशव केसनि अस करी, जस न अरिहु कराहिं।
चंद्रवदनि मृग-लोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥

२. "ये प्रसिद्ध केशव दास के बड़े भाई थे"—हिन्दी साहित्य का इतिहास —शुक्ल, पृ० २०५

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास।

—शुक्ल, पृष्ठ २०६

(ख) व्यक्तित्व

बिहारी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाली ऐसी कोई सामग्री नहीं मिलती जिसे हम बहिर्साक्ष्य के रूप में ग्रहण कर सकें। फिर भी उनकी सतसई के आधार पर उनके व्यक्तित्व की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उद्घाटन किया जा सकता है।

हमारे यहाँ कवि के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये तीन बातें आवश्यक मानी गई हैं—(१) प्रतिभा, (२) अध्ययन, और (३) आभास। सतसई के अनेक दोहो में जैसी सरसता विद्यमान है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि बिहारी मे काव्य प्रतिभा पर्याप्त मात्रा में थी। उनके काव्य में अनेक प्राकृत संस्कृत के कवियों से भाव साम्य पाया जाता है,[१] तथा साहित्य के अतिरिक्त ज्योतिष[२], वैद्यक[३], दर्शन[४] गणित[५], आदि के भी साधारण ज्ञान का आभास उनके कुछ दोहों से मिलता है, अतः उनके अध्ययन-क्षेत्र की भी व्यापकता स्वीकार करनी होगी। इसके अतिरिक्त उनके दोहों की परिष्कृति,

---

१. देखिये इसी प्रबन्ध का "भारतीय काव्य का प्रभाव" शीर्षक अध्याय।

२. भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराजि।
इंदु कला कुज में बसी मनौ राहु-भय भाजि॥ —६९०
\+ . + +
तिय-मुख लखि हीरा-जरी, बेंदी बढ़े विनोद।
सुत-सनेह मानो लियो बिधु पूरन बुधु गोद॥ —७०७
\+ + +
मंगलु बिन्दु सुरंगु मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन-जगत। —४२
\+ + +
सनि-कज्जल चख-झख-लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगिवै लहि सुदेसु सुब देहु॥ —५

३. यह बिनसतु लगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइयै आइ सुदरसनु देहु॥ —१२०

४. मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सो।
एकै रूपु अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥ —१८१

५. कहत सबै, बेंदी दियें आँकु दस गुनो होतु।
तिय-लिलार बेंदी दियें अगिनितु बढ़त उदोतु॥ —३२७

उनकी समास-शक्ति तथा उनके भाषाधिकार से उनके गहन अभ्यास का पता चलता है। अस्तु, उनके व्यक्तित्व में तीनों गुणों का समन्वय मिलता है।

बिहारी की रुचि में कला-प्रियता एवं रसिकता का गहरा समावेश था। ऐसे लोगों से जो वस्तु का मूल्य उनके गुणों के आधार पर न कर, उसकी लम्बाई-चौड़ाई या उसके परिमाण के आधार पर करते थे, उनको तीव्र घृणा थी। प्रायः ग्राम-वासी लोगों में यह प्रवृत्ति अधिक मात्रा में पाई जाती है अतः उन्होंने अपने अनेक दोहों में उनकी आलोचना की है।[1]

बिहारी दरबारी कवि थे किन्तु फिर भी उनमें स्पष्टवादिता का गुण पर्याप्त मात्रा में था। अपने आश्रय दाता को विभिन्न परिस्थितियों में सचेत करने के लिये उन्होंने कुछ दोहे ऐसे भी लिखे हैं जो कटु सत्य का बोध मार्मिकता से कराते है।[2] रीति काल के अधिकांश कवियों ने अपने काव्यों का नामकरण आश्रयदाता के नाम पर किया है किन्तु बिहारी ने ऐसा नहीं किया तथा सात सौ दोहों के काव्य में केवल सात दोहों में आश्रयदाता की संतुलित प्रशंसा की है[3], इससे प्रतीत होता है कि उन्हें चाटुकारिता से प्रेम नहीं था।

जहाँ तक प्रेमानुभूतियों का सम्बन्ध है बिहारी ने अनुपम युवतियों के सौन्दर्य का गहरा निरीक्षण किया था, आँखों की लगा-लगी का भी उन्हें अनुभव था, किन्तु इससे अधिक आगे इस क्षेत्र मे वे नहीं बढ़े थे। घनानन्द आदि कवियों की भाँति उन्हें प्रेम की ऐसी विशद एवं गम्भीर अनुभूति प्राप्त नहीं थी जो उनके जीवन के समस्त कार्य-व्यापारों पर छा जाय। यही कारण है कि उनके काव्य में नायक की प्रेमानुभूतियों का विवरण बहुत कम—प्रायः नही के बराबर है। उनका वियोगानुभूतियों का वर्णन भी अनुभूति-शून्य है!

---

१. सबै हंसत कर तार दे नागरता कै नांव।
गयी गरबु गुन कौ सरबु गऐं गंवारें गांव॥ —२७६

\+ \+ \+

फूल्यौ अन फूल्यौ भयौ गवंई-गाँव गुलाब। —४३४

\+ \+ \+

गंधी अंध, गुलाब को गंवई गाहकु कौनु॥ —६२४

२. स्वारथु सुकृतु न श्रम वृथा, देखि विहंगि विचारि।
बाज पराएँ पानि परि तूं पच्छीनु न मारि॥ —३००

३. दोहा सं०—८०, १५६, १६७, २२६, ७१०, ७११, ७१२।

बिहारी के प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आगे विस्तार से प्रकाश डाला गया है—अतः हम यहाँ बस इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि बिहारी जीवन के सभी क्षेत्रों में अतिवादिता से बचकर चलने वाले व्यक्ति थे। वे दो विरोधी प्रवृत्तियों के बीच भी सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए अपने लिये मार्ग बना सकते थे। यही कारण है कि उनके काव्य में भक्ति और शृंगारिकता का, नीति और उच्छृङ्खलता का, भावात्मकता एवं ऊहात्मकता का, प्राचीनता और नवीनता का अपूर्व सामंजस्य मिलता है।

सतसई-रचना का प्रेरणा-स्रोत, उद्देश्य और उसकी प्रवृत्तियाँ

प्रेरणा-स्रोत—बिहारी 'बिहारी-सतसई' की रचना में क्यों प्रवृत हुए ? इसके उत्तर में बिहारी की आलोचना करने वाले सभी विद्वानों ने एक प्रसिद्ध घटना का उल्लेख किया है। "सम्वत् १६६१–६२ के लगभग वे (बिहारी) जब अपनी वृत्ति लेने के लिये आमेर गए हुए थे तो पता चला कि तत्कालीन नरेश महाराजा जयसिंह एक नयी ब्याह लाई हुई रानी के प्रेम में मुग्ध होकर महल के भीतर ही पड़े रहते हैं।—उन्होंने बड़ा उद्योग करके निम्नलिखित दोहा महाराज के निकट पहुँचाया :—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं विकासु इहिं काल।
अली ! कली ही सों बंध्यो, आगें कौन हवाल ।।

इस दोहे की रहस्यमयी उक्ति ने महाराज को सचेत कर दिया और वे तुरन्त महल छोड़कर निकल आए। उन्होंने प्रसन्न होकर बिहारी को बहुत सा पुरस्कार दिया और कहा कि आप इसी प्रकार कविता बनाकर मुझे सुनाया करें तो आपको प्रति छन्द पर एक मोहर पुरस्कार-स्वरूप मिला करेगी। बिहारी ने यह आदेश स्वीकार कर लिया।"[१]

उपर्युक्त घटना का विवरण अनुश्रुति रूप में ही प्रचलित है, अतः इसकी वास्तविकता के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। संदेह के लिये भी उपर्युक्त इतिवृत्त में पर्याप्त स्थान है—(१) जयसिंह ने इन दिनों कोई नया विवाह रचाया था या नहीं—और यदि रचाया था तो इस नई रानी का क्या नाम था ? इसका उत्तर अभी तक किसी ने नहीं दिया। (२) यदि सतसई रचना का आरम्भ—"नहिं परागु—" इसी दोहे से हुआ तो फिर इसे सतसई में पहला या मंगलाचरण के तुरन्त बाद दूसरा स्थान मिलना चाहिए था, जबकि रत्नाकरजी ने जोकि अपनी सतसई का क्रम बिहारी की मूल रचना के अनुरूप

---

१. बिहारी की वाग्विभूति, पृष्ठ संख्या ४

मानते हैं—इसे अड़तीसवाँ स्थान दिया है। (३) यदि बिहारी ने इससे पूर्व कोई रचना नही की (सतसई के अतिरिक्त उनकी कोई रचना मिलती भी नहीं है) तो पहले ही वे कवि रूप में प्रसिद्ध कैसे हो गये तथा उनकी वृत्ति कैसे बँध गई।

यदि अधिक तार्किकता में उलझने का प्रयत्न न किया जाय तो उपर्युक्त संदेह इन आधारों पर दूर किये जा सकते हैं—(१) यह अनुश्रुति बहुत पुरानी है तथा टीकाकारों ने इसका उल्लेख किया है। (२) उन दिनों राजा-महाराजा नित्य नये विवाह रचाते थे, अतः किसी रानी विशेष का नाम देना आवश्यक नहीं (३) "नहिं परागु—" दोहे को कृष्ण कवि तथा प्रभुदयाल पांडे ने अपनी टीकाओं में तीसरा स्थान प्रदान किया है।[1] (४) बिहारी ने इससे पूर्व बहुत से दोहे लिखे होगे किन्तु उन्हें बाद में सतसई मे ही मिला दिया गया होगा।

अस्तु, उपर्युक्त इतिवृत्त सत्य हो या न हो, इतना निश्चित है कि सतसई का निर्माण महाराजा जयसिंह के ही आश्रय में हुआ था, क्योंकि सतसई में उनसे सम्बन्धित सात दोहे आते है[2] तथा उन्होंने अन्य किसी नरेश का उल्लेख नही किया। इसके अतिरिक्त सतसई के अन्तिम दोहे मे भी जयसिंह की आज्ञा से सतसई निर्माण मे प्रवृत्त होने का प्रमाण मिलता है।[3]

एक बात यहाँ और उल्लेखनीय है। महाराजा ने उन्हें सरस दोहे बनाने की ही आज्ञा दी होगी, उनकी संख्या सात सौ ही हो—ऐसा उन्होंने कदाचित् ही कहा होगा। ऐसी स्थिति में हम अनुमान कर सकते है कि सतसई लिखने की कल्पना पहले भी बिहारी के मन मे रही होगी। उनके पितृव्य[4] बलभद्र मिश्र के द्वारा "आर्यासप्तशती" की टीका लिखे जाने की बात प्रचलित है[5] अतः संभवत उसी से उनका सतसई के प्रति आकर्षण रहा हो।

रचना का लक्ष्य और प्रवृत्तियाँ—सतसई की रचना के समय बिहारी का लक्ष्य एक मात्र शृंगार रस का प्रतिपादन करना ही नहीं था। वे सभी प्रकार की

---

१. बिहारी रत्नाकर—उपस्करण-१, पृष्ठ १७।

२. दोहा संख्या—८०–१५६–१६७–२२६–७१०–७११–७१२।

३. हुकुम पाई जय साहि को हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद॥ —७१३

४. देखिये परिशिष्ट (क) में यह सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि बिहारी बलभद्र मिश्र के अनुज केशवदास के पुत्र थे।

५. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २०६।

रुचि के लोगों को तुष्ट करना चाहते थे—अतः उन्होंने उसमें भक्ति, नीति, दर्शन, नायिका भेद, अलंकारिता, ऊहात्मकता आदि अपने युग की सभी प्रवृत्तियों का सामंजस्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। इस तथ्य को उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है—

"हुकुम पाई जयसाहि को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, **भरी अनेक सवाद**॥

—७१३

यहाँ "भरी अनेक सवाद" विशेष रूप से दृष्टव्य है।

सतसई का स्थूल विश्लेषण—उपर्युक्त प्रवृत्तियों में से भी किस को प्रधानता मिली है, इस बात का पता लगाने के लिये सतसई का स्थूल विश्लेषण करना उपयोगी सिद्ध होगा। विषय भेद के अनुसार सतसई के दोहों की संख्या इस प्रकार है।*

१—नारी सौन्दर्य का वर्णन	११०	दोहे
२—नारी चेष्टाओं का चित्रण	६४	,,
३—प्रेमानुभूतियों से सम्बन्धित	१२४	,,
४—संयोग-वर्णन	२५	,,
५—विरह-वर्णन	६५	,,
६—प्रकृति-वर्णन	३५	,,
७—नायिका भेद सम्बन्धी	१५०	,,
८—शृंगार के स्वतन्त्र वर्णन	२०	,,
९—भक्ति सम्बन्धी	५०	,,
१०—नीति सम्बन्धी	४५	,,
११—दर्शन, ज्योतिषादिविषयों पर	१७	,,
१२—महाराजा जयसिंह सम्बन्धी	७	,,
कुल दोहे	७१२	

(बिहारी रत्नाकर के आधार पर)

* प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने स्वयं बिहारी के समस्त दोहों का विषय क्रमानुसार वर्गीकरण किया है। यह संख्या उसी वर्गीकरण के आधार पर दी गई है। इसका पूरा विवरण देखिये—परिशिष्ट (ख) में।

उपर्युक्त विश्लेषण में से वर्ग संख्या १ से ८ तक के सभी विषय शृंगार रस से सम्बन्धित है, जिनकी संख्या लगभग ६०० है। अतः सतसई में शृंगार रस की ही प्रमुखता सिद्ध होती है।

अन्य विषयों की मूल प्रवृत्ति—सतसई के शृंगारेतर विषयों के दोहे भी शृंगारिकता से सर्वथा मुक्त नही है। नीति का उपदेश देने के लिये भी बिहारी की दृष्टि नारी अंगों से ही सामग्री ग्रहण करती है—नये अधिकारियों द्वारा एक का स्वत्व किस प्रकार दूसरे को दे दिया जाता है, इसे समझाने के लिये वे उस बाला का उदाहरण प्रस्तुत करते है जिसकी कटि की गुरुता नव-यौवन के द्वारा उरोजों को दे दी गई है।[1] एक साधारण व्यक्ति भी उच्च पद को प्राप्त करके किस प्रकार लोगों के द्वारा पूज्य होता है, इसे स्पष्ट करने के लिये 'तरुणि-कुच' पर आसीन धुँधुची माला का दृष्टान्त देते है।[2] कुसंगति का प्रभाव सिद्ध करने के लिये भी उन्हें दूर नहीं जाना पड़ता—कुटिल भ्रकुटी के सान्निध्य से नायिका की चितवन का टेढ़ा हो जाना, प्रत्यक्ष प्रमाण[3] है। दुष्ट प्रकृति के लोग सम्पति पाकर किस प्रकार तन जाते हैं, इस तथ्य को भी वे नव-यौवना के उन्नत स्तनों के आधार पर सिद्ध करते है।[4] इसी प्रकार युवती के वक्ष पर पड़े हुए मुक्ताहार को देखकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उच्च-पद के लोभ के कारण किस प्रकार कोई व्यक्ति मान-अपमान सहन कर लेता है।[5]

बिहारी के भक्ति सम्बन्धी वे दोहे जिनमें उन्होंने आत्म-निवेदन किया है शृंगारिकता से मुक्त है, किन्तु आत्म-निवेदन के अतिरिक्त अन्य सभी दोहों में रसिक वृत्ति का ही रंग है। बिहारी के आराध्य गोवर्द्धन-धारण की गम्भीर

---

१. नब नागरितन-मुलुकु लहि जोबन-ग्रामिर-जोर।
घटि बढ़ि तै बढ़ि घटि रकम करीं और की और॥ —२२०

२. पाइ तरुनि कुच-उच्चपदु चिरम ठग्यो सबु गाउँ।
छुटें ठोरु रहि है वहै, जु हो मोलु, छबि, नाउँ॥ —२३७

३. संगति-दोषु लगे सबनु कहे ति साँचे बैन।
कुटिल-बंक-भुव-संग भए, कुटिल बंक-गति नैन॥ —३०३

४. संपति केस, सुदेश नर नवत, दुहुनि इक बानि।
विभव सतर कुच, नीच नर, नरम विभव की हानि॥ —११९

५. गहै न नैकौ गुन गरबु हँसो सबै संसारु।
कुच-उच पद-लालच रहैं गरैं परैं हूँ हारु॥ —३७९

वेला में भी किसी किशोरी बाला को देखकर रोमांचित हो उठते हैं।[1] इसी प्रकार ब्रह्म की सूक्ष्मता का प्रतिपादन करने के लिये भी वे नारी की सूक्ष्म कटि को आधार बनाते हैं।[2] ज्योतिष के कुछ सिद्धान्तों का समर्थन भी वे नायिका की बेंदी और उसके मुख के आधार पर करते हैं।[3] अस्तु इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बिहारी के काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति शृंगारिकता की ही है, अन्य प्रवृत्तियों के मूल में भी इसी की प्रेरणा है। चाहे वे आराध्य की भक्ति कर रहे हों, या दर्शन और ज्योतिष के सिद्धान्त समझा रहे हों अथवा नीति के उपदेश दे रहे हों—बिहारी की दृष्टि प्रत्येक समय नारी के अंग-विशेषों पर ही रहती है। वस्तुतः नारी का नख-शिख बिहारी के लिये एक ऐसा कल्पवृक्ष है जिससे उन्हें धर्म, ज्योतिष, दर्शन नीति, शृंगार आदि सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

---

१. डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरैं लजाने लाल॥ —६०१

२. बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किएँ नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख लखी नहिं जाइ॥ —६४८

३. दोहा संख्या—५-४२-६९०-७०७ आदि।

पद्मावत कार (जायसी) ने पूरे सर्ग[1] में पद्मिनी के नख-शिख का वर्णन किया है तो दूसरी ओर विद्यापति और सूरदास ने राधा-कृष्ण के नख-शिख सम्बन्धी कई पद लिखे हैं। हिन्दी साहित्य के रीति-काल में हम नख-शिख वर्णन की परम्परा में एक नया मोड़ पाते हैं। पहले प्रबन्ध काव्यों के बीच में ही प्रसंगानुसार नख-शिख-वर्णन किया जाता था किन्तु इस युग में इसी विषय को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना होने लगी। बलभद्रमिश्र[2], कुलपति[3], सूरति मिश्र[4] आदि कवियों ने नख-शिख पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। बिहारी अपने युग की इस प्रवृति से पूरी तरह प्रभावित हैं। यद्यपि उन्होंने 'नख-शिख वर्णन' शीर्षक का प्रयोग नहीं किया तथा नायिका के अंगों का वर्णन भी क्रमशः नहीं किया, किन्तु उनके काव्य में नखशिख के सभी अवयव प्राप्त हो जाते हैं। देखिये :—

(अ) शरीर के विभिन्न अवयवों का वर्णन

(क) मुख : दोहा-संख्या[5] ४५, ७३, २६८, २६९।

(ख) नेत्र : दोहा सं० २७, ४५, ४६, ५७६।

(ग) चितवन : दो० सं० ५८८, ६१५।

(घ) चिबुक का गड्ढा : १७—चिबुक का गोदना २७०, ५७३।

(ङ) अलकें : ४४२।

(च) स्तन : २६,२, ११२, १८८, ४४९।

(छ) कटि : ५३२, ११२।

(ज) नितम्ब : २, २१०।

(झ) पैर के गट्टे २०८; एड़ी की लालिमा ३५,४४; पादांगुलियों की अरुणिमा ४१८; पैर का अँगूठा २०८; पावों की सुकुमारता ४८३; पद तल लालिमा ४९०।

(ञ) हाथ की अंगुलियाँ ३३८, नख शोभा ५५०।

---

१. पद्मावत—नख-शिख खंड।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—
—रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ २०५

३. वही—पृष्ठ, २५८।

४. वही—पृष्ठ, २७०।

५. इस प्रबन्ध में सर्वत्र दोहों की संख्या "बिहारी-रत्नाकर" के आधार पर दी गई है।

(आ) शारीरिक-गुण

(क) कान्ति : १०२, ३३०।
(ख) द्युति : १०६, १५२, २०७, २६६, ३३३।
(ग) रंग : १३३, ३५६, ५१२।
(घ) सुगन्धि : १३३।
(ङ) शोभा : २३६।
(च) लावण्य : ४७३।
(छ) सुकुमारता : २५६, ३२२, ३३६।
(ज) यौवन-छटा : ४०, ७०, १६०।
(झ) पल-पल-परिवर्तित सौन्दर्य : ३४७।
(ञ) पारदर्शिकता : ४४०।
(ट) सर्वांग-सौन्दर्य : ४६५।
(ठ) विकास : ६१३।

(इ) सौन्दर्य प्रसाधन

(क) मेंहदीं : ४४८
(ख) पानपीक : २६७
(ग) कज्जल : २६७
(घ) गोंदना : २७०
(ङ) बेंदी : २७१
(च) महावर : ३५,४४
(छ) अंगराग : ३३४
(ज) केसर : ३५६
(झ) दिठौना : २८,४३
(ञ) सुगन्धि : १३३

(ई) वस्त्र-सज्जा

(क) अंगिया : १८६
(ख) जरी की ओढनी : ३०४
(ग) पांच तोले की साड़ी : ३४०
(घ) श्वेत साडी : ४७७
(ङ) श्वेत वसन : ४७८
(च) नीला अंचल : ५३८
(छ) चूनरी : ६२६
(ज) काली चूनरी : ३२६

(उ) आभूषण

(क) झुलमुली : १७
(ख) तर्यौना : २५
(ग) बेसर : २५
(घ) बेसर का मौती : १७३
(ङ) टीका : १०५
(च) नासिका का लोंग : १४३
(छ) नथ : ३०६
(ज) नीलम की अँगूठी : ३३८

(झ) मुक्तावली : ३६२ (ञ) हार : ३३६
(ट) पैर की चूडियाँ : २०८ (ठ) अनवट (पैर के अंगूठे में पहनने का) : २०६
(ड) ताटंक : २०६ (ढ) बिछिया : ४१८
(ण) गले का बन्द : ४४० (त) समग्र आभूषण : ४१३

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि बिहारी ने नायिका के विभिन्न अंगों का वर्णन तत्कालीन युग की नख-शिख-परिपाटी के अनुसार योजना-बद्ध ढंग से किया था,[1] अन्यथा इसके सभी अंगों का समावेश अनायाश ही नही हो जाता। यहाँ तक कि—पैर के टखने तक का वर्णन अलग दोहे में करना सामान्य भावना से प्रेरित नही माना जा सकता, उसके पीछे परिपाटी की प्रेरणा लक्षित होती है। केशवदास के भाई बलभद्र मिश्र ने, जो कि हमारी शोध के अनुसार बिहारी के पितृव्य सिद्ध होते है,[2]—नख-शिख पर ग्रन्थ लिखा था। संभव है बिहारी ने भी उनका अनुकरण करते हुए[3] नख-शिख पर सतसई से पूर्व कोई अलग ग्रन्थ लिख रखा हो और उसे बाद में सतसई में ही मिला दिया हो।

---

१. बिहारी पर तत्कालीन युग की नख-शिख वर्णन परिपाटी का कितना प्रभाव है इसे समझने के लिये बलभद्र मिश्र (जिनकी काव्य-रचना का समय बिहारी से कुछ पूर्व है) के 'नख-शिख' ग्रन्थ में वर्णित विषयों की सूची पर एक दृष्टि डालना उचित होगा। उन्होंने इन विषयों पर अलग-अलग छन्द लिखे हैं—केश, वेणी, माँग, भाल, बिन्दु, भृकुटी, पलक, चितवनि, कुच, नासिका बेध, नथ, कपोल का गड्ढा, तर्यौना (आभूषण विशेष), मुख-सुगंधि, चिबुक, कर-तल, अंगुली मेंहदी, जावक, पदतल, पदनख, नूपुर, बिछिया, गति, सोरह शृंगार, बारह आभूषण, सुकुमारता, आदि।

२. देखिये—परिशिष्ट (क) में केशव और बिहारी का पिता-पुत्र सम्बन्ध सप्रमाण सिद्ध किया गया है।

३. बिहारी पर बलभद्रमिश्र के नख-शिख का प्रभाव निम्नांकित तथ्यों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है—
   (क) बिहारी ने नासिका बेध, तर्यौना (आभूषण विशेष), बिछिया जैसे विषयों को लिया है जो कि बलभद्र के नख-शिख में भी मिलते हैं।

नख-शिख-वर्णन सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ—बिहारी के नख-शिख वर्णन में निम्नांकित प्रवृतियों के दर्शन होते है—

१—बाह्य प्रसाधनों की हीनता—बिहारी विभिन्न अंगों के सौन्दर्य की अतिशयता प्रकट करने के लिये विभिन्न बाह्य प्रसाधनों की उनसे हीनता सिद्ध करते है। कहीं एड़ी की लालिमा महावर से भी बढ़ जाती है,[1] अतः सेविका को भ्रम होता है कि कही वह दूसरी बार तो महावर नहीं लगा रही है, कहीं अंगराग का लेप किया जाता है किन्तु उस से नायिका की छवि मलिन होती है।[2] केसर का लेप भी सुन्दरी के रंग में मिल कर एकाकार हो जाता है।[3]

(ख) बिहारी सतसई में कई स्थानों पर बलभद्र में वर्णन-साम्य भी मिलता है, जैसे बलभद्र ने नायिका की सुकुमारता का वर्णन करते हुए लिखा है :—

पलिका तें पाय जो धरति धाम धरनी में,
छाले परे पग माँझ पंड के गवन तें,
—छन्द ६५

बिहारी भी पैर में छाले पड़ने का वर्णन करते हैं।

छाले परिबे कें डरनु सकै न हाथ छुवाइ।
झझकत हियें गुलाब कें झंवा झंवैयत पाइ॥
—४८३

इसी प्रकार बलभद्र ने कामदेव रूपी शिकारी द्वारा कुच रूपी पहाड़ियों में रसिकों को लूटने का वर्णन किया है (नख-शिख, छन्द ४५) बिहारी ने भी इसी प्रकार का वर्णन दोहा संख्या १७, २६, ४५ में किया है। बलभद्र ने नासिका बेध को कामरूपी धनुर्धर का मोरचा बनाया है (छन्द १७) तो बिहारी ने भी नासिका बेध का प्रभाव तीर जैसा बताया है (दोहा संख्या २७)। बलभद्र ने कपोल के गड्ढे में नायक के मन का अटकना लिखा है (छन्द १९) जबकि बिहारी ने चिबुक के गड्ढे में ऐसा होना बताया है (दोहा—५५६)।

१. पाइ महावरु दैंन कौं नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि, जानि महावरी, एडी मीड़ति जाइ॥ —३५

२. करतु मलिन आछी छबिहिं, हरतु जु सहजु विकास।
अंगरागु अंगनु लगैं, ज्यों आरसी उसासु॥ —३३४

३. कंचन तन-धन-बरन-बर रह्यौ रंगु मिलि रंग।
जानी जाति सुबास हीं, केसरि लाई अंग॥ —३५९

स्वर्णाभूषण उसे पहनाये जाते हैं किन्तु नायिका की स्वर्णाभा में उनका कुछ पता नहीं लगता, केवल स्पर्श से ही उनका बोध हो सकता है।[१] इस प्रकार अनेक दोहे हैं जिनमें बाह्य प्रसाधनों से नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य को : कर बताया गया है। यदि ऐसी ही बात है तो यह समझ में नहीं आता। कवि अपनी इस अद्भुत सुन्दरी को आभूषणादि से सुसज्जित करने का क्यों करता है। इस प्रकार के तुलनात्मक विवरणों से पाठक की बुद्धि भले ह चमत्कृत हो जाय किन्तु उसके हृदय पर कोई मार्मिक प्रभाव नहीं पड़ता।

✓ २—**सौन्दर्य का संहारक प्रभाव**—बिहारी ने नायिका के सौन्दर्य क व्यंजना के लिये उसके संहारक प्रभाव का भी वर्णन अनेक दोहों में किया है। नायिका का सौन्दर्य एक साहसी ठग की भाँति दृष्टा के मन को बाँध कर चिबुक के गढ्डे में डाल देता है।[२] कहीं बिना ठग के ही, रसिक की दृष्टि कुचरूपी पहाड़ों पर चढ़ती हुई फिसल कर सदा के लिए चिबुक के गढ्डे में गिर पड़ती है।[३] नैन रूपी शिकारी की सफलताओं का वर्णन तो बार-बार किया ही गया है किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि नायिका की नासिका का बेध भी रसिक-जनों के हृदय को तीर की भाँति बेध देता है।[४] नायिका के आभूषण भी, अवसर मिलने पर नायक के मन पर चोट करने से नही चूकते।[५] नायिका के इन विनाशकारी कृत्यों का लेखा जोखा भी इतनी तटस्थता से किया गया है कि उससे लगता है कि घायल होने वाला व्यक्ति कवि नहीं कोई और है। यदि इस प्रकार के दोहे अनुभूति पूर्ण होते तो सरल बन सकते थे किन्तु लगता है बिहारी ने इन की रचना कोरी कल्पना के आधार पर की है।—

---

१. डीठि न परतु समान दुति कनकु कनक सें गात।
भूषन कर करकस लगत, परसि पिछाने जात॥ —३३३

२. डारे ठोड़ी-गाड़, गहि नैन-बटोही, मारि।
चिलक-चौंध में रूप-ठग, हाँसी-फाँसी डारि॥ —१७

३. कुच-गिरि चढ़ि, अति थकित ह्वै, चली डीठि मुंह-चाड़।
फिरि न टरी, परियै रही, गिरी चिबुक की गाड़॥ —२६

४. बेधक अनियारे नयन, बेधत करि न निषेधु।
बरबट बेधतु मो हियौ तौं नासा कौ बेधु॥ —२७

५. रह्यौ डीठि ढाढसु गहैं, ससहरि गयौ न सूरु।
मुरयौ, न मनु मुरवानि चमि, भो चूरनु चपि चूरु॥ —२०८

३—**सौन्दर्य का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन**—सौन्दर्य का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करने के लिये कवि ने अस्वाभाविक एवं असंभव बातें भी बहुत कही । नायिका की ग्रीवा शीशे की तरह पारदर्शक है, अतः जब वह पान की पीक निगलती है तो साफ दिखाई पड़ जाती है ।[१] नायिका के पैरों में हाथ के स्पर्श से भी छाले पड़ जाते हैं अतः बेचारी नाईन गुलाब की पंखुड़ियाँ भी बड़ी झझक के साथ छुआती है ।[२] नायिका का शरीर दर्पण के समान है अतः उसमें आभूषणों का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है ।[३] वस्तुतः इस प्रकार की उक्तियों से पाठक आश्चर्य में भले ही पड़ जाय, सौन्दर्य की अनुभूति उसे नहीं हो सकती ।

४—**शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर सौन्दर्य की व्यंजना**—नायिका के सौन्दर्य गुणों की व्यंजना के लिये अपने शास्त्रीय ज्ञान का उपयोग भी बिहारी ने किया है। गणित में शून्य से अंक दश गुना हो जाता है, नायिका की बिन्दी भी उसके सौन्दर्य को अनेक गुना बढ़ा देती है ।[४] जिस प्रकार वक्र रेखा लगा देने से दाम रुपया बन जाता है, नायिका की कुटिल अलकें भी कुछ ऐसा ही काम करती हैं ।[५] काली अलकों से भयभीत अक्षत लाल तिलक में इस प्रकार आश्रय लिये हुए हैं मानों राहु से डर कर चन्द्रमा मंगल की शरण में आया हो ।[६] ज्येष्ठ में दिन बड़े और रात छोटी हो जाती है, कुछ ऐसा ही प्रभाव यौवनागमन का नायिका के वक्ष और कटि पर पड़ रहा है ।[७] उरोजों की

---

१. खरी लसति गोरैं गरैं, घंसति पान की पीक ।
मनो गुलीबंद लाल की, लाल लाल-दुति लीक ॥ —४४०

२. छाले परिबे कें डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।
झझकत हियें गुलाब कें झंवा झंवैयत पाइ ॥ —४८३

३. अंग-अंग प्रतिबिम्ब परि दरपन सैं सब गात ।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात ॥ —६८०

४. कहत सबै, बेंदी दियें आंकु दसगुनो होतु ।
तिय-लिलार बेंदी दियें अगिनित बढ़तु उदोतु ॥ —३२७

५. कुटल अलक छुटि परत मुख बढ़िगो इतो उदोतु ।
बंक बकारी देत ज्यों दामु रुपैया होतु ॥ —४४२

६. भाल लाल बेंदी, ललन, आखत रहे विराजि ।
इंदु कला कुज में बसी, मनो राहु-भय भाजि ॥ —६९०

७. ज्यों-ज्यों जोवन-जेठ दिन, कुच निति अति अधिकाति ।
त्यों-त्यों छिन-छिन कटि-छया छीन परति नित जाति ॥ —११२

कठोरता सिद्ध करने के लिये भी कवि नीति शास्त्र से कृपण का उदाहरण प्रस्तुत करता है।[1] इस प्रकार के चित्रणों से कवि की विद्वता तो झलकती है, नख-शिख के कुछ अंगों का भी नामोल्लेख हो जाता है, किन्तु सौन्दर्यानुभूति की कोई सामग्री उपलब्ध नहीं होती।

बिहारी का समस्त नख-शिख-चित्रण उपर्युक्त चारों प्रवृत्तियों से ग्रसित है। नख-शिख वर्णन के पीछे उनका लक्ष्य विभिन्न अंगों की खाना पूर्ति करना ही रहा है। जितना ध्यान उन्होंने अपने क्षेत्र की व्यापकता, शारीरिक अंग-सौन्दय-प्रसाधन और आभूषणादि की संख्या विस्तार की ओर दिया उतना उन्हें मार्मिक बनाने की ओर नही दिया। वे अपने वर्णन को प्रभावशाली बनाने के लिये बुद्धि एवं कल्पना प्रसूत तथ्यों का आश्रय ग्रहण करते हैं, किन्तु उसके पीछे भावना की तरलता न होने के कारण उनका निरूपण शुष्क और नीरस बन गया है।

(ख) चेष्टाओं का चित्रण

नायिका की प्रेम पूर्ण चेष्टाओं को काव्य-शास्त्र में 'हाव' की संज्ञा दी गई है।[2] साहित्य-दर्पण-कार ने इनकी संख्या १८ मानी है। 'बिहारी-सतसई' में सभी प्रकार के हावों का चित्रण मिलता है। यथा :—

---

१. जेती संपति कृपन कै, तेती सूमति जोर।
बढ़त जात ज्यों ज्यों उरज त्यों-त्यों होत कठोर॥ —१११

२. श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने "बिहारी की वाग्विभूति" पुस्तक में हाव के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—रीति ग्रन्थों में हाव अनुभावों के अन्तर्गत माने गये हैं, पर विचार करने से वे अनुभाव के अन्तर्गत नहीं आते। अनुभाव किसी भाव से प्रेरित होता है। पर जिन्हें हिन्दी वाले हाव कहते हैं वे चेष्टाएँ भाव प्रेरित न होकर स्वाभाविक होती हैं।—पृष्ठ ९३। आगे चल कर इसी पुस्तक में मिश्रजी लिखते हैं--यहाँ पर जिन चेष्टाओं या मुद्राओं का उल्लेख है वे किसी भाव से प्रेरित नहीं हैं।—यह नायिका की मुद्राओं का सहज वर्णन है। इसे हाव के भीतर भी नहीं ले जा सकते। (वही पृष्ठ ९६) मिश्रजी ने यहाँ परस्पर विरोधी बातें लिखी हैं। वस्तुतः हाव भावना की प्रेरणा थोड़ी बहुत अवश्य होती है। साहित्य दर्पणकार ने स्पष्ट लिखा है—

भ्रू नेत्रादि विकारेस्तु संभोगेच्छा प्रकाशकः,
भाव एवाल्प संलक्ष्य विकारो हाव उच्यते। ३।१०४

१—लीला (दोहा सं०)	३८४	२—विलास	: २४२
३—विच्छित्ति	: ३७९	४—बिब्बोक	: ४८०
५—किलकिंचित्	: २६५	६—मोट्टायित	: १३४
७—विभ्रम	: ४२४	८—ललित	: २५२
९—मद	: १७९	१०—विहृत	: ६१८
११—तपन	: ५३४	१२—मौग्ध्य	: ५३३
१३—विक्षेप	: ५५२	१४—कुतूहल	: ७८
१५—हसित	: ५९८	१६—चकित	: ६२३
१७—केलि	: ५४३	१८—कुट्टमित	: ३२४

इनमें से कई हावों के एक से ही उदाहरण मिलते हैं, जैसे 'कुट्टमित' के इन दोहों में—३१९, ५८२, ६८३। ये उदाहरण शास्त्रीय लक्षणों से पूरी तरह मेल खाते हैं, लगता है मानों लक्षणों को ध्यान में रखकर ही इनकी रचना की गई है। 'कुट्टमित' का लक्षण आचार्यों ने बताया है—'रतिक्रीड़ा के लिये नायक के द्वारा स्पर्श करने पर नायिका का कृत्रिम क्रोध प्रकट करना'[1]—इस लक्षण से बिहारी के निम्नांकित दोहों की तुलना कीजिये :—

जदपि नाहिं नाहीं, बदन लगी जक जाति।
तदपि भौंह हांसी भरिनु हांसीयै ठहराति ॥—३२४

लहि सूने घर करु गहत दिठादिठी की ईंठि।
एडी सुचित नाहीं करति करि ललचौंही डीठि ॥—५८२

यहाँ दूसरे उदाहरण में यह द्रष्टव्य है कि नायक का नायिका से विशेष परिचय नहीं है, केवल देखा-देखी की ही पहचान है। ऐसी स्थिति में यह भी संभव है कि नायक के हाथ पकड़ लेने पर नायिका वास्तविक क्रोध प्रकट कर रही हो—किन्तु बिहारी को काव्य-शास्त्रियों के वचन (कुट्टमित हाव सम्बन्धी) पर अटल विश्वास है, अतः वे हर परिस्थिति में, चाहे स्पर्श करने वाला नायिका का पति हो या कोई अन्य अपरिचत व्यक्ति—उसके कोध को कृत्रिम रूप में ही चित्रित करते हैं।

सरसता—चाहे हावों का चित्रण शास्त्रीय लक्षणों को ध्यान में रख कर किया गया हो अथवा स्वतन्त्र रूप से, किन्तु इनमें सरसता पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। इनमें कवि की कल्पना-शक्ति वास्तविक अनुभूतियों से सामग्री ग्रहण करती हुई आगे बढ़ती है—

---

१. दशरूपक—२।४०।

मूल में ये प्रवृतियाँ लक्षित होती हैं—(क) विभिन्न आयु की खण्डिताओं के व्यवहार में अन्तर दिखाना, (ख) खण्डिताओं की सूक्ष्म-दृष्टि का चित्रण, (ग) खण्डिताओं की व्यंग्योक्तियों का चित्रण।

(१) **खण्डिता के व्यवहार में अन्तर**—अल्प-वयस्का खण्डिताओं से प्रौढ़ा खण्डिताओं की चेष्टा और उनके व्यवहार में पर्याप्त अन्तर होता है, बिहारी ने इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिये कई दोहे लिखे है। यहाँ एक अल्पवयस्का खण्डिता का चित्रण देखिये :—

बिलखी लखे खरी-खरी भरी अनख, वैराग।
मृगनैनी सैन न भजै, लखि बेनी के दाग॥

—५८७

यहाँ एक ऐसी बाला का चित्रण किया है जो अपने पति के शरीर पर अन्य स्त्री की वेणी के दाग देखकर सारी परिस्थिति को समझ जाती है, उसका हृदय अमर्ष, निर्वेद और शोक से परिपूरित हो जाता है किन्तु फिर भी वह मौन है क्योंकि ऐसी परिस्थिति में पति के साथ किये जाने योग्य व्यवहार के ज्ञान से वह शून्य है। दूसरी ओर एक प्रौढ़ा खण्डिता का व्यवहार देखिये :—

पावकु सों नयननु लगे, जावकु लाग्यौ भाल।
मुकुरु होहुगे नेंक में, मुकुरु बिलोकौ, लाल॥

—७९

यहाँ नायिका पति के ललाट पर किसी अन्य स्त्री के पैरों के जावक का चिन्ह देखकर स्तब्ध या मौन नही हो जाती, उसकी बुद्धि नायक की भावी चेष्टाओं के प्रति सजग होने के कारण अपराध को प्रमाणित करने में तत्पर है, उसकी वाणी की तीक्ष्णता से उसका रोष मुखरित है। मुग्धा खण्डिता में अपने दु:ख की अनुभूति अधिक थी, सपत्नी के ईर्ष्या गौण थी किन्तु इस नायिका के लिए सपत्नी का जावक-पावक तुल्य बन जाता है, जिससे उसमें ईर्ष्या की अधिकता दिखाई पड़ती है। मुग्धा की चेष्टाओं से लगता था वह केवल दो चार आँसू बहाकर ही चुप हो जायगी। परन्तु इस प्रौढ़ा की अपराध को प्रमाणित करने की तत्परता सूचित करती है कि वह नायक के विरुद्ध कोई ठोस कार्यवाई करने वाली है। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि भावानुभूति की दृष्टि से प्रौढ़ाओं की अपेक्षा मुग्धा खण्डिताओं के चित्रण में कवि को अधिक सफलता मिली है।

(२) **खण्डिता की दृष्टि की सूक्ष्मता**—खण्डिताओं के चित्रण में कवि ने सबसे अधिक ध्यान उनके चातुर्य के चित्रण पर दिया है। नायक अपने कपड़ों

की धूल भली भाँति झाड़-पोंछकर, विलम्ब से आने के बहानों को सोचता हुआ, चिकनी-चुपड़ी बातों से कृत्रिम प्रेम का प्रदर्शन करता हुआ घर आता है, पर इस अति सावधानी के बावजूद भी चतुर पत्नी किसी न किसी प्रकार वास्तविकता को जानने में सफल हो जाती है। नायक के शरीर पर अंकित बेनी (३६५), पीक (४६८), महावर (७६) आदि के चिन्हों, नख-रेखा, शरीर के आलस्य और उनींदे नेत्रों से (५७६, २४०) तो उसके पर-स्त्री गमन को ताड़ जाना स्वाभाविक ही है, किन्तु नायिका दृष्टि मात्र से ही सारे प्रसंग का अनुमान कर लेती है :—

गहकि, गाँसु औरै गहे, रहे अधकहे बेन।
देखि खिसोंहैं पिय-नयन, किए रिसोंहैं नैन॥

—६५

इस प्रकार के दोहों में नायिका के चातुर्य का तो प्रदर्शन हुआ है किन्तु उनमें उसके हृदय की वेदना और निराशा की व्यंजना को बहुत कम स्थान मिला है। इनसे पाठक की न तो नायिका के प्रति ही सहानुभूति जगती है और न ही नायक की शठता के प्रति रोष। हाँ, बिहारी के युग में जिन लोगों को नित्य ही ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ता था वे अवश्य ही इन्हे पढ़कर सचेत हो सकते थे।

(३) **खंडिता की व्यंग्योक्तियाँ**—"काम-सूत्र" के रचयिता ने विरोध प्रदर्शन का वर्णन करते हुए उसका बालों को खोल लेना, वस्त्राभूषणों को अस्त व्यस्त कर देना, जोर से रोना, दहाड़ना, छाती पीटना, दीवार से टक्करें मारना—आदि का उल्लेख किया है, किन्तु बिहारी की नायिका इस प्रकार की अशोभनीय चेष्टाओं से दूर रहती है। वह भली भाँति जानती है कि सत्रहवी शताब्दी के पुरुष पर इस प्रकार की चेष्टाओं से कोई अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं होगा, अतः वह व्यंग्योक्तियों के द्वारा नायक के हृदय को पिघलाने का प्रयत्न करती है। इन व्यंग्योक्तियों के चित्रण में बिहारी को पर्याप्त सफलता मिली है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं :—

पलक पीक अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आजु मिले, सु भली करी, भले बने हौ लाल॥

—३२

यहाँ नायिका प्रारम्भ में (पलक पीक, अंजन अधर) पति को जता देती है कि वह उसके गुप्त कर्म को जान गई है, वह उसका उपहास भी करती है

(भले बने हो !), उसे व्यंगपूर्ण शब्दों में उपालम्भ भी देती है (आजु मिले सु भली करी), किन्तु साथ ही वह अपने नेह को भी (लाल शब्द द्वारा) प्रकट करती है। नायिका के उपर्युक्त शब्द कठोर न होते हुए भी पति के हृदय को प्रभावित करने मे समर्थ हैं।

कहीं-कहीं कथनोपकथन के रूप में भी इस प्रकार की उक्तियाँ व्यंजित हैं :—

बाल, कहा लाली भई लोइन कोइनु माँह !
लाल, तुम्हारे दृगनु की परी दृगनु में छाँह !

—१६८

इस दोहे की दूसरी पंक्ति में तीक्ष्ण व्यंग्य के साथ-साथ नायिका के हृदय का दुःख भी मुखरित है।

जब प्रेम पूर्ण उपालंभों से भी नायक अपनी टेव नहीं छोड़ता तो उपेक्षित पत्नी का व्यंग्य समय के साथ-साथ सूक्ष्म-तर और तीक्ष्ण-तर रूप ग्रहण करता जाता है। वह अपनी बात को प्रत्यक्ष रूप में न कहकर सखी को लक्ष्य करके सुनाती है :—

भए बटाऊ नेह तजि, बादि बकति बेकाज।
अब, अलि देत उराहनों, अति उपजति उर लाज ॥

—२७२

यहाँ थोड़े से शब्दों में कवि ने नायिका के हृदय की समस्त अनुभूतियों को मार्मिक रूप मे व्यंजित कर दिया है। जहाँ 'भए बटाऊ' में पति के प्रेम की अस्थिरता का दुःख छिपा हुआ है, 'इन्हें अधिक कहना व्यर्थ' (बादि बकति बेकाज) में उसके हृदय की निराशा व्यंजित है, तो 'अति उर उपजत लाज !' में नायिक की निर्लज्ज निष्ठुरता का क्षोभ लहरा रहा है।

वस्तुतः ये व्यंग्योक्तियाँ मध्यकालीन नारी की दीन दशा की विवशता से ओत-प्रोत है। इनमें अधिकारों की माँग नहीं है, नीति और सदाचार का उपदेश भी नहीं कुछ करने की धमकी नहीं—नायक पर प्रेम के नाते ही तो उसका कुछ वश है, जब उससे प्रेम ही नही तो उसे अधिक कहने में क्या रखा है। अतः उसकी उक्तियाँ रोषपूर्ण होती हुई भी प्रेम से शून्य नहीं है, तीक्ष्ण होती हुई भी इतनी कठोर नहीं कि पारस्परिक सम्बन्ध को और भी अधिक कटु बना दे और विरक्ति प्रकट करती हुई भी अनुरक्ति की लालसा से ओत-प्रोत हैं।

परकीया—संस्कृत और हिन्दी काव्याचार्यों का अनुकरण करते हुए बिहारी ने भी स्वकीया की अपेक्षा परकीया को अधिक विस्तार दिया है। परकीया अनेकानेक भेदों में से गुप्ता (१६२), लक्ष्यिता (५०८, ५२३, ५७७, ५९९, ६२१, ६८८), वचन-विदग्धा (१२७), उत्कंठिता (११५), वासक सज्जा (२२२, २२१, २५४), अभिसारिका (७, २०७, ४५९, ५८०, ७०४), गर्विता (१२२, ३१५, २४६, २४६, ४७८), अन्यसंभोग-दुःखिता (३८०, ४५६, ५०७, ५२०), विप्रलब्धा (६८४), मानिनी (७२, १०७, १०८, २३१, २७३, ३०९, ३१०), कलहांतरिता, (३१३, ३१४, ५०८), अनुशयाना (१३८) आदि-आदि का चित्रण किया गया है। इनमें से प्रत्येक के सूक्ष्माति-सूक्ष्म भेदों का भी निरूपण मिलता है। इनके चित्रणों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) जहाँ कवि ने नायिका का भाव उद्घाटन किया है। इस प्रकार के उदाहरण बहुत ही सरस बन गये हैं :—

फिरि-फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि-फिर लेति उसासु।
साईं ! सिर कच सेत लौं, बीत्यो चुनति कपासु ॥

—१३८

यहाँ एक बाला की कठिन परिस्थिति का चित्रण किया है। जिस कपास के खेत का वह अपने प्रेमी से गुप्त मिलन स्थल के रूप में उपयोग करती थी, परिस्थिति-वश आज उसे अपने ही हाथ से उखाड़ना पड़ रहा है, भला उसके दुःख की क्या सीमा ! यहाँ रीति दृष्टि से अनुशयाना नायिका का वर्णन है, किन्तु फिर भी इसमें पर्याप्त सरसता विद्यमान है।

२—दूसरे वर्ग में वे दोहे आते है जहाँ कवि ने नायिका-भेद के लक्षणों की पूर्ति के निमित्त उदाहरण तो प्रस्तुत कर दिये हैं, किन्तु उनमें सरसता नहीं आ सकी ! यथा :—

हम हारीं कै कै हहा, पाइनु पार्‌यो प्यौरु।
लेहु कहा अजहूँ किए तेह तरेरयौ त्यौरु ॥

—१०७

मेरे बूझत बात तू कब बहरावति, बाल।
जग जानी विपरीत रति लखि बिदुली पिय भाल ॥

—१३७

यहाँ पहले में दीर्घ-मानवती का और दूसरे में लक्ष्यिता नायिका के लक्षणों का निरूपण किया गया है। इनमें भावात्मकता तथा काव्य चमत्कार का उन्मेष नहीं है।

३—तीसरे वर्ग में ऐसे दोहे रखे जा सकते हैं जिनमें नायिका भेद को ध्यान में रखते हुए चमत्कारमय उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं :—

तखिन कनकु कपोल दुति बिच बीच हीं बिकान।
लाल-लाल चमकति चुनीं चौका चीन्ह समान॥

—८२

यह एक अन्य संभोगदुःखिता नायिका की उक्ति है। बेचारी जिस दूतिका को नायिका को बुलाने के लिये भेजा था वही अपने कपोलों पर चुम्बन चिन्हों से युक्त होकर लौटती है, नायिका वास्तविकता को ताड़कर अपने आशय को वक्रोक्ति में व्यक्त करती है। यहाँ भाव सौन्दर्य की पूर्ति के लिए कवि ने वाग्वैदग्ध्य का प्रदर्शन किया है। कहीं ये उदाहरण अस्वाभाविक भी बन गए हैं, यथा—रूप-गर्विता का यह उदाहरण :—

सुघर सोति बस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखि सखी तन दीठि करि सगरब सलज, सहास॥

—३४६

दुलहिन को अपने रूप का इतना घमण्ड होना कि वह अपने प्रिय को चतुर सौत के वश में सुनकर भी प्रसन्न होती है—अस्वाभाविक है। वैवाहिक जीवन के आरम्भ में ही इस प्रकार के समाचार किसी भी दशा में आह्लादक नहीं कहे जा सकते, वस्तुतः कवि ने यहाँ लक्ष्य-पूर्ति का ही ध्यान रखा है, भाव-सौन्दर्य का नहीं। कहीं-कहीं मौलिकता-प्रदर्शन के लिए कवि ने भाव-शून्य चित्र उपस्थित किये हैं। दिवस-अभिसारिका और रात्रि-अभिसारिका का तो साधारणतः प्रचलन था ही, बिहारी ने संध्याभिसारिका का भी चित्रण कर दिखाया है :—

गोप अथाइनु तें उठे गोरज छाई गैल।
चलि, बलि, अलि, अभिसारकी भली संझोखें सैल॥

—१७६

संध्या-काल में सैर के बहाने गौ-धूलि में छिपकर जाने का प्रस्ताव कुछ अधिक युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। पूजन आदि में विश्वास रखने वाले धार्मिक

मनोवृत्ति के लोगों की बात छोड़ दीजिए, रति क्रीड़ा के निश्चित आनन्द के लिए भी कम से कम यह समय उचित नही है। हाँ, यदि मिलन आतुरता होती तो बात और थी, अन्यथा केवल गोधूलि में छिप जाने की बात कोई अच्छा कारण नही है। अस्तु, कवि का तो अभिसारिका के एक नये रूप की वृद्धि करना मात्र लक्ष्य था, स्वाभाविकता का ध्यान उसे नहीं है।

नायिका-भेद-चित्रण में स्पष्ट ही कवि रीति परम्परा से प्रभावित है, उसने चेष्टापूर्वक नायिका के सभी भेदों का निरूपण किया है। जहाँ कवि के हृदय ने इस निरूपण में योग दिया वे दोहे सरस एवं भावपूर्ण हो गये हैं, किंतु जहाँ ऐसा न हो सका वहाँ कवि ने बुद्धि और कल्पना के बल पर भी सूक्तियों का निर्माण किया है। सभी उदाहरण सरस बनें, इसकी अपेक्षा कवि को इस बात की चिन्ता अधिक थी कि कहीं कोई आलोचक यह न कह बैठे—"वाह, बिहारी जी, आपकी सतसई में नायिका का अमुक भेद तो मिलता ही नही।"

(३) उद्दीपन (प्रकृति) वर्णन

हिन्दी के आरम्भिक कवियों—विद्यापति, जायसी, सूरदास आदि ने प्रकृति के स्थिर दृश्यों के चित्रण की अपेक्षा विभिन्न ऋतुओं के परिवर्तन शील प्रभाव की व्यंजना पर अधिक ध्यान दिया है। नख-शिख-वर्णन की ही भाँति जायसी ने अपने काव्य में षट्-ऋतु और बारह-मासा का वर्णन विस्तार से किया है। आगे चलकर रीति-बद्ध शृङ्गारी कवियों ने इन्हीं विषयों को लेकर अलग ग्रन्थ रचने की परिपाटी को जन्म दिया। षट्-ऋतु वर्णन की परम्परा का बिहारी पर भी पूरा प्रभाव है उनकी सतसई में सभी ऋतुओं का वर्णन मिलता है :—

१—बसन्त—(दोहा-संख्या) ३८८–४७५–४७६–४९६–३५१–३५२–३५३।

२—ग्रीष्म—४८८–४८९।

३—वर्षा—४०२–४०४–४८५–४८६–५४९–५६२।

४—शरद—४८७।

५—हेमन्त—४९२–४९७।

६—शिशिर—३४४।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी पता चलता है कि बिहारी को सबसे अधिक प्रिय बसन्त वर्णन है, उसके पश्चात् वर्षा-वर्णन। शेष ऋतुओं में से

अस्तु, हम कह सकते हैं कि सतसई में प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी दोहों की संख्या न्यून होते हुए भी उसमें तत्कालीन साहित्य की सभी प्रवृत्तियों का समावेश मिलता है। साथ ही उसमें कुछ मौलिक प्रवृत्तियों का (मानवीकरण जैसा) विकास भी मिलता है। शृंगार रस के उद्दीपन की दृष्टि से भी उनका प्रकृति-वर्णन सफल कहा जा सकता है।

(४) प्रेमानुभूतियों की व्यंजना

(अनुभाव और संचारी)

प्रेमोत्पत्ति—बिहारी ने प्रेमोत्पत्ति का वर्णन शताधिक दोहों में किया है। उनका प्रेमोदय सौन्दर्य प्रेरित है इसलिए प्रायः उन्हें आंखों की लगालगी का उल्लेख करना पड़ा है। प्रारम्भ में भोले रसिक जनों को कुछ पता नहीं होता, यों ही एक साधारण सा मनोविनोद समझकर वे किसी सुन्दरी पर दृष्टि डालते हैं, किन्तु इस पथ पर ज्यों ही वे थोड़ी दूर आगे बढ़ते हैं कि उन्हें परिस्थिति की विषमता का बोध होता है। आँखों में मानों किरकिर सी पड़ जाती है,[1] हृदय में आग सी लग जाती है[2] और पल भर के लिए भी चैन नहीं पड़ता।[3] ज्यों-ज्यों प्रेमीजन एक दूसरे के समीप आते हैं त्यों-त्यों उनकी दर्शनों की प्यास—मिलन की आकुलता बढ़ती जाती है।[4] वस्तुतः यह प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था है जिसे सौन्दर्यानुभूति कह सकते हैं। इस अवस्था में प्रेमी और प्रेमिका बिल्कुल अबोध की भाँति प्रेम सरोवर में फिसल पड़ते है। इसके अनन्तर दूसरी अवस्था वह होती है जबकि प्रेमी-युगल के मित्र एवं परिजन उन्हें प्रेम मार्ग पर आगे न बढ़ने के लिए समझाते है—रोकते हैं। प्रेम विभोर हृदय अपने हित चिन्तकों के उपदेश की महत्ता स्वीकार करता है, किन्तु सौन्दर्य के आकर्षण से मुक्त होने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है—

१. **मैं हो जान्यो, लोइननु जुरत बाढ़ि है जोति।**
को हो जनतु बीठि किरकिटी होति॥ —६४

२. **मैं तोसों कैवा कह्यो, तूजिन इन्हें पत्याइ।**
लगालगी करि लोइननु उर में लाई-लाइ॥ —६६

३. **लाल तुम्हारे रूप की, कहौ रीति यह कौन।**
जासों लागत पलकु दृग लागत पलक पलौ न॥ —३९८

४. **नेहु न नैननु को कछु उपजी बड़ी बलाइ।**
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ॥ —३७

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुंह जोर तुरंग ज्यों, ऐंचत हूँ चलि जाहिं॥

—६१०

लगता है कवि ने यहाँ प्रणयी हृदय की विवशता को साकार रूप में उपस्थित कर दिया है।

एक दूसरे दोहे में कवि ने सौन्दर्य-जाल में उलझी हुई नायिका के मन की दशा का चित्रण और भी अधिक मार्मिक ढंग से किया है—

फिरि फिरि चितु उतहीं रहतु, टूटी लाज की लाव।
अंग-अंग छवि झौंर में, भयो भौंर की नाव॥

—१०

यहाँ मनोदशा के चित्रण के लिए कवि ने अलंकारिकता का आश्रय लिया है किन्तु कवि की अनुभूति के योग के कारण यह अलंकारिकता भी भावोद्घाटन के योग्य बन गई है।

प्रेम का विकास—प्रेमोदय के अनन्तर प्रेम का विकास कितनी तीव्र गति से होता है और उसके फल-स्वरूप विभिन्न भाव-वीचियों का स्फुरण किस प्रकार प्रेमी जनों के हृदय-सागर का मन्थन कर देता है। इसका चित्रण बिहारी ने बड़ी ही स्वाभाविकता से किया है। प्रेम पूर्ण हृदय की उत्कण्ठा, उत्सुकता, विवशता, विह्वलता, तन्मयता आदि भाव-दशाओं का कवि ने मार्मिक निरूपण किया है, यद्यपि ऐसे स्थलों की रचना के समय कवि स्पष्ट ही शास्त्रीय भेदोपभेदों के पचड़े से दूर है, फिर भी आचार्यों द्वारा उल्लेखित संचारी भावों के मनोहर उदाहरण यहाँ मिल जाते हैं। यहाँ "चपलता" का चित्रण देखिये—

इत तें उत, उततें इतै, छिन न कहू ठहराति।
जक न परति चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति॥

—२०६

इसी प्रकार औत्सुक्य भाव का चित्रण भी द्रष्टव्य है :—

झटकि चढति उतरति अटा, नेंक न थाकति देह।
भई रहति नटको बटा, अटकी नागर नेह॥

—१९४

प्रणय वेदना—प्रेम-विह्वल हृदय की आतुरता और विकलता का चित्रण बिहारी ने पूरी सहृदयता से किया है। प्रेम की पीड़ा किस प्रकार नायिका को विह्वल कर देती है—

द्वारा शब्दालंकार का समावेश अवश्य किया है, किन्तु ये भी यहाँ भावानुभूति की व्यंजना में सहायक ही सिद्ध होते हैं। विरह का ऐसा स्वाभाविक वर्णन सतसई के कुछ अन्य दोहों (६३–११६–२२५–६६०) मे भी मिलता है किन्तु प्रथम वर्ग (चमत्कार पूर्ण वर्णन सम्बन्धी) के दोहों के समक्ष इनकी संख्या नगण्य ही है। अतः बिहारी के समस्त विरह-वर्णन को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि कवि इस क्षेत्र मे असफल रहा है।

यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है कि सतसई में सर्वत्र नारी के विरह का ही वर्णन मिलता है, पुरुष भी विरह शोक से ग्रस्त हो सकता है इसकी कल्पना तो सतसई का पाठक कर ही नहीं सकता। यदि कोई इसका कारण पूछने की धृष्टता कर ही बैठे तो उसका स्पष्ट उत्तर है:—

सकै सताइ न तमु विरहु निसिदिन सरस सनेह।
रहै वहै लागी दृगनु, दीप सिखा सी देह॥—५६५

यद्यपि यहाँ नायक ने यह कह कर कि स्मृति रूप मे वह सदा मेरे समीप रहती है, अतः मुझे विरह की अनुभूति नहीं होती—नायिका का मन रख कर दिया है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि बिहारी का संसार रसिकों का संसार है, सच्चे प्रेमियो का नही। उनका नायक भ्रमर किसी एक ही कलिका से बंध कर अपने सुख स्वप्नों को समाप्त नही कर देता, परिस्थिति के अनुसार वह एक के अभाव की पूर्ति किसी अन्य से कर सकता है। ऐसी स्थिति में उसे विरह की अनुभूति हो ही कैसे सकती थी।

खैर, पुरुष वर्ग की इस रसिकता के पीछे बिहारी के युग और समाज की परिस्थितियों का प्रभाव हो सकता है, किन्तु खेद का विषय तो यह है कि नायिकाओं के विरह वर्णन में भी कवि का लक्ष्य वियोग-विधुरा बालाओं की वेदना को समझने की अपेक्षा उसके साथ खिलवाड़ करने तथा उसे मनोरंजन का साधन बनाने का ही अधिक है। यही कारण है कि सौन्दर्यानुभूतियों का श्रेष्ठ अभिव्यक्ता, संयोगानुभूतियों का सफल चित्रकार बिहारी वियोग के क्षेत्र में दिग्भ्रमित सा हो जाता है। उसके अच्छे से अच्छे प्रशंसक को भी यहाँ आकर मौन हो जाना पड़ता है।

(५) स्थायी भाव का उत्कर्ष

इसके विभिन्न अवयवों—आलम्बन, उद्दीपन, आश्रयादि—के आधार पर बिहारी के शृंगार-निरूपण का विवेचन पीछे किया जा चुका है जिससे स्पष्ट है कि उन्हें शृंगार के सभी क्षेत्रों में समान रूप से सफलता नहीं मिली

है। जहाँ नायिका की चेष्टाओं व मुद्राओं के अंकन में तथा सौन्दर्य के समन्वित प्रभाव एवं प्रेम की प्रारम्भिक अनुभूतियों की व्यंजना में उन्होंने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है वहाँ नख-शिख वर्णन, नायिका-भेद-निरूपण तथा विरह वर्णन को भावानुभूति के अनुकूल बनाने में वे असफल हुए हैं। वस्तुतः बिहारी की दृष्टि में रसिकता का प्राधान्य है, अतः वे सौन्दर्य से उपकरण जुटा लेने में तो समर्थ हो जाते है किन्तु प्रेम का कोई अजस्र प्रवाह उनके काव्य में दिखाई नही पड़ता। प्रेम की प्रारम्भिक भाव दशाओं का निरूपण उन्होंने अनुभूतिपूर्ण शब्दों में किया है, संयोग दृश्यों के आयोजन में भी उनकी सुरुचि, शिष्टता एवं निपुणता का परिचय मिलता है, किन्तु लगता है उनका प्रणय भाव यहीं आकर समाप्त हो जाता है। संयोग के अनन्तर उपस्थित होने वाले विरह की अनुभूतियों का चित्रण उनके काव्य में नहीं मिलता। बिहारी स्वयं जानते हैं कि प्रेम का पूर्ण विकास विरह में ही होता है,[1] अतः कल्पना और बुद्धि के बल पर विरह का वर्णन करने का प्रयत्न भी करते है किन्तु अनुभूति के अभाव में वह शुष्क, नीरस एवं प्रभाव-शून्य बन गया है।

बिहारी के काव्य में प्रेम की जिस कहानी का चित्रण मिलता है, वह उसी युग के अन्य रीति-बद्ध शृंगारी कवियों की नायिका भेद के ढाँचे में बंधी हुई कहानी के तुल्य ही है। उनके काव्य में नायक के दर्शन प्रायः नहीं होते। चाहे वे प्रेम के आलम्बन का वर्णन कर रहे हों या आश्रय की अनुभूतियों का उद्घाटन कर रहे हों—उनकी दृष्टि सर्वत्र नारी पर ही रहती है। हाँ, नायिकाओं के प्रसंग में अप्रत्यक्ष रूप से नायक के क्रिया-कलापों की व्यंजना अवश्य यत्र-तत्र हुई है जिससे पता चलता है कि उनका नायक अपनी रात प्रायः बाहर बिताता है तथा प्रातःकाल रति-चिन्हों से युक्त होकर घर लौटता है[2] कभी-कभी वह पास पड़ोस की स्त्रियों से भी घर की दीवार के छेद में से[3] या छत पर से गुप्त संदेशों का आदान प्रदान करता है।[4] किसी युवती के बच्चे

---

१. छतौ नेहु कागर हियैं, भई लखाइ न टांकु।
विरह तचैं उघरयौ सु, अब सेहुंड़ कैसों आंकु॥ —४५७

२. देखिये :—दोहा संख्या—२२-२३-३३-६५-७६-८३-११३-१३२-१३८-१६६-१८४-२५०-२७२-२७६ आदि।

३. बिहारी-रत्नाकर : दोहा संख्या ५७१।

४. वही : दोहा संख्या २६३-५०५ आदि।

को गोद में लेने के बहाने उसके वक्ष का स्पर्श करने में भी अपनी चतुराई का प्रदर्शन करता है ।[१] अन्य स्त्रियों में उसकी अनुरक्ति का कारण विशुद्ध कामुकता ही है, प्राय: वह उरोजों की प्रफुल्लता, विशालता आदि को देखकर ही मुग्ध हो जाता है ।[२] साधारण परिचय के अनन्तर किसी युवती को घर में अकेली देखकर वह उसका हाथ पकड़ने का साहस भी कर बैठता है । अस्तु, बिहारी के नायक में वे सारे गुण मिल जाते हैं जो मध्य युगीनसमाज के किसी व्यभिचारी लंपट में मिलने चाहिए । हमें विश्वास है कि कोई भी सुरुचि सम्पन्न पाठक बिहारी के नायक की इन घृणित प्रवृत्तियों में तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता । प्रेम के क्षेत्र में समाज और नीति के नियमों का प्राय: उल्लंघन हो जाता है, इस तथ्य को हम भी स्वीकार करते है, किन्तु बिहारी के नायक में तो प्रेम है ही कहाँ ? यदि इस कुत्सित व्यापार को ही प्रेम की संज्ञा दी जाय फिर हमें संसार की सभी वेश्या-वृत्ति करने वाली स्त्रियों को प्रेमिका और उनसे क्षणिक सम्बन्ध स्थापित करने वाले व्यक्तियों को प्रेम के नाम से पुकारना होगा ।[3]

बिहारी की नायिकाओं का स्तर भी कोई बहुत ऊँचा नहीं है । नायिका भेद की दूषित परम्परा के कारण उनकी नायिकाओ को वे सभी रूप धारण करने पड़ते है जो विभिन्न भेदों की पूर्ति के निमित्त आवश्यक होते है । फिर भी हम उसे नायक की भाँति सर्वत्र शारीरिक क्षुधा की तृप्ति में ही लीन नही पाते, अनेक प्रसंगों में तर्क-वितर्क एवं चिन्ताओं से परिपूर्ण मस्तिष्क तथा भावनाओं एवं वेदनाओं से परिपूर्ण हृदय को उसके पास होने का प्रमाण मिलता है । उसका प्रेम भी सौन्दर्य-जनित है किन्तु उस सौन्दर्य मे प्रिय के अंगों का विश्लेषण—उसकी शारीरिक पुष्टता या दृढ़ता का विचार नही मिलता । सौन्दर्याकर्षण के अनन्तर विकसित होने वाली

---

१. लरिका लैबे कैं मिसनु लंगरु मो ढिग आइ ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैलु छुवाइ ।। —३८६

२. कुच-गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै, चली डीठि मुँह चाड़ ।
फिरि न टरी, परियै रही, गिरी चिबुक की गाड़ ।। —२६

३. लहि सूनैं घर करु गहत, दिठा दिठी की ईठि ।
गड़ी सु चित नाहीं करति, करि ललचौंही डीठि ।। —५८८

भाव-दशाओं का क्रमिक विकास भी उसमें मिलता है, किन्तु उसका दुर्भाग्य यह है कि चाहे वह पत्नी रूप में उपस्थित हो या प्रेयसी के रूप में उसे पुरुष का सच्चा प्रेम किसी भी स्थिति में प्राप्त नही होता। बिहारी के संसार मे सभी पुरुष सच्चे रसिक भ्रमर है जो किसी भी कलिका से स्थिर सम्बन्ध स्थापित नही करते। इन उपेक्षित वंचिता कलिकाओं के प्रति कवि की भी विशेष सहानुभूति नहीं है, अन्यथा वह उनके निराश और व्यथित हृदय की गूढ़ वेदनाओं से ओत-प्रोत करुण चित्र प्रस्तुत करके पाठक के हृदय को दूषित कर सकता था। कई बार आहत पशुओं को छटपटाते देखकर भी आखेटक लोग गहरी प्रसन्नता का अनुभव किया करते है, पुरुष की वंचकता से आहत नारी की छटपटाहत के प्रति बिहारी का दृष्टिकोण भी कुछ ऐसा ही दिखाई पड़ता है। इसीलिए वे उसके हृदय की ज्वाला, और नेत्रो के आँसुओं से कुछ मनोविनोद की सामग्री जुटाने का प्रयत्न करते है।

अस्तु, भले ही 'मजमून छीनने[1] (या चुराने ?) की कारीगरी में तथा 'गागर में सागर भरने की कला' में बिहारी सिद्ध-हस्त माने गये हों और भले ही वे शृंगार रस के कुछ अंगों—विशेषतः सौन्दर्य के पूर्व उपादानों के चित्रण तथा प्रेमाकर्षण की प्रारम्भिक अनुभूतियों की व्यंजना में सफल सिद्ध होते हों, किन्तु जहाँ तक प्रणय-भावना के विकास का प्रश्न है—बिहारी मध्यम श्रेणी के ही कवि सिद्ध होते है। उनकी शृंगार-भावना का विकास अधिक से अधिक रसिकता की कोटि तक ही होता है। पाठक के हृदय को भाव-विभोर कर देने वाली प्रणय-वेदना का प्रस्फुटन उनके काव्य में प्रायः नहीं होता, और यदि कहीं होता भी है तो अन्य दूषित प्रवृत्तियों[2] के कारण उसका विकास नही हो पाता। वस्तुतः जैसा कि उनके प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण का विश्लेषण करते हुए पीछे कहा गया था, उनका प्रेम हृदय की गम्भीर भावना के रूप मे नही है, अपितु इन्द्रियों—वासनाओं की तृप्ति के मधुर साधना के रूप में ही उपस्थित है। उसे हम रसिकता या विलासिता का पर्यायवाची मान सकते है। अतः ऐसी स्थिति मे प्रेम के गम्भीर रूप की उनसे आशा करना भी अनुचित है।

---

१. श्री पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के इस गुण की बहुत प्रशंसा की है।

२. देखिये—इस प्रबन्ध का 'बिहारी के शृंगार-वर्णन को दूषित करने वाली प्रवृत्तियाँ' शीर्षक अध्याय।

बिहारी के शृङ्गार वर्णन को दूषित करने वाली प्रवृत्तियाँ

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, भावोत्कर्ष की दृष्टि से बिहारी का काव्य उत्कृष्ट श्रेणी का नहीं है। उनके शृंगार का स्तर रसिकता की कोटि का है किन्तु उसका भी पूर्ण आस्वादन पाठक नहीं कर पाता क्योंकि उनके काव्य में कुछ ऐसी दूषित प्रवृत्तियाँ मिलती हैं जो पाठक की रसानुभूति में बाधक होती हैं। इन प्रवृत्तियों पर किंचित प्रकाश यत्र-तत्र डाला जा चुका है, यहाँ सामूहिक रूप से इन पर विचार किया जाता है।

१—अनेक स्वादों से युक्त करने की लालसा—सतसई की अन्तिम पंक्ति से पता चलता है कि बिहारी ने अपने काव्य को अनेक स्वादों से युक्त बनाने का प्रयास किया था जिसके फलस्वरूप सतसई में भाव और विषय की एकरूपता नहीं है। कहीं शृंगार रस का वर्णन चल रहा है तो कहीं शान्तरस का निरूपण हो रहा है। एक ओर विपरीत-रति का चित्रण है तो दूसरी ओर अद्वैतवाद का प्रतिपादन है। किसी दोहे में हास्य रस की हलकी मुस्कान है तो अगले दोहे में नीति के गम्भीर तथ्य को हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया गया है। इसे विविधता का भावानुभूति की दृष्टि से भी यह उचित प्रतीत नहीं होता कि एक क्षण तो हम तिय छवि का घोर तिरस्कार करें और दूसरे ही क्षण हम उसे मुग्ध दृष्टि से देखें।

कदाचित् इस आक्षेप के उत्तर में कहा जाय कि बिहारी का काव्य मुक्तक शैली में रचित है, अतः उसमें विषय और भावों की एकरूपता का होना आवश्यक नहीं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। प्रबन्ध शैली में तो अवश्य कवि को प्रसंगानुसार विषय और भाव में स्थान-स्थान पर परिवर्तन करना पड़ता है, किन्तु मुक्तक काव्य-रचयिता पर कथा-वस्तु का कोई नियंत्रण नहीं होता। अतः यदि वह अपनी अनुभूतियों के प्रति सच्चा है तो उसकी वाणी का मूल स्वर एक ही होगा, यह नहीं कि प्रत्येक क्षण के बाद वह परस्पर-विरोधी विषयों का निरूपण करे। इसके प्रमाण-स्वरूप कबीर, मीरा, घनानन्द, देव, मतिराम आदि कवियों की मुक्तक रचनायें देखी जा सकती हैं। पद्माकर जैसे कुछ कवियों

ने शृंगार, वीर और शान्त रस का निरूपण किया है, किन्तु ऐसा उन्होंने अलग-अलग रचनाओं के रूप में ही किया है।

कुछ लोग यह समझते है कि मुक्तक रचना में प्रत्येक पद स्वतन्त्र होता है, उनमें पूर्वापर का सम्बन्ध नहीं होता किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह भी ठीक नही। कोई भी पाठक सतसई के एक ही दोहे को पढ़कर उसे बन्द नहीं कर देता, एक के बाद वह दूसरे, तीसरे आदि दोहों का अध्ययन करता है, अतः उनमें पूर्वापर सम्बन्ध—किसी न किसी मात्रा मे—स्थापित हो ही जाता है। कुछ टीकाकारों ने सतसई के इस दोष को दूर करने के लिये उसके दोहों का क्रम नायिका-भेद, रस आदि के अनुसार लगाया है जो प्रशंसनीय है।

२—**शृंगार के कुत्सित रूप का चित्रण**—वैसे तो हिन्दी के समस्त रीति बद्ध शृंगारी साहित्य में (जहाँ नायिका-भेद की पूर्ति के निमित्त परकीयाओं का चित्रण आवश्यक है) नीति और सदाचार का उल्लंघन हुआ है किन्तु फिर भी वर्णन-शैली की विशेषता के कारण उससे रसानुभूति मे बाधा नही पड़ती। एक परकीया अपने पति से विश्वासघात करके किसी वन-उपवन में घोर निशा के मध्य अपने उपपति से मिलने जाती है, इसी विषय को वर्णन भेद से दो रूपों मे उपस्थित किया जा सकता है। यदि कवि उसकी घरेलू परिस्थितियों का चित्रण करता हुआ, उसके पति को भी इस चित्र के बीच उपस्थित कर देता है तो इससे पाठक का मन उसके व्यभिचार की कल्पना से अभिभूत होकर रसानुभूति में असमर्थ रहेगा। किन्तु यदि उसी नायिका की घरेलू परिस्थितियों एवं पति के साथ की गई वंचकता के सम्बन्ध में कुछ भी न कहकर केवल बाहर की परिस्थितियों को मध्य निशा मे दुर्गम पथ पर अभिसार के लिये अग्रसर होना ही—चित्रित किया जाय तो उससे पाठक के हृदय में अनूकूल प्रभाव उत्पन्न होगा। अधिकांश रीति बद्ध शृंगारी कवियों ने परकीया का निरूपण इसी प्रकार किया है, किन्तु बिहारी ने अनेक दोहों में नायिका के व्यभिचार के कुत्सित रूप को भी पाठक के सामने उपस्थित कर दिया है। जैसे, इस दोहे में देखिये :—

चलत देत आभारु सुनि उहीं परोसिहिं नाह !
लसी तमासे की दृगनु हाँसी आँसुनु माँह ! —५५१

यहाँ कोई भोला नायक अपने घर का प्रबन्ध किसी पड़ौसी को सँभाल कर विदेश जा रहा है। जब उसकी पत्नी इस बात को सुनती है तो वह ऊपर आँसू दिखाती हुई भी मन ही मन प्रसन्न हो रही है क्योंकि उसी पड़ौसी के साथ

उसका गुप्त सम्बन्ध है। नायिका का पति के प्रति इस प्रकार का वंचकता एवं दुष्टतापूर्ण व्यवहार हमारी घृणा का ही आलम्बन बनता है रति भाव का नहीं।

पड़ोसी के गुप्त सम्बन्ध को लेकर और भी कई दोहों की रचना की गई है। कभी वे अटारी पर चढ़कर एक दूसरे को देखते हैं (१९३-१९४), कभी झरोखे की जाली के छेदों में से (२६३), कभी वे छतों पर से थोड़े झुककर एक दूसरे का चुम्बन ले लेते हैं (५०५)। कभी दीवार के छेद में से एक दूसरे का हाथ पकड़ते-पकड़ते सारी रात बिता देते हैं (५७१) इतना ही नहीं पड़ौसिन अपने प्रेमी को घर बुलाने का बहाना ढूँढ़ने के लिए उसकी पत्नी को अपनी बहिन बना लेती है (६५४)। इसी प्रकार देवर के साथ भी नायिका के गुप्त सम्बन्ध का वर्णन कुछ दोहों मे—(८५, २४६, ६०२) किया गया है। जब देवर का विवाह होने लगता है तो भौजाई दुःखी हो जाती है क्योंकि अब उसका गुप्त सम्बन्ध टूट जायगा (२४६)।

वस्तुतः इस प्रकार के वर्णनों को हम रसाभास के अन्तर्गत ही ले सकते हैं। कोई भी परिष्कृत रुचि का पाठक इन्हें पढ़कर अपनी घृणा प्रकट किए बिना नहीं रह सकता।

३—रीति के लक्षणों की पूर्ति—यद्यपि बिहारी स्पष्ट रूप से रीति-बद्ध कवियों की भाँति शास्त्रीय लक्षणों का विवेचन नही करते, किन्तु जैसा कि अलग अध्याय मे स्पष्ट किया गया है, उन्होंने नख-शिख, षट-ऋतु, एवं नायिका भेद आदि के सभी अंगों के उदाहरण जुटाने का प्रयास किया है। जहाँ नख-शिख की पूर्ति के लिए उन्होंने पैर के गट्टे तक का वर्णन अलग दोहे में किया है वहाँ नायिका के सभी भेदों को उपस्थित करने के लिए अनेक नीरस और शुष्क दोहों की भी रचना की है। मान के विभिन्न भेदों का निरूपण भी अनुभूति शून्य शब्दों मे हुआ है। अस्तु, इसमें सन्देह नही कि शास्त्रीय भेदों के उदाहरण जुटाने की प्रवृत्ति के कारण भी सतसई में नीरस दोहों की भरमार हो गई है।

४—ज्ञान प्रदर्शन की प्रवृत्ति—बिहारी ने अपने अनेक दोहों में गणित, वैद्यक, ज्योतिष आदि के ज्ञान का पुट भी दिया है जो काव्य की सरसता में बाधक सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए यह दोहा देखिये :—

मंगल-बिन्दु-सुरंगु-मुखु ससि, केसरि आड गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत॥
—४२

इस प्रकार कुछ अन्य दोहों मे (११२, ३२७, ४४२, ६९० आदि) इसी प्रवृत्ति के कारण भाव व्यंजना को ठेस पहुँची है।

५—अलंकारिकता का मोह—सतसई के अनेक दोहों में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का प्रयोग यत्न पूर्वक हुआ है जो स्वयं बिहारी के शब्दों में उनकी भावनाओं की "सुकुमारता के लिए भूषणभार" सिद्ध होता है। इस अति-अलंकार प्रियता के कारण कहीं-कहीं तो काव्य का अर्थ ही अस्पष्ट हो गया है, जैसे :—

अजों तरयौना ही रह्यो श्रुति सेवत इक रंग।
नाक-बास बेसर लह्यो बसि मुकुतन के संग॥

—२०

जोग जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन॥

—१३

यहाँ श्लेष का अच्छा चमत्कार है, किन्तु काव्य का अर्थ ढूँढ़ने के लिए पाठक की बुद्धि को अच्छा व्यायाम करना पड़ता है। इसी प्रकार विरह-वर्णन सम्बन्धी कई दोहों में भी चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति मिलती है।

६—दोहे का प्रयोग—बिहारी के युग मे कवित, सवैये, घनाक्षरी—आदि बड़े छन्दों का भी प्रचलन था, किन्तु फिर भी बिहारी ने दोहे जैसे छोटे छन्द को चुना। यद्यपि उन्होंने अपनी समास शैली के कारण गागर में सागर भर दिया, किन्तु उसी गागर को पुनः सागर रूप में प्रवाहित करने के लिए पाठक की कल्पना को भारी श्रम करना पड़ता है। दोहे की संकुचित भूमि के कारण उनके शृंगार वर्णन में ये न्यूनताएँ आ गई हैं—

(क) अनेक दोहो में परिस्थिति और प्रसंग का कोई संकेत नहीं मिलता। उसके लिए पाठक को किसी अच्छे गुरु या किसी टीका का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है।

(ख) सौन्दर्य-निरूपण सम्बन्धी दोहों मे नायिका के सभी अंगों का चित्रण एक साथ नहीं हो सका। युद्ध-भूमि के दृश्य की भाँति सतसई में भी नायिका के शरीर के सब अंग अलग-अलग बिखरे हुए दिखाई पड़ते हैं जिनसे पाठक के हृदय पर समन्वित प्रभाव उत्पन्न नही होता।

(ग) इसी प्रकार रस के विभिन्न अवयवों—आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन आदि का एकत्र संयोग सतसई में नहीं मिलता। यदि सतसई के किसी दोहे में आलम्बन का चित्रण है तो उसमें आश्रय की अनुभूतियों की व्यंजना नहीं होगी कहीं उद्दीपन का वर्णन है तो नायक नायिका उसके साथ दिखाई नहीं पड़ेंगे। उदाहरण के लिए इस दोहे को देखिये :—

जो तिय तुम मन भावती राखी हियँ बसाइ।
मोहिं झुकावति दृगनु ह्वै वहई उझकति आइ॥

—५५८

यहाँ पति के मुँह से किसी अन्य स्त्री का नाम निकल जाने पर पत्नी का रोष चित्रित किया गया है। इसी प्रसंग का मतिराम ने भी वर्णन किया है—

दोऊ अनन्द सों आंगन मांझ बिराजैं असाढ़ की सांझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनैं मुँह में हंसी, कोहि तिया पुनि चाप सी भोंह चढ़ाईं।
आंखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाईं॥

यहाँ प्रकृति के वातावरण (उद्दीपन), नायक-नायिका (आलम्बन-आश्रय) की चेष्टाओं (अनुभावों) और संचारी भावों का चित्रण एक छन्द में कर दिया गया है जबकि बिहारी के दोहे में केवल नायिका की उक्ति का ही वर्णन मिलता है। कहना न होगा कि मतिराम का वर्णन बिहारी के वर्णन से बहुत अधिक सरस एवं प्रभावोत्पादक है।

(घ) यद्यपि बिहारी के दो-चार दोहों में नायक नायिका के पारस्परिक संवाद का निरूपण मिलता है किन्तु फिर भी उनमें प्रेमी-प्रेमिकाओं के कथोपकथनों की दीर्घ शृंखला का अभाव मिलता है, जैसे पद्माकर के एक कवित की ये पंक्तियाँ देखिये—

को हो मैं तिहारी ? तू तौ मेरी प्रान प्यारी !
अजी, होती जो पियारी, तब रोतीं कहाँ काहे को !

इसी की तुलना में बिहारी का यह दोहा रखना उचित होगा—

बाल कहाँ लाली भई, लोइन कोइन माँहि।
लाल तिहारे दृगन की परी दृगन में छाँहि॥

यद्यपि उपर्युक्त दोहे में व्यंजना का गहरा वैभव छिपा हुआ है किन्तु फिर भी इसमें प्रणयालाप की सी स्वाभाविकता का अभाव है। भावावेग के कारण वाक्य-योजना में जो थोड़ी वक्रता तथा लहजे में जो थोड़ी लचक पद्माकर की पंक्तियों में मिलती है, उसका बिहारी के दोहे में अभाव है।

(ङ) प्रेम और विरह के वर्णन के लिए ऐसे छन्द अधिक उपयुक्त होते हैं जिनमें कोमलता, चंचलता एवं प्रवहण शीलता हो। कवित्त और सवैयों में ये गुण मिलते हैं किन्तु दोहा उस दृष्टि से शुष्क एवं स्थिर दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए देखिये :—

बिहारी—लाल तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार ।
सरसै बरसै नीर हूँ झरहूँ मिटै न झार ।।

घनानन्द—पहिलें घन आनन्द सीचि सुजान कहीं बतियां अति प्यार पगी ।
अब लाय वियोग की लाय, बलाय, बढ़ाय, बिसास दगानि दगी ।।
अखियाँ दुखियानि कुबानि परी, न कहूँ लगें कौन घरी सुलगी ।
मति दौरि थकी, न लहै ठिक ठौर अमोही के मोह मिठास ठगी ।।

यहाँ दोनों ही कवियों ने वियोगाग्नि का वर्णन नायिका के मुँह से करवाया है । समास शक्ति की दृष्टि से बिहारी का प्रयत्न प्रशंसनीय है किन्तु घनानन्द के सवैये में सिसक-सिसक कर करुण गाथा कहने वाले व्यक्ति के स्वर की सी चंचलता एवं उत्तेजना ध्वनित होती है उसका दोहे में अभाव है ।

वस्तुतः दोहा चिन्तन-प्रसूत तथ्यों को स्मृति रूप में सुरक्षित रखने के लिए एक अच्छा साधन है, भक्ति, नीति और दर्शन के शुष्क उपदेशों के वर्णन के लिए वह सर्वथा उपयुक्त है किन्तु भावनाओं के सभी अंगों के चित्रण एवं उनके प्रवाह को ठीक प्रकार व्यंजित करने की क्षमता दोहे में बहुत है ।

७—**संख्या-विस्तार की प्रवृत्ति**—बिहारी के सामने सतसई लिखने का उद्देश्य था, अतः प्रत्यक्ष रूप मे उन्होंने दोहों की संख्या विस्तार का भी प्रयत्न किया जिससे कि सात सौ की संख्या पूरी हो सके । इसके फलस्वरूप अनेक दोहों मे एक ही प्रसंग का निरूपण थोड़े बहुत हेर फेर के साथ हुआ है । जैसे मान-वर्णन सम्बन्धी कुछ दोहे देखिये :—

सकुचि न रहियै स्याम, सुनि ए सतरौंहै बैन ।
देत रचौंही चित कहै, नेह नचौंहैं नैन ।।

—७२

\+ + + +

सतर भौं, रूखे बचन करति कठिनु मनु नीठि ।
कहा करौ ह्वै जाति हरि हेरि हंसौंही डीठि ।।

—१०८

\+ + + +

नेक हंसौंही बानि तजि लख्यौ परतु मुहुँ नीठ ।
चौका चमकनि चौंध मैं परति चौंधि सी दीठि ।।

—१००

\+ + + +

कहा लेहुगे खेल पैं, तजौ अटपटी बात।
नैंक हंसौंही हैं भईं भौंहैं सौंहै खात ॥ —४६

उपर्युक्त चारों दोहों में मानिनी नायिका की 'हंसौही दीठि' के कारण उसके मान की असफलता का निरूपण किया गया है। इनमें प्रसंग और भाव का तो साम्य है ही कई शब्दों की भी पुनरावृत्ति मिलती है। इसी प्रकार खंडिता नायिका सम्बन्धी दोहों में प्रायः एक ही प्रसंग को—रति चिह्नों के कारण नायक का पर स्त्री गमन प्रकट हो जाना—बार-बार दोहराया गया है (देखिये दोहा संख्या, २२, २३, ६५, ७६, ११३, १६८, १६६, १८४, १८५, १८६, १६६, २४० आदि) इसके अतिरिक्त संभोग, विरह, नख-शिख वर्णन सम्बन्धी अनेक दोहों में भी तथ्यों और भावों की पुनरावृति मिलती है।

प्रवृत्तियों का मूल-स्रोत—उपर्युक्त प्रवृत्तियों के कारण बिहारी का शृङ्गार वर्णन अनेक स्थलों पर विरोधी भावों से ग्रस्त, जुगुप्सोत्पादक, नीरस, जटिल, शुष्क एवं प्रभाव शून्य हो गया है। इन प्रवृत्तियों में से कुछ के मूल में (जैसे, विविध भावों का समावेश, संख्या विस्तार) कवि की व्यक्तिगत रुचि और आकांक्षा का प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है। शृङ्गार के कुत्सित रूप का चित्रण तत्कालीन समाज की अवस्था से सम्बन्ध रखता है, यदि उस युग के पाठकों या श्रोतागणों की रुचि विकृत न हुई होती तो बिहारी को इस प्रकार के वर्णन का साहस नहीं होता। ज्ञान-प्रदर्शन एवं अलंकारिकता का मोह उस युग के दरबारी वातावरण का प्रभाव माना जा सकता है, क्योंकि राजा-महाराजाओं को प्रभावित करने के लिए पांडित्य-प्रदर्शन भी आवश्यक था। रीति के लक्षणों की पूर्ति तो स्पष्टतः ही तत्कालीन हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखती है। रही दोहे के प्रयोग की बात—सो एक तो उनसे पूर्व हिन्दी में केवल दोहा छन्द को लेकर 'तुलसी-सतसई', 'हित-तरंगिणी' (कृपाराम) आदि काव्यों की रचना हो चुकी थी, दूसरे सात सौ छन्दों वाली—सतसई के लिए अन्य प्रकार के छन्दों की अपेक्षा दोहा ही अधिक उपयुक्त रहता इसके अतिरिक्त बिहारी का अधिकांश काव्य चेष्टापूर्वक रचित है—भावावेश में अभिव्यक्त नहीं : ऐसी स्थिति में दोहा ही अधिक अनुकूल पड़ता था।

अस्तु, इन प्रवृत्तियों का मूल कारण चाहे जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि बिहारी उन से बचकर चलते तो उन्हें अधिक सफलता मिलती। हां, दोहे के अतिरिक्त किसी अन्य छन्द में उन्हें सफलता मिलती या नहीं—इस सम्बन्ध में असंदिग्ध रूप से कुछ कहना कठिन है।

पूर्ववर्ती भारतीय काव्य का प्रभाव

आचार्य पद्मसिंह शर्मा,[1] श्री बिहारी मिश्र,[2] श्री मथुरानाथ शास्त्री,[3] श्री ऋषीश्वर नाथ भट्ट[4] प्रभृति विद्वानों ने बिहारी-सतसई के अनेक दोहों को गाथा सप्तशती एवं संस्कृत-हिन्दी के अन्य कुछ कवियों की उक्तियों के आधार पर रचित सिद्ध किया है। इनके अतिरिक्त प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को भी संस्कृत-हिन्दी के अनेक कवियों की उक्तियों से बिहारी के दोहों में साम्य दृष्टिगोचर हुआ है। यहाँ हम विस्तृत विवेचन में न पढ़कर सभी विद्वानों द्वारा ढूंढ़े हुए उक्ति-साम्य वाले दोहों का संकेत मात्र करना पर्याप्त समझते हैं :—

(क) **गाथा सप्तशती**—(हाल द्वारा संकलित)

गाथा-संख्या	सतसई (दोहा-संख्या)	दोहे के प्रारम्भिक शब्द
५।४४	३८	नहिं पराग·····
१।७६	३१५	तीज परब·····
३।७३	२०३	अज्यौं न आए·····
५।७०	५८८	अनियारे दीरघ·····
१।५५५	६५१	यों दल मलियत·····
२।३७	५७२	बाम बाहु फरकत·····
३।६२	४०	देह दुलहिया की·····
६।६७	४०६	अपनी गरजनि·····
१।५४	२१५	नाह गरज·····

---

१. देखिये—बिहारी सतसई की भूमिका।

२. देव और बिहारी।

३. गाथा सप्तशती की संस्कृत टीका के रचयिता।

४. अमरु शतक के टीकाकार।

गाथा संख्या	(सतसई–दोहा संख्या)	दोहे के प्रारम्भिक शब्द
६।२७	५३५	मैं लै दयो·····
१।८७	५७७	रही फेरि मुख·····
१।४६	१३१	बैठ रही अति·····
१।६५	५६६	मोहि लजावत·····
१।५६	८५	कहति न देवर की·····
६।७१	६०	कागद पर लिखत·····
५।३३	६६५	छिनकु उघारत छिन····
१।१३	१४३	पिय तिय सौं·····
४।४६	२३८	तू रहि हौं ही·····
४।४३	—	नाम सुनत·····
१।६	१३५	सन सूख्यौ·····

(ख) आर्या सप्तशती

आर्या संख्या	दोहा संख्या	प्रारम्भिक शब्द
३३६	१५६	छवै छिगुनी·····
१००	३००	स्वारथ सुकृत·····
६६०	५००	नैकु उतै उठ·····
४३१	६७६	मोर चन्द्रिका·····
४२२	१०	फिर-फिर चित·····
१४४	३०	स्व ही तन·····
२३१	७८	कंज नयनि·····

(ग) अमरु-शतक

श्लोक-संख्या	प्रारम्भिक-शब्द	दोहा संख्या	प्रारम्भिक शब्द
४	अस्त वलितैः	३२	कहत नटत·····
१६	एक स्मिन शयने	३४६	खिचे मान·····
२३	त्वं मुग्धाक्षि	२४	पति रति की·····
२४	भ्रू भंगे	१०८	सतर भौंह·····
३३	सस्तो यं	३४२	मैं मिसहा·····
६७	मुग्धे	परि० ११६	सखि सिखावत·····
८८	लाक्षालक्तम	२२	पलनि पीक·····
८६	तस्मै	६५६	पलनि प्रगटि·····

श्लोक संख्या	प्रारम्भिक शब्द	दोहा संख्या	प्रारम्भिक शब्द
६५	उरुद्वयं	२१०	जंघ युगल·····
६६	चपल हृदये	५०८	सोहें हू चाह्यौ·····

(घ) संस्कृत के अन्य कवि

१—कालिदास—

स्थितः ज्ञणं पक्ष्मसु ताडिताधराः,
पयोधरोत्सेधनिपात चूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदि रे,
चिरेण नाभि प्रथमोदबिन्दवः ।।

—कुमार संभव

बिहारी—

पलनु प्रगटि बरुनीनु बढ़ि नहिं कपोल ठहरात ।
अँसुआ परि छतिया छिनकु छनछनाइ छिपि जात ।।

—६५६

'ऋतु-संसार' में शरद का वर्णन करते हुए कालिदास ने उसकी नववधू के रूप में कल्पना की है :—

काशंशुका विकच पद्म मनोज्ञ वक्रा,
सोन्माद हंस रव नूपुर नाद रम्या ।
आपक्व शालि रुचिरा तनु गात्र यष्टिः,
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूप रम्या ।।

—३।१

बिहारी ने भी शरद को यही रूप दिया है—

अरुन सरोरुह कर चरन, दृग-खंजन मुख चन्द ।
समै आइ सुन्दरि सरद, काहि न करति अनन्द ।।

—४८७

२—भवभूति—

भवभूति ने मालती माधव में प्रेमिका के झरोखे में से नायक को देखने का दृश्य (१।१६) चित्रित किया है । बिहारी सतसई के दोहे सं० ५२७-५७०-६३४ में भी इस प्रसंग को दोहराया गया है ।

३—भर्तृहरि—

(क) कामिनी काय कान्तारे कुच पर्वत दुर्गम।
मा संचर मनः पान्थ तत्रास्ते स्मर तस्करः ॥
—शृङ्गार-शतक

बिहारी—

कुच गिरि चढ़ि, अति थकित ह्वै चली डीठि मुँह चाड़।
फिरि न टरी, परिये रही गिरी चिबुक की गाड़ ॥
—२६

डारे ठोड़ी गाड़ गहि नैन बटोही, मारि।
चिलक, चौंध मे रूप-ठग हाँसी-फाँसी डारि ॥
—१७

(ख) संसार तब निस्तार पदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदि रेक्षणाः ॥
—भर्तृहरि—शृंगार शतक

या भव पारावार को, उलंघि पार को जाय।
तिय छवि छाया ग्राहिनी गहै बीच ही आय ॥
—बिहारी सतसई, ४३३

४—संस्कृत के अन्य कवि

श्री पद्मसिंह शर्मा ने निम्नांकित दोहों का भाव-साम्य भी संस्कृत के कुछ श्लोकों (रचयिता का नाम अज्ञात) से दिखाया है[1] :—

१—छुटै छुटावैं जगत तैं (दोहा सं० ५७३)।
२—तिय कित कमनैती पढ़ी (३५६)।

५—राजशेखर (प्राकृत-कूर्परमंजरी)

"चंचल नैनों से क्या ? चन्द्रमा जैसे मुख से भी कोई लाभ नहीं। इस संसार मे कोई और ही कारण है जिससे स्त्रियाँ पुरुष के हृदय को अपने वश में करती हैं।"
—कूर्परमंजरी—हिन्दी टीका सहित ३।१६

अनियारे दीरघ दृगनु कितीन तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जिहिं बस होत सुजान ॥
—५८८

(ङ) हिन्दी के पूर्ववर्ती कवि

१—**विद्यापति**—सद्यःस्नाता का वर्णन—

जाइत पेखल नहाएलि गोरी।
कति सयं रूप घनि आनलि चोरी॥
सजल चीर रह पयोधर सीमा।
कनक बेल जनि पड़ि गले हीमा॥
\+ \+ \+
कर जुग पिहित पयोधर अंचल।
चंचल देखि चित्त भेला॥

—विद्यापति पदामृत, पृष्ठ ३६-४१

बिहारी—

विहंसत सी, सकुचति सी, दिएँ कुच आचर बिच बाँह।
भीजें पट तट कों चली, न्हाइ सरोवर माँह॥

—६९३

२—**सूरदास**—

(क) योग ठगोरी ब्रज न बिकै है!
\+ \+ \+
दाख छाँड़ि के कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै?

—भ्रमर-गीत

बिहारी—

तो रस रांच्यौ आन बस कहौ कुटिल मत कूर।
जीभ निबौरी क्यों लगे बौरी, चाखि अंगूर॥

—१९७

(ख) चितई चपल नयन की कोर।
अति व्याकुल धुकि, धरनि परे जिमि तरुन तमाल पवन के जोर॥
कहुँ मुरली कहुँ लकुट मनोहर, कहुँ पट कहुँ चन्द्रिका मोर।
छन बूड़त छन ही छन उछरत, बिरह सिन्धु के परे झकोर॥
\+ \+ \+
सूर सु अधर सुधारस सींचहु, मेटहु मुरछा नन्द किसोर।

—सूरदास

कहा लड़ैते दृग करे ? करे लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहुँ मुकुट बन माल ।।

—बिहारी सतसई, १५४

३—**केशवदास**—

(क) सोहति है उर में मनि यों जनु ।
जानकी कौ अनुराग रह्यौ मनु ।।
सोहत जन रत राम उर, देखत जिनको भाग ।
आय गयौ ऊपर मनौ, अन्तर को अनुराग ।।

—रामचन्द्रिका

उर मानिक की उरबसी, निरखि घटत दृग दाग ।
छलकल बाहिर भरि मनौ, तिय हिय को अनुराग ।।

—बिहारी सतसई, ३३६

(ख) गति कौ भार महावरे अंग-अंग को भार ।
केशव नख-शिख सोभिजै, सोभाई शृंगार ।।[1]

—केशव

भूषन भारि सँभारि है क्यो यह तनु सुकुमार ।
सूधे पाय न धर परत सोभा ही के भार ।।

—बिहारी सतसई, ३२२

४—**बलभद्र मिश्र**—

पलिका तें पाय जो धरति धाम धरनी में ।
छाले परे पग माँझ पेंड के गवन तें ।।

—नख-शिख छन्द, ६५

छाले परिबै कैं डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।
झझकत हियें गुलाब कैं झंवा झंवैयत पाइ ।।

—बिहारी सतसई, ४८३

बलभद्र ने नासिका बेध को कामरूपी शिकारी का मोरचा बताया है (न० शि० छन्द १७) बिहारी ने भी इससे मिलता जुलता वर्णन किया है—

बेधक अनियो नयन बेधत करि न निषेधु ।
बरबट बेधतु मो हियौ, तो नासा कौ बेधु ।।

—२७

१. देव और बिहारी, पृष्ठ ५८ ।

इनके अतिरिक्त हिन्दी के कुछ अन्य कवियों से भी बिहारी का उचित उक्ति-साम्य मिलता है :—

कृपाराम—

पति आयो परदेस ते ऋतु बसंत की मानि।
झमकि-झमकि निजु महल में टहलें करे सुरानि॥

—हित तरंगिणी

ज्यों-ज्यों आवति निकट निसि, त्यों-त्यों खरी उताल।
झमकि-झमकि टहलें करै, लागी रहचटें बाल॥

—बि० स० ५४३

मनोहर—

बिथुरे सुथरे चीकने घने-घने घुघुवार।
रसिकन को जंजीर से बाला तेरे बार॥[1]
सहज सचिकन, स्याम रुचि, सुचि सुगंध सुकुमार।
गनतु न मनु पथु अपथु, लखि बिथुरे सुथरे बार॥

—बिहारी सतसई, ९५

मुबारक—

चिबुक दिठोना बिधि कियौ, दीठि लागि जनि जाय।
सो तिल जग मोहन भयौ, दीठि हिलेत लगाय॥
लौने मुख दीठि न लगे यों कहि दीनौ ईंठि।
दूनी ह्वै लागन लगि, दिए दिठौना दीठि॥

—बिहारी, २८

अस्तु, इस प्रकार के दोहों की संख्या लगभग ५०-६० है। पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि—पूर्ण अध्यवसाय के साथ ढूँढ़ने से सतसई के सभी दोहों का भाव पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों में दृष्टिगोचर हो सकेगा।[2] मिश्रजी की यह सम्भावना कहाँ तक ठीक है, यह कहना कठिन है, क्योंकि इसका निर्णय करने के लिये संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि के सभी उपलब्ध और अनुपलब्ध ग्रन्थों का पूर्ण अध्यवसाय अपेक्षित है। यह भी

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रा० शु०, पृष्ठ २०५।
२. देव और बिहारी, पृष्ठ ३२०।

संभव है कि बहुत से ग्रन्थ जो बिहारी के सामने रहे हों वे अब लुप्त हो गये हों। हाँ, हम केवल इतना ही स्वीकार कर सकते हैं कि सतसई के सरस एवं भावपूर्ण दोहों में से अधिकांश अन्य कवियों की रचनाओं के आधार पर रचित हो सकते हैं क्योंकि ऊपर जिन ५०-६० दोहों का उल्लेख किया गया है वे सतसई के सर्वोत्तम दोहों में हैं। पर बिहारी की विशेषता यह है कि वे अन्य कवियों के भावों को आधार बनाकर भी दोहे की रचना इस प्रकार करते हैं कि वे सर्वथा मौलिक से प्रतीत होते हैं :--

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल।
अली कली ही सौ बंध्यों, आगे कौन हिवाल॥

—३२

फिरि-फिरि चितु उतहीं रहतु, टूटी लाज की लाव।
अंग-अंग छवि झौंर मैं, भयौ भौंर की नाव॥

—१०

अनियारे दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान।
यह चितवनि औरै कछु जिहिं बस होत सुजान॥

—५५८

भूषन भारु सँभारिहै क्यों इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा ही कैं भार॥

—३२२

पं० पद्मसिंह शर्मा ने यह विस्तारपूर्वक प्रदर्शित किया है कि बिहारी ने मूल भाव के सौन्दर्य में कितनी वृद्धि कर दी है, अतः इस विषय की चर्चा करना यहाँ अनावश्यक है। पीछे रीति-बद्ध शृंगार परम्परा पर विचार करते हुए यह भी बताया जा चुका है कि मतिराम, पद्माकर आदि कवियों ने भी प्राचीन कवियों के भावों को ग्रहण किया है, अतः केवल बिहारी को ही इसके लिए दोष देना अनुचित है। कदाचित् इस युग में भावापहरण को क्षम्य समझा जाता हो।

बिहारी पर फारसी का प्रभाव

मुगलों के शासन-काल में फारसी को राज्याश्रय प्राप्त था। अतः उसके साहित्य का हिन्दी कवियों—विशेषतः दरबारी कवियों—पर थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ना संभव था। बिहारी के शृंगार वर्णन में फारसी काव्य की अनेक प्रवृत्तियों से साम्य दृष्टिगोचर होता है :—

(क) सौन्दर्य का संहारक रूप में वर्णन

भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य की व्यंजना इस रूप में होनी चाहिए कि वह सामाजिक के हृदय में रति-भावना का उद्रेक कर सके, किन्तु इसके विपरीत बिहारी ने सौन्दर्य का ऐसा वर्णन किया है जिससे पाठक को भय और जुगुप्सा की अनुभूति होती है। कहीं नायिका का सौन्दर्य दृष्टा को हाँसी रूपी फाँसी से बाँधकर चिबुक के गड्ढे में डाल देता है,[1] कहीं नासिका का बेध उसके हृदय को बेध देता है[2] तो कहीं कानन-चारी नैन-मृग रसिक लोगों का शिकार खेलने लगते हैं।[3]

(ख) नायिका की कोमलता (नजाकत) का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन

हिन्दी-काव्य में नायिका के कुछ अंगों की विशेषता—उसकी कटि की सूक्ष्मता आदि के वर्णन की तो परिपाटी रही है। पर उसकी नजाकत पर बहुत कम ध्यान दिया गया है किन्तु बिहारी इसके अपवाद हैं। एक दोहे में

---

१. डारे ठोडी गाड़, गहि नैन-बटोही मारि।
चिलक चौंध में रूप ठग, हाँसी-फाँसी डारि॥ —१७

२. बेधक अनियारे नयन, बेधत करि न निषेधु।
बरबट बेधनु मो हियौ तो नासा को बेधु॥ —२७

३. खेलन सिखए अलि भलैं चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन मृग नागर नरनु सिकार॥ —४५

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	अनुच्छेद	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
४३	१	३	बाध्य	बाह्य
७३	२	३	सिह	हिंस्र
७६	३	३	बाह्य ग्रन्थों	ब्राह्मण ग्रन्थों
७७	१	७	राजा	प्रजा
८०	१	६	कुशनाम	कुशनाभ
८१	१	६	मितव्य भी	मितव्ययी
८३	२	अंतिम	दिला	दिखा
८३	३	८	अक्षुण्य	अक्षुण्ण
८६	१	३	वैश्या	वेश्या
६३	१	अंतिम	सदा	कुछ सदा
६६	१	५	वैश्या	वेश्या
६६	फुटनोट	२	पतिवृता	पतिव्रता
६६	३	६	वत्कल	वल्कल
६६	३	१०	हो रहा	हो रहा है
१०४	३	३	प्रकार का	प्रकार
१०६	३	८	अरुण शतक	अमरु शतक
१०७	१	१	ग्राहस्थ	गार्हस्थ्य
१०६	३	१	अस्वभाविक	अस्वाभाविक
११०	२	१४	यथार्थान्मुख	यथार्थोन्मुख
१२३	२	२	शदी	शती
१२४	२	२	शदी	शती
१२४	२	२	इसके	इनके
१२४	२	६	गुंडरिया	गुंडरिपा
१२६	३	४	ही उपलब्ध	सबसे पूर्व यहीं उपलब्ध

पृष्ठ	अनुच्छेद	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
१२६	३	५	सम्प्रदाओं	संप्रदायों
१२७	२	४	संस्कुत	संस्कृत
१२७	३	३–४	करने के लाभ करने का संवरण	करने का लोभ संवरण
१२८	२	६	इनको	इनके
१३०	२	१	छठवीं	छठी
१३९	१	११	हन्दी	हिन्दी
१३९	२	५	कवि से	कवि के
१४७	१	४	प्रविष्ठ	प्रविष्ट
१५१	१	१	प्रभावित करने के अतिरिक्त	प्रभावित करने में हिन्दी काव्य की सामान्य परिस्थितियों के अतिरिक्त
१५१	१	७	शिविसिंह	शिवसिंह
१५१	२	५	वर्ण:रत्नाकर	वर्णरत्नाकर
१५२	२	३	लक्ष्मीसिंह	लखमी बाई
१५३	१	अंतिम	प्रवर्तक	प्रवर्तन
१५३	३	२	मानु कवि	भानुकवि
१५३	३	२	भिखारीमित्र	भिखारीमिश्र
१५९	३	कविता	लागति	लागलि
१६१	१	३	मेलि	भेलि
१६३	१	१	हमारो	हमरो
१६२	१	५	मेला	भेला
१६५	अंतिम	फुटनोट	बधु	बधु
१६६	१	४	पर तो	पर
१६८	३	१	प्रर्याप्त	पर्याप्त
१७०	१	४	शत-विक्षत	क्षत-विक्षत
१७१	४	अंतिम	प्रर्याप्त	पर्याप्त
१७७	१	२	सूक्तियों	सूफियों
१८०	३	५	तेखि	देखि
१८१	१	३	शासन	शमन
१८२	अंतिम	अंतिम	चित्रित रूप के नायक	चित्रित नायक

पृष्ठ	अनुच्छेद	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
१८३	२	४	शास्त्राज्ञों	शस्त्राशस्त्रों
१८३	२	८	भोगियों	योगियों
१८७	अंतिम	अंतिम	वैश्यायें	वेश्यायें
१८९	३	२	मै	भै
१८९	४	२	उपयुम्त	उपर्युक्त
१९०	१	१	दृडता	दृढ़ता
१९०	२	४	स्थिति के साथ	स्थिति एक साथ
१९१	२	१२	प्रणय भावना से	प्रणय भावना के
१९२	१	९	क्रिया-कलाओं	क्रिया-कलापों
१९३	२	५	उचित राय	एक उक्ति
१९३	२	१२	सौलह	सोलह
१९३	३	३	पूर्वबर्ती	पूर्ववर्ती
१९७	१	१	मनोबुद्धिर्या	मनोबुद्धिर्यो
१९८	३	४	संख्य	सख्य
२०१	१	५	सरिसताओं	सरिताओं
२०२	३	५	के लौकिकता	की अलौकिकता
२०६	३	४	शृङ्गार रस मंडल	शृङ्गार-रस-मंडन
२०९	अंतिम	५	सबसे	सबके
२१०	१	३	कैकी	केकी
२११	३	७	भैया	मैया
२१७	२	१	व्यवहारिक	व्यावहारिक
२१७	२	४	नायिकाओं	अनेक नायिकाओं
२१८	१	३	समन्वय	समन्वित
२२१	३	६	बंचकता	वंचकता
२२२	शीर्षक		शृंगारोत्तर	शृंगारेत्तर
२२३	कबीर के दोहे		दाका	दाता
,,	,,		नड	बड
२२५	२	१	खंडन क्षेत्र	खंडन के क्षेत्र
२३०	२	दोहे	बाझणा	दाझणा
२३५	२	दोहे	मित्त पूँ	मित्त तूँ
२३८	२	चौपाई	जिस मुख	सिय मुख

पृष्ठ	अनुच्छेद	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
२४१	अंतिम	अंतिम	संत प्रकृति	संत आदि सभी प्रकृति
२४२	१	अंतिम	१३३०	१६५०
२४८	३	३	सभी	भी
२४३	३	४	सुख-साधना	सुख-साध्या
२५१	२	८	स्थल	स्थूल
२५२	२	१२	रसलील	रसलीन
२५९	३	२	अभिव्यक्ति	अभिव्यम्त
२५९	३	९	सुई	हुई
२६२	४	२	संसार	संचार
२७३	२	अंतिम	जाति	जानि
२७४	१	४	प्रेम को समुझै	प्रेम को समुझै
२७६	१	७	शृङ्गारोत्तर	शृङ्गारेत्तर
२७७	१	१६	हुई	हुई और
२८१	१	१	घेर लेता	घेर लेती
२९३	२	६	आभास	अभ्यास
३०७	१	८	सामान्य	सामान्य सौन्दर्य
३२१	१	८	बेचारी	बेचारी ने
३३२	१	४	किसी	किसी और
३३३	अंतिम	१	इसके	रस के
३३५	१	८	प्रवृत्तियों में	प्रवृत्तियों से
३३५	१	१३	प्रेम	प्रेमी
३३५	२	६	हृदय को	हृदय
३३६	१	६	दूषित	द्रवित
३३६	२	३	पूर्व	पूर्ण
३३७	२	८	इस विविधता का	इस विविधता का नैतिक दृष्टि से तो औचित्य है ही नहीं
३३८	अंतिम	१	संभाल कर	संभलाकर
३४१	२	३	अभाव मिलता है	अभाव है
३४२	१	अंतिम	दोहे में बहुत है	दोहे में बहुत कम है ।
२४६	१	कालिदास	क्षणं	क्षणं

पृष्ठ	अनुच्छेद	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
३४७	५	१	नैत्रों	नेत्रों
३५१	१	५	दोहों में हैं	दोहों में से है।
३५१	१	९	हिवाल	हवाल
३५२	१	९	दृष्टा	द्रष्टा
३५६	१	३	उनमें के	उनमें से
३६१	फुटनोट		विद्वानुं	विहानुं
३६२	१	२	नवयौवन	नवयौवना
३६२	२	४	बल्लरियाँ	वल्लरियाँ
३६२	१	५	मृदु	मद
३६७	अंतिम	अंतिम	इनका	उनका
३६८	१	४	निम्न	नमकीन
३७१	१	११	लक्ष्य-पूर्ति	लक्षण-पूर्ति
३७२	१	१	परीधा	परीक्षा
२७६	५	१	मत	मन
३७९	पहला छन्द	अंतिम	वाद	बार
२८२	अंतिम	५	सतसई	शृङ्गारी सतसई
३८९	अंतिम	५	कलुषिता	कलुषितता
,,	अंतिम	—	प्रयोगों	प्रसंगों
३९३	२	१६	कविता का अध्ययन	घनानन्द की कविता का अध्ययन
३९४	१	७	रूढ़ि होती है	रूढ़ि की कोई अड़चन अर्थ ग्रहण में बाधक सिद्ध होती है।
३९५	१	१	बिहारी संघ	बिहारी
४०९	१	अंतिम	कवि	कवि केशव
४११	१	६	शैली	शैली में
४१३	३	५	जैसा कि 'हजारा' शतक	और नामकरण छन्दों की संख्या के आधार पर किया गया है जैसा कि 'हजारा' या 'शतक'
४१६	२	३	विषम	विषय

पृष्ठ	अनुच्छेद	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध रूप
४२१	१	९	डालते	डालते ही
३४६	कालिदास के श्लोक		(१) स्थितः ज्ञणं	(१) स्थिताः क्षणं
			(२) काशंशुका	(२) काशांशुका
३४५	अमुरु शतक के श्लोक		(१) असल वलितैः	(१) अलस वलितैः
			(२) एकस्मित श्यने	(२) एक स्मिन् शयने